॥ श्रीः ॥

कृष्णदास राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला ५

न्याय दर्शन में कारणता का सिद्धान्त

लेखिका

डॉ० शान्ति पाण्डेय

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

॥ श्रीः ॥

कृष्णदास राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

५

न्याय दर्शन में कारणता
का
सिद्धान्त

लेखिका

डॉ० शान्ति पाण्डेय

प्रवक्ता : संस्कृत काशी-विद्यापीठ वाराणसी

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

प्रकाशक

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८

के ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

© चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण सं० २०४४

सन् १९८८ ई०

मूल्य : रू०–५०·००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय

कचौड़ी गली

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

मुद्रक : मालती प्रेस, वाराणसी

KRISHNADAS RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

5

NYĀYA DARSHAN ME KĀRANATĀ KĀ *SIDDHĀNTA*

By :

Dr. SHANTI PANDEY

Lecturer (Sanskrit),

Kashi Vidyapith, Varanasi

CHAUKHAMBA AMARABHARATI PRAKASHAN

POST BOX No. 1138

VARANASI—221001 (India)

Publisrhers :

Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Post Box No. 1138
K. 37/130, Gopal Mandir Lane
Varanasi–221001 (India)

© Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Varanasi–221001

First Edition 1988
Price : Rs. 50.00

Also can be had from :

Chaukhamba Sanskrit Pustakalaya,
Kachauri Gali
Varanasi–221001 (India)

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में 'कारणवाद' की समस्या एक केन्द्रभूत समस्या है। कारणता सिद्धान्त के द्वारा प्रत्येक दर्शन के मूलभूत तत्त्वदर्शन को ज्ञात किया जा सकता है। अद्वैत-वेदान्त, सांख्य, न्याय, बौद्ध, जैन, सभी कारणवाद के माध्यम से अपनी मूलभूत मान्यता को स्पष्ट करते हैं। इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अन्य भारतीय दर्शन की तुलना में न्यायवैशेषिक ने कारणवाद की समस्या पर विशेष वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से विचार किया है। विशेषकर कारणवाद के सन्दर्भ में भारतीय दार्शनिकों का विवाद न्याय-वैशेषिक के साथ ही रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में न्याय-वैशेषिक के कारणवाद की समस्या पर तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

इस ग्रन्थ में किसी विशेष पक्ष का समर्थन नहीं किया गया है अपितु, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, आदि सभी सिद्धान्तों पर समीक्षात्मक दष्टि से विचार किया गया है। न्याय-वैशेषिक धर्म और धर्मी दोनों का सद्भाव मानते हैं तथा दोनों में भेद मानते हैं, इस सिद्धान्त के निर्वाह के लिए न्याय-वैशेषिक अन्य मान्यतायें स्वीकार करते हैं, इसका भी विशद्-विवेचन प्रस्तुत किया गया है। स्थान-स्थान पर पाश्चात्य दार्शनिकों के कारणवाद सम्बन्धी सिद्धान्तों से तुलना करते हुए, न्याय-वैशेषिक के कारणवाद के सिद्धान्त पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

न्याय-वैशेषिक के मतानुसार कारण-कार्य का स्वरूप, कारण, अन्यथासिद्ध, कार्य और कारण की परिभाषा, कारण के भेद तथा कारण बहुत्व का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण किया गया है। कारणता सिद्धान्त के प्रसङ्ग में कारणता-सम्बन्ध का विचार विशेष महत्त्वपूर्ण है। अतः, हमने भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के कारणता सम्बन्ध के सिद्धान्तों का भी समीक्षात्मक दृष्टि से उल्लेख किया है।

न्याय के आरम्भवाद को स्पष्ट करने के लिए सांख्य, अद्वैतवेदान्त, बौद्ध, माध्यमिक, जैन तथा चार्वाक के कारणवाद पर संक्षेप में विचार किया गया है। न्याय-वैशेषिक अपने तत्त्वदर्शन में कारणता का प्रयोग किस प्रकार करते हैं इस विषय पर भी विशेष रूप से विचार किया गया है। भौतिक जगत में कारण और कार्य पर विचार करने के साथ-साथ स्वयं जगत के कारणता के विषय में न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्बा अमरभारती के प्रकाशक महोदय को हार्दिक धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मेरे इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। साथ ही मालती प्रेस,

मलदहिया के प्रवन्धक को भी धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित करने में मेरा सहयोग किया ।

मैं विशेषरूप से अपने स्व० गुरु डा० राजाराम द्रविड, रीडर, दर्शन विभाग, उच्चानुशीलन दर्शन केन्द्र, वाराणसी, के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन देकर तथा अन्य उपयोगी परामर्श तथा सुझाव देकर मेरे ग्रन्थ को पूरा करने में सहायता दी है।

—शान्ति पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय—

विषय प्रवेश ३

द्वितीय अध्याय—

परिभाषायें :

कारण की परिभाषा ७
अन्यथा सिद्ध की परिभाषा २१
कार्य की परिभाषा ३१
करण की परिभाषा ३५
निष्कर्ष ४०

तृतीय अध्याय—

कारण के भेद :

समवायिकारण ४२
असमवायिकारण ४६
निमित्त कारण ५४
कारण-बहुत्व ६५

चतुर्थ अध्याय—

कारणता सम्बन्ध : ७५

समवाय सम्बन्ध ८७
पाश्चात्य दर्शन में कारणता सम्बन्ध ९४
निष्कर्ष ९७

पंचम अध्याय—

अवयव-अवयवी विचार :

बौद्ध और न्याय का अवयव-अवयवी सम्बन्धी विचार ९९
सांख्य और न्याय का अवयव-अवयवी सम्बन्धी विचार ११२
निष्कर्ष ११८

षष्ठ अध्याय—

अन्य भारतीय दर्शन में कारणवाद :

आरम्भवाद	....	१२१
सत्कार्यवाद	....	१२४
अद्वैत वेदान्त में कारण	....	१३३
बौद्ध दर्शन में कारण	....	१३७
माध्यमिक का शून्यवाद	....	१५०
जैन दर्शन	....	१५७
चार्वाक दर्शन	....	१६३
निष्कर्ष	....	१७०

सप्तम अध्याय—

कारणता का तत्त्व दर्शन में प्रयोग :		१७१
समवायिकारण-परमाणु	....	१७२
असमवायिकारण परमाणु-द्वय संयोग	....	१७४
निमित्त कारण-ईश्वर	....	१७९
न्याय वैशेषिक द्वारा अभिमत पदार्थों की कारणता के आधार पर सिद्धि	....	१९७

अष्टम अध्याय—

उपसंहार	....	२०२

न्याय दर्शन में कारणता का सिद्धान्त

तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

जिज्ञासा मानव की सहज प्रवृत्ति है, वह वस्तुओं के मूल स्वरूप को जानने के लिए सतत जिज्ञासु रहता है। वह वस्तुओं को उनके बाह्य रूप में स्वीकार कर उनके विषय में क्यों और कैसे का प्रश्न करता है। वह इस संसरणशील जगत् में हो रहे परिवर्तन को देखता है। वह शिशु को युवा और युवा को वृद्ध होते हुए देखता है। वह ऋतुओं में हो रहे परिवर्तनों का अवलोकन करता है। वह कभी भयंकर ताप से प्रतारित होता है तो कभी भयंकर शीत से। वह सूर्यास्त और सूर्योदय होते देखता है। बीज को अंकुर में और पुनः अंकुर को बीज में बदलते हुए वह देखता है। नित नूतन हो रहे परिवर्तनों को देखकर उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति जागरूक हो उठती है और वह अपने मन में यह प्रश्न करना प्रारम्भ कर देता है कि आखिर यह परिवर्तन होता क्यों है? वह कौन सा नियम है जिससे वस्तुओं में परिवर्तन तथा उनका विनाश होता है।

मानव को यह सहज जिज्ञासु प्रवृत्ति क्यों और कैसे का प्रश्न ही नहीं करती अपितु, उसका विभिन्न उत्तर देने का भी प्रयास करती है। आदिम काल में मानव ने इन प्रश्नों का रूढ़िवादी एवं रहस्यवादी उत्तर दिया। वह इस सन्दर्भ में देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि आधिदैविक और आधिभौतिक शक्तियों का प्रश्रय लेता रहा।

ज्ञान एवं विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ उसके इन समाधानों का विकास होता गया। उसने बार-बार यह देखा कि तिल से ही तेल उत्पन्न होता है, तिल के अभाव में तेल नहीं उत्पन्न होता अतः, धीरे-धीरे उसे इन दो घटनाओं के बीच होने वाले पौर्वापर्य क्रम का बोध होने लगा। इस प्रकार, अपने अनुभव के आधार पर वह क्यों और कैसे का नियमित उत्तर देने लगता है। मानव की यह सहज जिज्ञासा और उनके समाधान के प्रयत्न ही कारणता सिद्धान्त को जन्म देते हैं।

मानव की जिज्ञासु प्रवृत्ति यहीं तक सीमित नहीं रहती, वह जगत् के वस्तुओं के कार्य-कारण भाव पर विचार करते-करते स्वयं जगत् की कारणता पर विचार करने लगता है। वह इस विविध, विचित्र तथा नानात्मक जगत् को देखता है कि कुछ मनुष्य इस संसार में अत्यन्त दुःखी है, तो कुछ अत्यन्त सुखी। वह इस व्यापक व्यवस्थित नियम से बद्ध जगत् का स्वरूप ज्ञात करने के लिए स्वभावतः जिज्ञासु हो उठता है—इस जगत् का कारण क्या है? यदि यह जगत् कारण से उत्पन्न हुआ है तो उस कारण का स्वरूप क्या है? क्या यह समस्त जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ है, आदि प्रश्नों का समाधान ढूंढने का वह प्रयत्न करता है।

मानव की कारणता सम्बन्धी ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय जिज्ञासा ही भारतीय एवं पाश्चात्त्य दार्शनिकों के कारणता सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों को जन्म देती है। यहाँ क्यों और कैसे इन दोनों प्रश्नों का तात्पर्य समझ लेना चाहिए। जब व्यक्ति वस्तु की उत्पत्ति का प्रयोजन जानना चाहता है तब वह उसके विषय में क्यों का प्रश्न करता है। परन्तु जब वह वस्तुविशेष के कारण या स्वरूप को ज्ञात करना चाहता है तब कैसे का प्रश्न करता है। 'क्यों' यह प्रश्न दार्शनिकों के विवाद का विषय नहीं बना। सभी भारतीय दर्शन ने अदृष्ट को सृष्टि का प्रयोज्य माना। सभी ने यह स्वीकार किया कि मनुष्यकृत धर्माधर्म के फलोपभोगार्थ सृष्टि होती है। इस प्रकार, क्यों का प्रश्न कर्मवाद से सम्बद्ध है जिसके विषय में दार्शनिकों में कोई मतभेद नहीं है। 'कैसे' इस प्रश्न का उत्तर भारतीय दर्शन में बड़े विवाद का विषय रहा है। यह सृष्टि कैसे हुई ? इसका स्वरूप क्या है ? तथा इसका मूल कारण क्या है ? आदि प्रश्न बड़े विवाद के विषय रहे हैं।

उपर्युक्त कारण सम्बन्धी जिज्ञासा और उसके समाधान के प्रयास से यह ज्ञात होता है कि समस्त संसार कारण और कार्य की शृंखला में बँधा हुआ है तथा कारण-कार्य पर विचार करना आवश्यक है। परन्तु स्वयं कारण क्या है, कैसे हम जानते हैं कि एक वस्तु विशेष कारण है तथा दूसरी वस्तु विशेष कार्य है। 'कार्यतेऽनेन इति कारणम्' जो कराता है वह कारण है अर्थात् उत्पन्न करने वाले को कारण तथा उत्पन्न होने वाले को कार्य कहते हैं। साधारणतया किसी प्रकार के परिवर्तन या गति के लिए उत्तरदायी वस्तु को कारण कहा जा सकता है। कारण से तात्पर्य उस वस्तु घटना या क्रिया से है जिसके द्वारा कोई वस्तु घटना या क्रिया अस्तित्व में आती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कारणता में कार्योत्पादकत्व अर्थात् कार्य की उत्पत्ति का विचार निहित है। कार्य की उत्पत्ति में कारण का क्रियाशील होना आवश्यक है। इसीको 'अर्थक्रियाकारित्व' या 'क्रिया का सिद्धान्त' भी कहते है। घट को उत्पन्न करने वाली मृत्तिका कारण तथा मृत्तिका से उत्पन्न होने वाला घट कार्य है।

कारणता में क्रिया के साथ-साथ क्रम का विचार भी निहित है। मृत्तिका पूर्ववर्ती है तथा घट पश्चात्वर्ती। इस प्रकार, कारण और कार्य में नियत क्रिया, समय और क्रम का सम्बन्ध क्रम है। कारणता में समय का विचार भी आवश्यक है। एक निश्चित समय में ही कुम्भकार मृत्तिका से घट की उत्पत्ति करता है।

क्रिया, क्रम और समय के अतिरिक्त कारणता में सम्बन्ध का विचार भी अन्तर्निहित है। हम बार-बार मृत्तिका से घट उत्पन्न होते हुए देखते हैं तो हम दोनों के बीच एक सम्बन्ध की कल्पना कर लेते है तथा एक की उपस्थिति में दूसरे के उपस्थिति की अपेक्षा करते हैं।

संक्षेप में, कारण और कार्य का यही स्वरूप है परन्तु दार्शनिकों ने अपने तत्त्वदर्शन को दृष्टि में रखकर कारणवाद की समस्या पर विभिन्न दृष्टि से विचार किया।

कारणवाद का सिद्धान्त दार्शनिकों के तत्वदर्शन को स्पष्ट करने के लिए एक माध्यम का कार्य करता है।

भारतीय दर्शन में कारणवाद के संदर्भ में तीन प्रश्नों पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। प्रथमः—कारण और कार्य का स्वरूप। द्वितीयः—कारण और कार्य का सम्बन्ध। तृतीयः—उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य सत् हैं या असत् ?

न्याय, सांख्य, अद्वैत वेदान्त, बौद्ध और जैन सभी दर्शन अपने तत्व दर्शन को दृष्टि में रखकर कारणता पर विचार करते हैं। अतः, इस प्रसंग में इनका मूलभूत तत्वदर्शन जान लेना भी आवश्यक हो जाता है। न्याय और सांख्य के अनुसार धर्म और धर्मी दोनों की सत्ता है। दोनों में अन्तर यह है कि न्याय के अनुसार धर्म और धर्मी दोनों भिन्न:भिन्न हैं, किन्तु सांख्य के अनुसार धर्म और धर्मी अभिन्न है। जैन के अनुसार धर्म और धर्मी दोनों सत् है परन्तु दोनों में कथचित् भेद तथा कथंचित् अभेद् है। अद्वैत वेदान्त और बौद्ध धर्मी और धर्म में से एक को सत् मानते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अपरिवर्तनशील धर्मी ही सत् है, परिवर्तनशोल धर्म मिथ्या भ्रम मात्र है। यहाँ धर्मी का तात्पर्य अधिष्ठान ब्रह्म से है, अन्यथा धर्मी की धर्म के बिना सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। बौद्ध के अनुसार, परिवर्तनशील धर्म ही सत् हैं धर्मी की कोई सत्ता नहीं है। यहाँ धर्म का तात्पर्य 'स्वलक्षण' विच्छिन्न क्षणों से है, अन्यथा धर्म की धर्मी के बिना सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन के पाँच प्रमुख सिद्धान्त प्रकाश में आते हैं :—

१—धर्म-धमी सद्भाव तथा दोनों में भेद मानने वाला दर्शन (न्यायवैशेषिक)।

२—धर्म-धर्मी सद्भाव तथा दोनों में अभेद मानने वाला दर्शन (सांख्य योग)।

३—धर्म-धर्मी दोनों का सत् तथा दोनों में कथंचिद् भेद और कथंचित् अमेद मानने वाला दर्शन (जैन)।

४—धर्मी मात्र का सद्भाव मानने वाला दर्शन (अद्वैत वेदान्त)।

५—धर्म मात्र का सद्भाव मानने वाला दर्शन (क्षणभंगवादी बौद्ध)।

तत्वदर्शन के भेद से भारतीय दर्शन में कारण और कार्य के स्वरूप के विषय में भी मतवैभिन्य देखने को मिलता है। भेदवादी दर्शन न्याय के अनुसार तन्तुओं से नवीन पट की उत्पत्ति होती है तथा तन्तु और पट में भेद है। अभेद को प्रमुख मानने वाले सांख्ये के अनुसार पट तन्तु का सत् परिणाम है, परन्तु तन्तु और पट दोनों में अभेद है। जैन के अनुसार द्रव्य की दृष्टि से तन्तु और पट में अभेद है परन्तु पर्याय की दृष्टि से दोनों में अभेद है। धर्मीमात्र सद्भाव का सिद्धान्त मानने वाले अद्वैत वेदान्त के अनुसार तन्तु ही सत् है पट मिथ्या भ्रम मात्र। धर्म मात्र का सद्भाव मानने वाले बौद्ध के अनुसार आकार, प्रकार के अतिरिक्त पट की कोई सत्ता नहीं है।

भारतीय दर्शन में कारण और कार्य के स्वरूप के साथ कारण कार्य संबंध पर भी विशेण रूप से विचार किया गया है। नैयायिक कारण और कार्य में भेद मानकर दोनों के बीच समवाय संबंध मानते है। सांख्य कारण और कार्य में नितान्त अभेद मानने के कारण दोनों के बीच तादात्म्य संबंध मानते हैं। जैन कारण और कार्य के बीच भेदाभेद संबंध मानते हैं। कारण और कार्य का यह स्वरूप है कि दौनों एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। अद्वैत वेदान्त विवर्तवाद तक पहुँचने के लिए कारण और कार्य में अभेद मानता है अतः, दोनों के बीच तादात्म्य स्वीकार करते हैं। परन्तु शंकर कारण और कार्य की अभिन्नता पर इतना अधिक बल देते हैं कि परमार्थ में कार्य के अस्तित्व को ही समाप्त कर देते हैं। बौद्ध दार्शनिक स्वलक्षण को ही सत् मानते हैं अतः, प्रथम क्षण के कारण और द्वितीय क्षण के कार्य में नियत पौर्वापर्य क्रम का संबंध मानते हैं।

कारण और कार्य के स्वरूप तथा उनके संबंध के अतिरिक्त एक अन्य समस्या भारतीय दार्शनिको का ध्यान आकर्षित करती है—उत्पत्ति के पूर्व कार्य की कारण में सत्ता है या नहीं? न्याय का भेदवादो धर्म-धर्मी सद्भाव का सिद्धान्त कारण-वाद में आरम्भवाद का रूप धारण करता है। (न्याय के अनुसार तन्तु में पट पहले से नहीं रहता उसकी नवीन उत्पत्ति होती।) सांख्य का अभेदवादी सिद्धान्त कारणवाद में सत्कार्य वाद का रूप धारण करता है (उसके अनुसार उत्पत्ति के पूर्व कार्य अपने कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान रहता है। पट तन्तुओं की आविर्भवास्था है) जैन दार्शनिक सदसद्कार्यवाद मानते हैं (द्रव्य की दृष्टि से पट तन्तुओं में रहता है उसकी नवीन उत्पत्ति नहीं होती परन्तु पर्याय की दृष्टि से पट तन्तुओं में नहीं रहता उसकी नवीन उत्पत्ति होती) अद्वैत वेदान्त का धर्मीमात्र सद्भाव का सिद्धान्त कारणवाद में विवर्तवाद का रूप लेता है व्यवहार में शंकर भी सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं। परन्तु परमार्थ में शंकर सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं तथा कार्य को कारण का विवर्तमात्र मानते हैं। क्षणभंगवादी बौद्ध का सिद्धान्त कारणवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का रूप लेता है। इसके होने पर ऐसा होता है, कारण के होने पर कार्य होता ह।

भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता यह है कि यहां कारणता पर जितना अधिक ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से विचार किया गया है उतना ही अधिक तत्व मीमांसा की दृष्टि से भी विचार किया गया है। सबकी यह जिज्ञासा है कि इस व्यापक एवं व्यवस्थित जगत् का कारण क्या है? यह प्रश्न जितना सहज है इसका उत्तर उतना ही दुरूह। सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से इस सहज जिज्ञासा की तुष्टि का प्रयास करते हैं। न्याय का असत्कार्यवाद हमको जगत् के कारण परमाणुवाद और ईश्वरवाद की ओर, सांख्य का सत्कार्यवाद प्रकृतिवाद की ओर, अद्वैत वेदान्त का विवर्तवाद ब्रह्मवाद की ओर, बौद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद क्षण भंगवाद की ओर ले जाता है।

द्वितीय अध्याय

परिभाषायें

कारण की परिभाषा

जहाँ तक हमारा विचार है न्याय-वैशेषिक के प्रारंभिक ग्रन्थों में कहीं भी कारण की परिभाषा नहीं की गई है। न्याय के प्राचीन ग्रन्थ न्याय सूत्र, भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य टीका तथा परिशुद्धि में अवयवी वाद, बौद्ध सम्मत अभाववाद का खण्डन, परमाणु की उपादान कारणता, ईश्वर की निमित्त कारणता, चार्वाक सम्मत आकस्मिकवाद का खण्डन आदि समस्याओं पर विचार किया गया। इसी प्रकार, वैशेषिक के प्रारंभिक ग्रन्थ वैशेषिक सूत्र, प्रशस्तपाद और कन्दली में अन्य दर्शनों में सम्मत कारणवाद का खण्डन, समवाय संबंध, अवयव-अवयवी, कारण के भेद, परमाणु, ईश्वर, सृष्टि, संहार आदि पर विचार किया गया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में आरम्भवाद की स्थापना तथा उसकी स्थापना के लिए अन्य दर्शनों में सम्मत कारणवाद के सिद्धान्त का खण्डन, कारण-कार्य संबंध, तथा कारणता का तत्व दर्शन में प्रयोग आदि समस्यायें ही प्रमुख थीं। कारण की परिभाषा करना आवश्यक नहीं समझा गया। बाद में तर्क संग्रह, तर्क कौमुदी, सप्तपदार्थी, भाषापरिच्छेद, तर्कभाषा आदि ग्रन्थों में कारण की परिभाषा की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय दर्शन जब प्रमेय शास्त्र न रहकर प्रमाण शास्त्र हो गया तो कारण-कार्य आदि के परिभाषा की आवश्यकता पड़ी। कारण की परिभाषा का प्रसंग प्रमाण के प्रकरण में ही आता है। केशव मिश्र प्रमाण की परिभाषा करते हैं 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'।[1] परिभाषा की पदकृत्य व्याख्या करते समय करण की परिभाषा करते हैं 'साधकतमं करणम्'। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः'।[2] अर्थात् कारणों में जो सबसे प्रमुख है वह करण है। इस प्रकार प्रमाण को समझने के लिए करण को समझना और करण को समझने के लिए कारण को समझना आवश्यक हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कारण की परिभाषा उस काल में की गई जब प्रमेय शास्त्र की अपेक्षा प्रमाण शास्त्र को अधिक महत्व दिया जाने लगा। कारण की परिभाषा करने से पहले इसका अर्थ समझ लेना आवश्यक हो जाता है। जिससे कुछ किया जाय या जिससे कार्य की उत्पत्ति हो वह कारण है। शिवादित्य ने कारण की यही परिभाषा की है।

---

१. तर्क भाषा   २. तर्क भाषा

कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखने वाला कारण होता है।[1]

आचार्यों ने कारण को परिभाषित करते हुए उसे नियतपूर्ववर्ती तथा अनन्यथा-सिद्ध बताया है।[2] अब परिभाषाकी पदकृत्य व्याख्या कर परिभाषा में निहित प्रत्येक पद की सार्थकता देखी जाएगी। प्रत्येक पद को हटाकर उसकी अनुपस्थिति में होने वाली हानि के देखने की पदकृत्य कहते हैं।

पूर्ववर्ती पद की सार्थकता

पूर्ववती यह पद कार्य में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है। कारण पूर्ववर्ती है कार्य पश्चात्वर्ती इसका अर्थ होता है कि कारण कार्य की उत्पत्ति के बाद नहीं रहता क्योंकि उस समय उसकी पूर्ववर्तिता समाप्त हो जाती है। न्याय ने दूसरी तरफ यह भी स्वीकार किया है कि कारण कार्य की उत्पत्ति के बाद कार्य के साथ-साथ रहता है। इन दो विरोधी बातों की एक साथ कैसे संगति हो सकती है? इसके उत्तर में नैयायिक यही कह सकते हैं कि कारण पूर्ववर्ती है इसका यह तात्पर्य नहीं कि कारण केवल पूर्व में ही रहता है, वह उत्पत्ति के बाद भी रह सकता है। कारण का पूर्ववृतित्व कार्य की उत्पत्ति के पूर्व ही आवश्यक है। अतः कार्य की उत्पत्ति के समय या उत्पत्ति के बाद करण का पूर्ववृत्तित्व न होने पर भी कार्य के साथ उसकी उपस्थिति यानी जा सकती है।

कारण पूर्ववर्ती होता है इसका यह अर्थ नही समझना चाहिए कि 'जो पूर्ववर्ती है वह कारण है'। ऐसा मान लेने पर घट की उत्पत्ति के पूर्व उपस्थित संसार की सभी वस्तुओं को कारण मानना पड़ेगा।

पूर्ववर्ती से यहां अव्यवहितपूर्ववर्ती तात्पर्य समझना चाहिए अर्थात् जिसकी उपस्थिति से कार्य की तत्काल उत्पत्ति हो वह कार्य का पूर्ववर्ती कारण है। कारण और कार्य के बीच में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होना चाविए। यही कारण है कि याग से स्वर्ग की उत्पत्ति के लिए अपूर्व की कल्पना करनी पड़ती है। याग से स्वर्ग रूप फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि बीच में व्यवधान पड़ जाता है। यज्ञ करने के तत्काल बाद मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होवी। अनेक युगों के व्यवधान के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अपूर्व की कल्पना करने से याग और स्वर्ग के बीच का यह व्यवधान दूर हो जाता है। अपूर्व यज्ञ का अव्य-

---

१. कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्। (सप्तपदार्थी श्लो० २७९)

२. (क) अन्यथा सिद्धिशून्यस्य नियतापूर्ववर्तिता। (भाषा परिच्छेद श्लो० १७)

(ख) तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। (तर्क भा०)

(ग) कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्। (तर्क सं०)

(घ) न्या० प्र० श्लो० १५ (ङ) तर्क कौ०

(च) तर्कामृत (छ) न्या० कु० १।१९

वहित पूर्ववर्ती है अतः, वह कारण बनता है।[1] पूर्ववर्ती का अर्थ अव्यवहित पूर्नवर्ती करने से चिरध्वस्त बोज में भी कारण को अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। चिरध्वस्त बीज अंकुर का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह अंकुर का नियतपूर्ववर्ती नहीं है। इसके विपरीत तत्काल बोया हुआ बीज अंकुर का अव्यवहित पूर्ववर्ती है अतः, वह अंकुर का कारण है।

'नियत' पद की सार्थकता

'नियत' पद को हटाकर हम कारण की परिभाषा यह नहीं कर सकते कि 'अन्यथासिद्धशून्यपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्' ऐसा मानने से परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। घट के लिए मिट्टी ढोकर लाने वाला रासभ भी घट के पूर्व रहता है अतः, उसमें भी कारण की अतिव्याप्ति हो जाती है। परन्तु हम उसे कारण नहीं कह सकते क्योंकि वह नियतरूप से धट के पूर्व नहीं रहता। यह कोई आवश्यक नहीं कि जब-जब घट की उत्पत्ति हो तब-तब रासभ वहां उपस्थित रहे। अन्य घट के निर्माण के लिए मनुष्य के हांथ से या अन्य किसी साधन से मिट्टी लाई जा सकती है।[2]

नीलकण्ठी तथा निरुक्ति में 'नियत' पद का अर्थ 'व्यापकत्वम्' किया गया है।[3] जहां-जहां कारण है वहां-वहां कार्य होता है। कार्य के प्रति नियत पूर्ववर्ती

१. पूर्ववर्त्तित्वं चाव्यवहितपूर्ववर्तित्वं, तेन व्यवहितपूर्ववर्तित्वव्युदासः।
अतएव यागादेः स्वर्गकारणत्वानुपपत्त्याऽपूर्वसम्बन्धेनाऽव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वोपपादनं ग्रन्थकृता सङ्गच्छते, अन्यथा यागस्याऽपि नियतपूर्ववृत्तित्वाबाधेनाऽपूर्वकल्पनं नस्यादिति। (दिनकरी)

२. (क) नियतत्वविशेषणानुपादाने पूर्ववर्तिनो रासभादेरपि कारणत्वं स्यादतो नियतत्वे सतीति विशेशणम्। (न्या० बो०)
(ख) रासभादिवारणाय विशेष्यदलम् (वाक्य वृ०)
(ग) पूर्ववृत्ति कारणमित्युक्ते रासभादावतिव्याप्तिः स्यादतो नियतेति।
(तत्व दी०)
(नोट : यदि यहाँ रासभ का अर्थ मिट्टी ढोने के साधन सामान्य करते हैं तो रासभ को नियत पूर्ववर्ती ही मानना होगा। मिट्टी ढोने का कोई न कोई साधन घत की उत्पत्ति के पूर्व नियत रूप से होता ही है।)

३. नियतत्वं हि व्यापकत्वं। तच्च रासभादेर्न संभवतीति तत्र न घटकारणत्वाप्रसक्तिरितिभावः। (नील०)
कार्योत्पत्तिं प्रति नियते व्यापकं सत् यत्पूर्ववृत्ति तत्कारणमित्यर्थः।
यत्र यत्र घटोत्पत्तिः तत्र तत्र दण्ड इति व्याप्तौ दण्डस्य व्यापकत्वात्॥
(निरुक्ति)

कारण को उसका व्यापक कहते हैं। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो कारण और कार्य के बीच अन्वयव्यतिरेकित्व व्याप्ति एकतरफा है। कारण के रहने पर कार्य रहता है और कारण के अभाव में कार्य नहीं रहता। परन्तु ऐसा हम नहीं कह सकते कि कार्य की उपस्थिति में कारण रहता हैं और कार्य के अभाव में कारण नहीं रहता है। पट के अभाव में तन्तु और घट के अभाव में मृत्तिका रहते ही हैं।

नियतपूर्ववृत्ति से यहां तात्पर्य 'नियतपूर्ववृत्तिजातीयत्व' लेना चाहिए अन्यथा अरण्यस्थ दण्ड में अतिव्याप्ति होगी, अरण्यस्थ दण्ड यद्यपि नियतपूर्ववर्ती नहीं है, उसमें कारणजातीयत्व, कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता है, इसलिए उसे कारण कहते है। यहां जातीयत्व का अर्थ अवच्लेदक लेना चाहिए। दण्डत्व दण्ड की कारणता का अवच्छेदक है, अतः वह दण्ड की जाति है।

'अनन्यथा सिद्ध' पद की सार्थकता

केवल नियतपूर्ववृत्ति कह देने से कारण की परिभाषा नहीं बन जाती। कारण को नियतपूर्ववर्ती होने के साथ-साथ अनन्यथा सिद्ध भी होना चाहिए अर्थात् कार्य के साथ कारण का साक्षात् सम्बन्ध होना चाहिए। जैसे, तन्तुरूप पट का नियतपूर्ववर्ती है परन्तु उसे हम कारण नहीं कह सकते क्योंकि तन्तु का पट के साथ अनन्यथा सिद्ध संबंध नहीं है। तन्तुरूप तन्तु से संबंधित होने के कारण पट से संबंधित है, पट से उसका साक्षात् संबंध नहीं है। तन्तुरूप का कारण सामर्थ्य पटरूप के निर्माण में ही समाप्त हो जाता है। अतः, वह पट की उत्पत्ति नहीं कर सकता। 'अनन्यथा सिद्ध' पद की सार्थकता का विचार अन्यथासिद्ध के प्रकरण में विस्तार से किया जाएगा।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि कारण के लिए तीन बातें आवश्यक हैं।

१—पूर्ववर्तित्व।　　२—नियतत्व।　　३—अनन्यथासिद्धत्व।

कारण की इस परिभाषा का विस्तार से विश्लेषण वाक्य वृत्ति में किया गया है। उसके अनुसार कारण सामर्थ्य के लिए चार बातें आवश्यक हैं।[1]

१—कारण को नियत एवं अन्यथासिद्ध भिन्न होना चाहिए।

२—कारण को कार्य के अव्यवहितपूर्व क्षण से अवच्छिन्न रहना चाहिए।

३—उसे कार्याधिकरण देश में उपस्थित रहना चाहिए।

---

१. नियतपूर्ववृत्तित्वं च कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नकार्याधिकरणदेशनिरूपिताधेयतावदभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्वम्। (वाक्य वृ०)

४—कारण को अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक धर्म वाला होना चाहिए अर्थात् भाव का अवच्छेदक या भावरूप होना चाहिए।

नीलकण्ठी में भी कारण की परिभाषा का यही समुदायार्थ बतलाया गया है।[१]

उदयन के अनुसार कारण की परिभाषा

उदयन ने कारण की दो परिभाषा की हैं।[२] पहली परिभाषा है 'पूर्वकाल-नियतजातीयत्व'। कारण को नियतपूर्ववर्ती होना चाहिए। इस परिभाषा में जातीयता पर अधिक बल दिया गया है क्योंकि दण्ड दण्डत्वेन ही घट के प्रति कारण है। जातीयत्व कहने से अरण्यस्थ दण्ड में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

उदयन ने कारण की दूसरी परिभाषा की है 'सहकारिवैकल्पप्रयुक्तकार्याभाव-वत्त्व'। विकल सहकारियों के रहने पर कार्य नहीं होता, अर्थात् संपूर्ण कारण सामग्री के रहने पर कार्य होता है। उदयन ने इस परिभाषा में सहकारिसामग्री पर अधिक बल दिया है। यह सर्वज्ञात है कि केवल मृतका से ही घट की उत्पत्ति करना चाहे तो नहीं हो सकती। घट की उत्पत्ति के लिए कुलाल, दण्ड, चक्र आदि सभी सहकारि-सामग्री की आवश्यकता होती हैं।

मीमांसकों द्वारा की गई कारण की परिभाषा

मीमांसकों ने कारण की परिभाषा इस प्रकार की है: 'अन्वयव्यतिरेकित्वं कारणत्वम्'।[३] अन्वय का अर्थ होता है 'तत्सत्तै तप्सत्ता' तथा व्यतिरेक का अर्थ होता है 'तदभावे तदभावः के कारण के रहने पर कार्य होता है। यह अन्वयव्याप्ति हैं। 'कारण के न रहने पर कार्य नहीं रहता' यह व्यरिरेक व्याप्ति हैं। जिसका कार्य के प्रति अन्वय व्यतिरेकित्व है, उसे उस कार्य का कारण कहते हैं।

रघुनाथ शिरोमणि ने कारणत्व के प्रत्यक्ष के प्रसंग में अन्वय-व्यतिरेकित्व का कथन किया है। उनके अनुसार कारण का प्रत्यक्ष अन्वय-व्यतिरेकित्व के आधार पर ही होता है।[४]

उदयन ने न्यायकुसुमांजलि में कारण-बहुत्व के खण्डन के प्रसंग में कारण के अन्वय-व्यतिरेकित्व का कथन किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उदयन

---

१. नील०

२. कोऽसौतर्हि ? कारणत्वं। कि तत् ? पूर्वकालनियतजातीयत्वं, सहकारिवैकल्यप्रयुक्त कार्याभाववत्त्वं वेति। (न्या० कु०)

३. ....कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणमिति........।

४. ग्राहकं च तस्य क्वचिदन्वयव्यतिरेकदर्शनसहकृतं प्रत्यक्षम् क्वचिदनुमान क्वाचिदा–गमादिकम्। (पदार्थ तत्त्व निरू०)

को यह परिभाग मान्य है। वस्तुतः, उस प्रसंग में अन्वय–व्यतिरेकित्व का कथन मीमांसकों की दृष्टि से किया गया है।

केशव मिश्र ने मीमांसकों द्वारा की गई परिभाषा का खण्डन किया है।[1] कारण के होने पर कार्य होता है, तन्तु के होने पर पट होता है 'यह अन्वयव्याप्ति बन जाती है, परन्तु व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन पाती। कार्य के प्रति साधारण-कारण भूत आकाश, दिक् आदि नित्य और विभु पदार्थो का कभी भी अभाव नहीं होता। अतः, ऐसा हम नहीं कह सकते कि कारण के न होने पर कार्य नहीं होता। 'आकाश सत्त्वे पट सत्ता' यह अन्वय बन जाता है, परन्तु 'आकाशाभाव पटाभावः' यह व्यतिरेक नहीं बनता। नित्य होने से आकाश का किसी भी काल में तथा विभु होने से किसी भी देश में अभाच नहीं होता। इसी प्रकार, कालसत्त्वे पटसत्ता 'यह अन्वय बन जाता है परन्तु, कालाभावे पटाभावः' यह व्यतिरेक नहीं बनता। अतः, मीमांसको के इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

कारण की परिभाषा करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता हैं कि हमारी सामान्य विचारधारा में और नैयायिकों के कारण की परिभाषा में अन्तर है। यदि साधारण व्यक्ति से कारण का अर्थ पूछा जाय तो वह तुरन्त यही उत्तर देगा कि 'वस्तु कों उत्पन्न करने वाले को कारण कहते हैं।' कारण की यह सामान्य धारणा अनुभव पर आधारित है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारण की इस सामान्य धारणा को आधार मानकर ही शिवादित्य ने कारण की परिभाषा की है : कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्'।

कारण की परिभाषा का खण्डन और उसका समाधान

श्रीहर्ष तथा चित्सुखी के अनुसार कारण को परिभाषा करना व्यर्थ है क्योंकि कारण की निर्दुष्ट परिभाषा नहीं की जा सकती।

नैयायिकों ने कारण और कार्य में पौर्वापर्य भाव माना है। शान्तरक्षित, श्रीहर्ष तथा चित्सुखी सभी ने नैयायिकों के इस मत का खण्डन किया है।[2] उनके अनुसार एक नित्य और विभु काल में पूर्व और अपर का भेद नहीं किया जा सकता। पूर्वापर भेद सदैव अनित्य और अनेक पदार्थों में किया जाता है उपाधि भेद से भेद नहीं मानना चाहिए। ऐसा हम नहीं कह सकते कि अतीत उपाधि से अवच्छिन्न काल में पूर्ववत्व है। उपाधि भेद से काल भेद मानने पर पौर्वापर्य

---

१. नित्यविभूनां व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासम्भवेनाकारणत्वप्रसंगात्। (तर्क भा०)

२. (क) कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधितोऽन्योन्यसंश्रयात्।
स्वोत्मवृतैरतुक्तत्वान्नियतत्वानिमूक्तितः ॥ (तत्त्व प्रदीप श्लो० ५३)
(ख) तत्व से—भाग १ श्लो० ६२९।

व्यवस्था नहीं बन पाती। उपाधिभेद कालभेद पर आधारित है और कालभेद उपाधि भेद पर। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है।[1] उपाधि भेद का आधार काल भेद न मानकर अन्य उपाधि भेद मानने पर उस उपाधि के आधार भूत अन्य उपाधि की कल्पना करनी पड़ेगी इस प्रकार, अनवस्था होगी।[2] साथ ही उपाधि भेद मान लेने पर कालभेद निरर्थक हो जाएगा। उपाधि भेद से अतीतादि व्यवहार स्वयं सम्पन्न हो जाता है अतः, उस अवस्था में कालभेद की कोई आवश्यकता नहीं होगी।[3] वाचस्पति मिश्र ने भी इस मत का समर्थन किया है।[4] काल में प्राक्काल की वृति मान ने पर आत्माश्रय होगा क्योंकि काल में काल नहीं रह सकता।

दैनिक जीवन में प्रायः यही देखने में आता है कि कारण और कार्य साथ साथ रहते हैं। कारण के साथ कार्य उत्पन्न होता है। सूर्य के उदित होते ही प्रकाश होता है, इसमें किसी प्रकार का पौर्वापर्य भाव नहीं होता। इसी प्रकार हम देखते हैं कि तन्तु संयोग होते ही पट उत्पन्न हो जाता है। पट को उत्पन्न करने में ही तन्तु की कारणता है। पूर्व उपस्थित तन्तु पट की उत्पत्ति नहीं करता। अतः, हम उसे कारण नहीं कह सकते। ब्रैडले के अनुसार कारण और कार्य वस्तुतः समय के अन्दर हो रही परिवर्तन सम्बन्धी निरन्तर प्रक्रिया की पुर्नरचना है। पृथक् अवस्थाओं का परस्पर मिलना और प्रक्रिया का आरम्भ, इनसे बीच कहीं कोई विराम या अन्तरावकाश नहीं है। कारण और कार्य में काल को लेकर भेद नहीं किया जाता। उनमें काल संबंधी भेद केवल कल्पनात्मक है, क्योंकि कारण सेकैण्ड के एक अंश मात्र भी रहा तो अन्त तक रह सकता है।[5]

शंकर ने कारण के पूर्ववर्तित्व पर आक्षेप करते हुए तर्क दिया है कि कारण और कार्य का भेद बतलाकर उसको पुनः अयुतसिद्ध बतलाना यह दोनों विरोधी बातें मालूम पड़ती हैं। जब कारण और कार्य में भेद है, एक पूर्ववर्ती है और दूसरा पश्चात्वर्ती तब दोनों अयुतसिद्ध कैसे हो सकते हैं ?[6]

कुछ दार्शनिकों ने पौर्वापर्य की आलोचना करते हुए लिखा है कि पौर्वापर्य ये

---

१. न चौपाधिकं कालस्य पौर्वापर्यम्; इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्। (तत्त्व प्र०)

२. युगपदनन्तोपाध्यवस्थानप्रसङ्गात्। (तत्त्व प्र०)

३. अन्यथा तदुपाधेरेवातीतादिव्यवहारोपपतौ कालापलापप्रसंगात् (तत्त्व प्र०)

४. (सांख्य त० कौ० का ३३)

५. ब्रैडले : लॉजिक, २, (टिप्पणी) राधाकृष्णन्: भारतीय दर्शन भाग २ से उद्धृत

६. ब्रह्म सू० शां० भा० २।२।१७

अवस्थ यें हैं । हम समस्त विश्व को पौर्वापर्य घटनामात्र नहीं कह सकते ।[१] अद्वैत वेदान्ती यहाँ यह भी तर्क कर सकते हैं कि कारण का पूर्ववर्तित्व स्वभावतः निश्चित रूप से है तो वह कार्य में कभी भी परिवर्तित नहीं हो सकता ।[२]

न्याय की दृष्टि से उपर्युक्त शंकायें सर्वथा असंगत प्रतीत होती हैं । न्याय ने कारण को पूर्ववर्ती कहा है इसका यह तात्पर्य नहीं कि कारण मात्र पूर्ववर्ती है । जब तक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती तभी तक कारण कार्य का पूर्ववर्ती रहता है । कार्य की उत्पत्ति के समय या कार्य की उत्पत्ति के बाद कारण कार्य के पूर्व में नहीं रहता अपितु कार्य के साथ-साथ रहता है । उत्पत्ति के बाद कारण और कार्य साथ-साथ रहते हैं । अतः, दोनों में अयुतसिद्धत्व भी सिद्ध हो जाता है । काल की दृष्टि से हम इस पौर्वापर भेद को भले न स्वीकार करें, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से यह भेद स्वीकार करना पड़ता है । व्यवहार में हम यह कहते है कि 'मिट्टी ले आओ तब घट बनेगा' । हम प्रायः कभी अतीत के विषय में बात करते हैं तो कभी वर्तमान और कभी भविष्य के विषय में । यह सब भी कालभेद पर ही आधारित है । उपाधिभेद के आधार पर कालभेद सर्वत्र स्वीकार किया जाता है । अतः, इस प्रसंग में भी पौर्वापर्य भाव उपाधिभेद से समझ लेना चाहिए ।

कारण की परिभाषा के विषय में दूसरी शंका चित्सुखी ने की है कि कारण के परिभाषा की आकाश में अव्याप्ति होती है । धोबी के आग जलाने से धूआँ उत्पन्न होता है । यहाँ जिस प्रकार धोबी धूएं का कारण है उसी प्रकार आकाश भी है क्योंकि आकाश के बिना धूआँ नहीं उत्पन्न हो सकता । परन्तु न्याय मत में ऐसी करना उचित नहीं है । केशवमिश्र ने आकाश की परिगणना साधारण कारण में की है । इस दृष्टि से कारण की परिभाषा में आकाश की अव्याप्ति नहीं होती ।

परिभाषा में प्रयुक्त 'अन्यथा सिद्ध भिन्न' इस पद का श्रीहर्ष ने खण्डन किया है । अन्यथासिद्ध का अर्थ है 'जो कारक के अतिरिक्त हैं वह अन्यथासिद्ध हैं' । इस प्रकार,

---

१. Antecedent and conseqent are events. But we can not treat the world as a mere procession of events, there are also things to which events happen.

Joseph: An Introduction To Logic p. 404. Quoted from Devaprasad Bhattacharya's Article 'Nyaya Vaisesikatheory of causation, An Advaitic, Study: Journal Iudian Philosophy aod Culture Institute of Oriental Philosophy, Vrindaban: March 1969 Vol. XIV.

२. त० प्र०

कारण की परिभाषा के कारण पर ही आधारित होने से आत्माश्रय दोष आ जाता है। जब तक पूर्ण रूपेण इसका ज्ञान न हो जाय कि कारण क्या है तब तक अकारण का निवारण नहीं हो सकता।[1] परन्तु न्याय ने अन्यथासिद्ध की परिभाषा में कारण का समावेश नहीं किया है। न्याय ने 'आवश्यक्लृप्तनियत पूर्ववर्ती' से अतिरिक्त 'को अन्यथासिद्ध' कहा है न कि 'कारण के अतिरिक्त' को। अतः, कारण की परिभाषा में आत्माश्रय दोष का आक्षेप नहीं किया जा सकता।

चित्सुखी ने उदयन की 'सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्व' परिभाषा का भी खण्डन किया है।[2] सहकारिका वैकल्य के रहने से कार्य नहीं होता। इसका अर्थ होता है कि सहकारि साकल्प से कार्य की उत्पत्ति होती है। परन्तु सहकारी साकल्य के रहने पर सहकारी वैकल्य सम्भव नहीं है। अतः सहकारि वैकल्य प्रयुक्तकार्याभाववत्ता उसमें नहीं रह सकती। परन्तु चित्सुखी का यह आक्षेप उचित नहीं है। सकल (सम्पूर्ण) कारण सामग्री के रहने से कार्य उत्पन्न होता है, वहाँ विकलसहकारि के कार्य का अभाव भी रहता है। अतः, सहकारि साकल्य में सहकारी वैकल्य प्रयुक्त कार्याभावत्व के रहने से कोई दोष नहीं है।

उदयन की उपर्युक्त परिभाषा में यह आक्षेप किया गया हैं कि 'सहकारि' का अर्थ होता है कारण का साथी। कारण का निर्वचन किए बिना उसके साथी का विवेचन नहीं किया जा सकता। चित्सुखी का यह आक्षेप सर्वथा युक्तियुक्त है। सम्भवतः इसी कारण बाद में नैयायिकों ने कारण की 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्ती' परिभाषा की। नैयायिकों ने कारणत्व को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीनों प्रमाण से सिद्ध किया है।[3] उनके अनुसार दृश्य पदार्थों के कारणत्व का ज्ञान तो हमें अन्वय-व्यतिरेक से होता है। जैसे, 'मृत्तिका घट का कारण है' इसका प्रत्यक्ष हमें अन्वयव्यतिरेक के द्वारा होता है। हमें यह साक्षात् प्रत्यक्ष होता है कि मृत्तिका के रहने पर घट की उत्पत्ति होती है और मृत्तिका के न रहने पर घट की उत्पत्ति नहीं होती। अदृश्य पदार्थ जैसे, परमाणु, ईश्वर और आत्मादि के कारणत्व का ज्ञान हमें अनुमाण प्रमाण से होता है। ईश्वर की जगत् कारणता का ज्ञान हमें आगम से भी होता है।

श्रीहर्ष ने नैयायिकों के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि कारणत्व के विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। श्रीहर्ष के अनुसार कारणत्व का प्रत्यक्ष

---

१. नापि कारणत्वात् व्यतिरिक्तेन प्रकारेण निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा ज्ञप्तावात्माश्रयात्।
(खण्डन खण्ड खाद्य)

२. हेतुसाकल्यरुपायां सामग्र्यां तदसंभवात्।
कारणत्वनिरूक्तौ च सहकार्यनिरूपणात्॥ (तत्त्व प्र० श्लो० ५४)

३. ग्राहकं च तस्य क्वचिदन्वयव्यतिरेकदर्शनसहकृतं प्रत्यक्षम् क्वचित्नुमानं क्वचिदागमादिकम्। (पदार्थ तत्त्व निरू०)

मानने पर यह शंका होती है कि कार्यत्व निरूपित कारणत्व का प्रत्यक्ष होता है या केवल कारणत्व का। केवल कारणत्व का प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता। कारणत्व का प्रत्यक्ष कार्यत्व के साथ ही हो सकता है। यह द्वितीय विकल्प मानने पर भी शंका का समाधान नहीं होता। उस अवस्था में यह प्रश्न उठता है कि कार्यत्व निरूपित कारणत्व का प्रत्यक्ष उत्पत्ति के पूर्व काल में होता है या उत्पत्ति के उत्तर काल नें। उत्पत्ति के पूर्व काल में उक्त कारणत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उत्पत्ति के पूर्व कार्यत्व नहीं है। अतः, उत्पत्ति के पूर्व कार्यत्व निरूपित कारणत्व के प्रत्यक्ष का प्रश्न नहीं उठता। उत्पत्ति के उत्तर काल में कारणत्व प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि उत्पत्ति के उत्तर काल में कारणत्व नहीं रह जाता। परन्तु श्रीहर्ष के इस तर्क से कारणत्व के प्रत्यक्ष का खण्डन नहीं किया जा सकता है। व्यवहार में तथा अनुभव में कारणत्व का प्रत्यक्ष होते देखा जाता है। वस्तुतः, होता यह है कि पूर्वकाल में कारणता का ज्ञान होने पर कारणता विषयक संस्कार बन जाते हैं और उत्तर काल में कार्य उत्पन्न होने पर पूर्व कारणता संकार के बल से कार्यत्व निरूपित कारणता का प्रत्यक्ष होता है।

इसी प्रकार हमें कारण-कार्य की व्याप्ति का प्रत्यक्ष होता है। इस व्याप्ति के आधार पर हम परमाणु ईश्वरादि के कारणत्व का अनुमान कर लेते हैं। अतः, श्रीहर्ष का यह कथन कि कारण-कार्य व्याप्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता अतः, उसके आधार पर हम कारणता का अनुमान नहीं कर सकते सर्वथा निराधार मालूम पड़ता है।

पाश्चात्य दर्शन में कारण की परिभाषा

भारतीय दर्शन की तरह पाश्चात्य दर्शन में भी कारणता पर प्राचीन काल से विचार किया जा रहा है। ग्रीक काल में कारणता का प्रश्न इस प्रकार उठाया गया कि परिवर्तन सत्य हैं या मिथ्या? ध्यान से देखा जाय तो कारण-कार्य की समस्या परिवर्तन की ही समस्या है। हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु में परिवर्तित होते हुए देखते है तभी हमें जिज्ञासा होती है कि वस्तुतः यह परिवर्तन होता कैसे है? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए ही हम उन वस्तुओं में कारण-कार्य भाव का निश्चय करते हैं। प्राचीन काल में जहां तक हमें ज्ञात है कारण की परिभाषा किए बिना ही कारण की सामान्य विचारधारा के आधार पर जगत् की कारणता पर दार्शनिको ने विचार किया। अरस्तू ने कारण के भेद किए परन्तु उसको परिभाषा नहीं की। अरस्तू के कारण के भेद पर बाद में कारण के भेद के परिच्छेद में विचार किया जाएगा।

जहाँ तक हमें ज्ञात है मध्यकालीन ईसाई दार्शनिकों ने भी कारण की परिभाषा नहीं की। इन दार्शनिकों ने कारणता को धार्मिक मोड़ दिया तथा ईश्वर के जगत्कर्तृत्व पर विचार किया।

आधुनिक काल में कारणता पर ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से विचार किया गया।

अनुभववादी दार्शनिक ह्यूम, काण्ट, रसेल आदि ने कारणता संबंध पर विशेष रूप से विचार किया जिस पर बाद में विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

यहां हम मिल के कारण की परिभाषा पर विचार करेंगे क्योंकि पाश्चात्य दार्शनिकों में मिल ने ही कारण की परिभाषा पर विशेष रूप से विचार किया एवं मिल के कारण की परिभाषा न्याय की कारण की परिभाषा से साम्य रखती है। मिल ने कारण को कार्य का नियत पूर्ववर्ती एवं निरुपाधिक माना है। उसके अनुसार केवल नियतपूर्ववर्ती ही कारण नहीं हो सकता। यदि हम मात्र नियत पूर्ववर्ती को कारण मानते हैं तो दिन को रात का और रात को दिन का कारण मानना पड़ेगा क्योंकि दिन रात का और रात दिन का नियतपूर्ववर्ती हैं। परिभाषा में निरुपाधिक पद जोड़ देने से रात और दिन में कारण के परिभाषा की अतिव्याप्ति नहीं होती। रात या दिन की नियत पूर्ववर्तिता निरुपाधिक नहीं है। रात या दिन सूर्य और पृथ्वी के कोण के झुकाव पर निर्भर करता है। जब पृथ्वी का झुकाव सूर्य की ओर होता है तब दिन होता है और जब पृथ्वी का झुकाव सूर्य की ओर नहीं होता तब रात होती है। इस प्रकार रात और दिन एक दूसरे के कारण नहीं हो सकते। अतः मिल के अनुसार निरुपाधिक नियत पूर्ववर्ती कारण तथा निरुपाधिक नियत पश्चात्वर्ती कार्य हैं, इसी को कारण-कार्य भाव कहते हैं। परन्तु जब हम यह सोचना प्रारंभ करते है कि कार्य होता कैसे है? तभीं नाना प्रकार के कारण के स्वरूप विचार में आते हैं।[1]

मिल की यह परिभाषा न्याय की कारण की परिभाषा से साम्य रखती है। न्याय ने भी कारण को अनन्यथासिद्ध नियत पूर्ववर्ती कहा है। नैयायिक अनन्यथासिद्ध का प्रयोग उसी अर्थ में करते हैं जिस अर्थ में मिल ने निरुपाधिक का प्रयोग किया है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि मिल ने औपाधिक का भेद नहीं किया है जबकि नैयायिकों ने अन्यथासिद्ध का भेद करके उस पर विस्तार से विचार किया है।

मिल ने कारण की दूसरी परिभाषा की है कि भाव रूप और अभाव रूप अवस्थाओं के सम्पूर्ण योग को कारण कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति के लिए भाव रूप कारणों की जितनी आवश्यक है उतना ही उस कार्य की उत्पत्ति में विघ्नों का अभाव आवश्यक है।

---

१. 'We may therefor define cause of a phenomenon to be the antecedent or the concurrence of antecedents, of which it is invariably and unconditionally consequent'.

(Mill J. S. : System of Logic : p. 222)

इस प्रकार, मिल ने नकारात्मक कारण या अभाव (निगेटिव कॉज[1] का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में किया है जिस अर्थ नैयायिकों ने प्रतिबन्धकाभाव का प्रयोग किया है। पंचानन ने तथा उदयन ने शक्ति के खण्डन में प्रतिबन्धकाभाव को कारण के रूप में स्वीकार किया है। उदयन ने सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्व कारण की परिभाषा की है। विकल सहकारियों के रहने से कार्य नहीं होता, सकल सहकारियों के रहने से कार्य होता है। यहां उदयन ने प्रतिबन्धकों के अभाव को भी कार्य की उत्पत्ति में कारण माना है।

मिल के अनुसार विशेष कारण सामग्री ही कार्य विशेष को उत्पन्न करती है, किसी एक कारण पर हम महत्व नहीं दे सकते क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के लिए वे सभी कारण आवश्यक हैं। उदयन ने भी सकल सहकारियों को अर्थात् कारण सामग्री को कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक माना है। नैयायिकों ने समवायि, असमवायि और निमित कारण को कार्य को उत्पत्ति के लिए आवश्यक माना है इसका तात्पर्य यही है कि विशेष कारण सामग्री कार्य विशेष के लिए आवश्यक है।

मिल ने विधि निषेध की संयुक्त विधि तथा सहचार विधि (जॉएन्ट् मेथड ऑफ एग्रिमेण्ट डिसएग्रिमेण्ट तथा मेथड आफ कॉन्कोमिटैन्ट वैरिएशन) के द्वारा कारण की व्याख्या की है। अर्थात् कारण के होने पर कार्य होता है और कारण के न होने पर कार्य नहीं होता। मिल की कारण की यह परिभाषा मीमांसकों की अन्वय-व्यतिरेकित्व परिभाषा से साम्य रखतीं है। नैयायिकों ने भी कारणता के ज्ञान के लिए अन्वय-व्यतिरेकित्व को आयश्यक माना है। रघुनाथ शिरोमणि ने अन्वय व्यतिरेकित्व के आधार पर कारण का अनुमान किया है। अमुक कार्य का कारण क्या हो सकता है ? इस अनुमान में भी कारण की अन्वय-व्यतिरेकित्व परिभाषा उपयोगी सिद्ध होती है। अन्वय-विधि से कारण के रह पर कार्य की उत्पत्ति और व्यतिरेक विधि से कारण के न रहने पर कार्य की अनुत्पत्ति, इस व्याप्ति को बार-बार देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि किस कार्य के लिए कौन सा कारण आवश्यक है। पाश्चात्य दार्शनिकों में सर्वप्रथम इस विधि का प्रयोग बेकन ने किया, बाद में मिल ने इस विधि का विस्तार से विवेचन किया। पाश्चात्य दार्शनिकों ने इसी प्रकार के प्रयोगात्मक अन्वेषण करके अनेक सिद्धान्त बतलाये जो कारण की खोज के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मिल ने कारणता को एक सार्वभौम नियम माना। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है और वह कार्य का नियत पूर्ववर्ती होकर कार्य की उत्पत्ति करता हैं।

---

१. 'The cause, then, philosophically speaking is the sum total of the conditions positive and negative taken together' (Ibid. p.217)

मिल के कारण की इस परिभाषा की पाश्चात्य दार्शनिक फॉसेट[1], रसैल, ब्रैडले आदि ने खुलकर आलोचना की है। फासेट[2] मिल के कारणता के सिद्धान्त को सतही समझता है। उनके अनुसार मिल ने कारणता पर केवल बाह्य रूप से विचार किया है। उसने इस प्रश्न पर कभी भी विचार नहीं किया कि वस्तुतः कार्य उत्पन्न क्यों होता है ? मिल ने कोई तत्वभूत कारण को नहीं माना है। साथ ही मिल का पौर्वापर्य क्रम यांत्रिक है। न्याय ने भी कारण-कार्य के विषय में पौर्वापर्य क्रम माना है परन्तु उपर्युक्त शंका न्याय के कारण की परिभाषा के विषय में नहीं उठाई जा सकती। न्याय का पौर्वापर्य क्रम यान्त्रिक नहीं है। कारण में कार्योत्पादकत्व है अतः, उसे हम यान्त्रिक नहीं कह सकते। साथ ही न्याय ने कारण और कार्य के बीच समवाय संबंध माना है।

न्याय ने मूल कारण पर भी विचार किया है। न्याय के अनुसार परमाणु जगत् के मूल उपादान कारण हैं तथा ईश्वर निमित्त कारण है।

रसेल[3] ने मिल के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि निःसन्देह कारण और कार्य में पौर्वापर्य क्रम है, परन्तु इस क्रम की अनिवार्यता की प्रतिपादन हम नहीं कर सकते। कारण को कार्य का पूर्ववर्ती कहने का अर्थ होता है कि कारण कार्य के अव्यहित पूर्व में हो, परन्तु अधिकांशतः ऐसा नहीं हो पाता। कारण और कार्य के बीच किसी न किसी प्रकार का व्यवधान अवश्य हो जाता है। आरसेनिक खाने से मृत्यु हुई है, परन्तु आरसेनिक को हम उस व्यक्ति की मृत्यु का अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण नहीं कह सकते। मृत्यु के पूर्व उस व्यक्ति में कोई न कोई शारीरिक परिवर्तन अवश्य होता है जिसके फलस्वरूप उस व्यक्ति की मृत्यु होती है। या यह भी हो सकता है कि आरसेनिक खाने के बाद उस व्यक्ति को किसी ने गोली मार दी हो। अतः, हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि कारण-विशेष से कार्य-विशेष की उत्पत्ति होती है। अपितु हम ऐसा कह सकते हैं कि कारण विशेष से कार्य विशेष के उत्पन्न होने की संभावना है। एक कार्य

1. Mill J. S. : System of Logic pp. 253 to 266.
2. 'In his World as imagination' Fawcet considers the definition of cause by Mill as superficial because it considers only surface phenomenon and does not question why the event or consequent begins. Quoted from Devaprased Bhattacharya : Nyaya Vaisesika Theory of Causation An Advaitic Study Indian Philosophy and Culture Institute of Orientaı Philosophy Vrindaban. March 1969.
3. Russell's Article 'On The Notion of Cause' in Proceedings of the Aristotelian Society, 1912.

के नियत पूर्ववर्ती अनेक कारण हो सकते हैं अतः हम किसी एक को कारण नहीं कह सकते ।

पर्याप्त और आवश्यक कारण का भेद

कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने पर्याप्त कारण और आवश्यक कारण में अन्तर स्पष्ट किया है ।[१] इन दार्शनिकों के पर्याप्त कारण की व्याख्या उदयन के कारण की परिभाषा से साम्य रखती है । उदयन के अनुसार कारण सामग्री से कार्य की उत्पत्ति होती है । उसी प्रकार कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया है कि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त कारणों की आवश्यकता होती है । जैसे, दाह की उत्पत्ति के लिए आक्सीजन आवश्यक कारण है परन्तु वह पर्याप्त नहीं है, आक्सीजन मात्र की ही उपस्थिति से दाह नहीं उत्पन्न हो सकता । दाह की उत्पत्ति के लिए ईंधन, आग सभी आवश्यक हैं । जब सभी आवश्यक कारण मिलकर पर्याप्त हो जाते हैं तभी कार्य विशेष की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि उदयन ने जिस अर्थ में सहकारिसाकल्य का प्रयोग किया हैं उसी अर्थ में कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने पर्याप्त कारण या (Sufficient Cause) का प्रयोग किया है ।

१, It is obvious that theree may be several necessary conditions for occurance of an event and they must all be included in the sufficient conditions. The word cause is used sometimes for sufficient condition and sometimes for necessary conditions.

(Copi M. Irving : Introduction To Logic p. 356)

See also Stebbing LS, A Madern Introduction to Logic p, 271.

अन्यथासिद्ध

कारण की परिभाषा में अन्यथासिद्ध का विचार बहुत महत्वपूर्ण है। यह पद इस बात को स्पष्ट करता है कि जो कोई भी पदार्थ जिसे हम कार्य के प्रति कारण मानते हैं उसका कार्य के साथ साक्षात् या अनन्यथासिद्ध संबंध होना चाहिए, परम्परया या अन्यथासिद्ध नहीं। जैसे पट के प्रति तन्तु ही कारण हो सकता है तन्तुरूप नहीं क्योंकि तन्तुरूप का पट के प्रति साक्षात् संबंध नहीं है। तन्तु से संबंधित होने के कारण वह पट से संबंधित होता है। साथ ही तन्तुरूप का कारण सामर्थ्य पट रूप के निर्माण में ही समाप्त हो जाता है, वह पट का निर्माण नहीं कर सकता है।[1]

नैयायिकों ने कारण को परिभाषा करते समय उसे अन्यथासिद्धशून्य बताया है।[2] नियतपूर्ववर्ती के अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं जिनसे साक्षात् कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है उसे अन्यथासिद्ध कहते हैं। नियतपूर्ववर्ती से ही जब कार्य संभव है, तब उसके सहभूत जितने पदार्थ हैं जिनमें कारणता का भ्रम होता है वे अन्यथासिद्ध है।[3]

दासगुप्त और राधाकृष्णन् ने अन्यथासिद्ध को अनकन्डिशनल एन्टिसिडेण्ट कहा है। अर्थात् कारण के प्रति जिसका प्राग्वर्तित्व स्वतः न हो, अन्य पर निर्भर करता हो।

डॉ० सील ने अनन्यथासिद्ध और अन्यथासिद्ध का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कार्य की उत्पत्ति में जो व्यापारवान तथा आवश्यक है वह अनन्यथासिद्ध है। इसके विपरीत जो अनावश्यक तथा निष्क्रिय हैं वे अन्यथासिद्ध हैं। इस प्रकार, डॉ० सील ने अन्यथा-सिद्ध को परतन्त्र, अप्रधान, गौण, अनावश्यक, निष्प्रयोजन तथा निष्क्रिय कहा है।

---

१. तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। (तर्क भाषा)

२. (क) तर्क भाषा (ख) न्या० सि० मु०
(ग) न्या० प्र० (घ) तत्त्व दी०

३. (क) अन्यथासिद्धिस्त्वश्यकल्प्तनियतप्राग्वर्तितोऽपरः (न्या० प्र० श्लो० २४)
(ख) अन्यथासिद्धिश्चावश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनैव कार्यं सम्भवे तत्सहभूतत्वम्।

४. 'In the end the discrimination of what is necessary to complete the sum of causes what is dependent. collateral, secondary, superfluous or inert (of the relevent from irrelevent factor) must depend on the test of expenditure of energy'. Dr. P. C. Ray: Hindu Chemistry 1909, pp. 240-50. Quoted from 'S N. Dasgupta, A History of Indian Philosophy,

रोअर ने अन्यथा को निष्क्रिय, अनावश्यक कारण कहा है[१]।

सिद्धान्तचन्द्रोदयकार ने अन्यथासिद्ध को कारण का सहभूत कहा है। अर्थात् जब दण्ड से ही घट की उत्पत्ति हो जाती है तब दण्डत्व और दण्डरूप जो दण्ड के साथ-साथ रहते हैं परन्तु कार्य के साथ जिनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है उनको 'अन्यथासिद्ध' कहते हैं[२]।

आठले और बोडस[3] ने अपने तर्कसंग्रह की टीका में रोअर की आलोचना तथा सिद्धान्तचन्द्रोदयकार की परिभाषा का समर्थन किया है। उनके अनुसार अन्यथासिद्ध को आवश्यक मान लेने पर दण्डत्व और दण्डरूप जैसे अन्यथासिद्ध का समावेश उसमें नहीं हो सकेगा। दण्डत्व और दण्ड रूप अनावश्यक नहीं हैं। वे भी घट कार्य के प्रति नियत पूर्ववर्ती हैं अतः, उनको भी कारण मानना होगा। इसके विपरीत सिद्धान्त चन्द्रोदयकार के अनुसार 'अवश्यक्लृप्त नियतपूर्ववर्ती के साथ जो रहते हैं उनको अन्यथासिद्ध मानने पर इस प्रकार की अव्याप्ति नहीं होगी। दण्डत्व और दण्डरूप नियतपूर्ववर्ती और अवश्यकक्लृप्त हैं परन्तु कारण के साथ-साथ रहते हैं इसलिए अन्यथासिद्ध हैं। इस प्रकार, आठले और बोडस के अनुसार अन्यथासिद्ध वह है जो नियतपूर्ववर्ती है परन्तु गौण कारण है अपनी कारणता की शक्ति मुख्य कारण से लेता है[४]।

परन्तु सिद्धान्तचन्द्रोदयकार के तत्सहभूतत्व का अर्थ गौण कारण लेकर अन्यथा-सिद्ध की व्याख्या करना कथमपि उचित नहीं है क्योंकि नैयायिकों के अनुसार तत्सहभूत का अर्थ अनावश्यक ही है, गौण कारण नहीं। अनावश्यक अन्यथासिद्ध को हम गौण कारण कैसे कह सकते हैं ? गौण कारण कहने का अर्थ होता है कि वह भी कारण है भले ही मुख्य कारण न हो। साथ ही न्याय ने गौण कारण और मुख्य कारण का ऐसा कोई विभाजन नहीं किया है। साधारण और असाधारण कारण का विभाजन किया है। अतः, हमारी दृष्टि में अन्यथासिद्ध का अर्थ इस प्रकार कर सकते है। नियत पूर्ववर्ती होकर भी जो अनावश्यक है, वह अन्यथासिद्ध है। इससे कारण के सहकारि दण्डत्व और

---

१. Roers Trans. of Bibl. In. P. 10. Quoted from 'Tarksangrah' Tran's. by Othlye and Bodus

२. अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतत्वम्। (सिद्धान्त च०)

३. T.S.

४. Roer's rendering is therefore incorrect and the word really means 'a thing which is proved to be antecedent (cause) to the effect, through another or because it accompanies another', that is, a secondary cause deriving its character through the primary and real cause. (Ipid.)

दण्डरूप, कुलाल का पिता, आकाश, गर्दभ जिसमें कारणता का भ्रम होता है, उनका अन्यथासिद्ध के अन्तर्गत समावेश हो जाता है। आठले और बोडस ने आवश्यक का अर्थ बहुत विस्तृत अर्थ में किया है। जो कारण से साक्षात् संबंधित न होकर परम्परया संबंधित हैं उन्हें भी वे आवश्यक कहते हैं भले ही वे कारण न हों।

अन्यथा के भेद

पहले गगेंश[1] और अन्नभट्ट[2] ने अन्यथासिद्ध के तीन ही भेद किए। बाद में विश्वनाथ ने उनके विशद् स्पष्टीकरण के लिए उनके पांच भेद किए।

गंगेश और अन्नभट्ट के अनुसार अन्यथासिद्ध के तीन भेद

१. कार्य के प्रति जिसकी पूर्ववर्तिता कारण के साथ हो स्वन्तत्ररूप से न हो वह कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। जैसे, तन्तुरूप पट कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध हैं। तन्तुत्व और तन्तुरूप तन्तु से समवाय चम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। अतः, पट के प्रति तन्तु की ही तरह पूर्ववर्ती हैं, इनमें भी कारणतया का भ्रम होता है। परन्तु इनको हम कारण न कह कर अन्यथासिद्ध कहते हैं क्योंकि पट के प्रति इनका पूर्ववर्तित्व स्वातन्त्रयेण न होकर तन्त्वाश्रयत्वेन है। अर्थात् तन्तु से सम्बन्धित होने के कारण ये पट से सम्बन्धित हैं।

२. कार्य के प्रति जिसके पूर्वबर्तित्व का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से न हो, किसी अन्य के प्रति पूर्ववर्तित्व ग्रहण करने के बाद ही जिसका कार्य के प्रति पूर्ववर्तित्व का ग्रहण हो उसे द्वितीय प्रकार का अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे, आकाश का शब्द के प्रति पूर्ववर्तित्व ज्ञान होने पर ही उसका घट के प्रति पूर्ववृत्तित्व का ग्रहण करते हैं। अतः, आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। आकाश की सत्ता शब्दसमवायिकायिकारणत्वेन है, शब्द के प्रति पूर्ववर्तिता गृहीत किए बिना उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती।

३. अवश्यत्रक्लृप्तनियतपूर्ववर्ती कारण से ही कार्य उत्पन्न हो जाता हैं अतः, कारण के अन्य सहकारियों को तृतीय प्रकार का अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे, घट पकाते समय गन्धप्रागभाव और रूपप्रागभाव दोनों उपस्थित रहते हैं परन्तु गन्ध के प्रति गन्धप्रागभाव

---

१. अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्तिजातीयत्वं वा तत्वम्। अन्यथासिद्धत्वञ्च त्रिधा। येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववर्तित्वमवगम्यते, यथा घटं प्रति दण्डरूपस्य। अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्व ज्ञाते यं प्रति यस्य पूर्ववत्तित्वमवगम्यते, यथा शब्दं प्रति पूर्ववत्तित्व ज्ञात एव ज्ञानं प्रत्याकाशस्य। अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतत्वम् यथा गन्धवति गन्धानुत्पादाद्गन्धं प्रति तत्प्रागभावस्य नियतपूर्ववत्तित्वककल्पनात् पाकजस्थले गन्धं प्रति रूपादिप्रागभावादीनामप्यन्यथासिद्धत्वम्। एतत् (अनुमान चिन्तामणि)

२. तत्व संग्रह दीपिका

ही कारण है रूपप्रागभाव नहीं। यहाँ रूप प्रागभाव अन्यथासिद्ध है। गन्ध की उत्पत्ति में में गन्धप्रागभाव हो अवश्यवक्लृप्तनियतपूर्ववर्ती है न कि रूपप्रागभाव, रूपप्रागभाव मात्र उसका सहभूत है।

विश्वनाथ के अनुसार अन्यथासिद्ध के ५ भेद

विश्वनाथ ने अन्यथासिद्ध को विस्तार से समझाने के लिए ५ भेद किए हैं जो निम्न प्रकार से है :

१. जिस रूप से कारण की कार्य के प्रति पूर्ववर्तिता हैं वह रूप उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। जैसे, दण्डत्व घट के प्रति। दण्ड की घट के प्रति पूर्ववर्तिता दण्डत्वेन है, पृथ्वीत्व या दण्डरूप से नहीं। अर्थात् दण्डत्वजाति विशिष्ट दण्डत्वावच्छिन्न दण्ड ही घट के प्रति कारण है। अतः, दण्डत्व घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

२. कार्य के प्रति जिसका अन्वय-व्यतिरेकित्व स्वतन्त्र न होकर कारणत्वेन हो, उसे द्वितीय प्रकार का अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे, दण्डरूप का घट के प्रति पूर्ववर्तित्व दण्ड को लेकर ही है स्वातन्त्र्येण नहीं पूर्ववर्तित्व से यहाँ तात्पर्य अन्वय-व्यतिरेकित्व से लेना चाहिए ।

३. अन्य के प्रति पूर्ववर्तित्व का ग्रहण करने के बाद ही जिसका घट के प्रति पूर्ववर्तित्व का ग्रहण होता है, उसे तृतीय प्रकार का अन्यथासिद्ध कहते हैं,। जैसे, आकाश का घट के प्रति पूर्ववर्तित्व ग्रहण करके ही उसका घट के प्रति पूर्ववर्तित्व का ग्रहण होता है। अतः, आकाश अन्यथासिद्ध है।[1]

यहाँ एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि आकाश की अन्यथासिद्ध आकाशत्वेन ही है, द्रव्यत्वेन नहीं, आकाश संयोग के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध नहीं है क्योंकि आकाश संयोग के प्रति आकाश की पूर्ववृत्तिता स्वातन्त्र्येण है। शब्द के प्रति पूर्ववर्तिता का ग्रहण करके आकाश की, आकाश संयोग के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान नहीं होता है।[2]

यदि आकाश का लक्षण शब्दसमवायिकारणत्व न करके शब्दाश्रयत्व करते हैं तो उपर्युक्त लक्षण के अनुसार आकाश घट के प्रति तृतीय प्रकार का अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता। यहाँ आकाश का शब्द के प्रति पूर्वभाव को हमने नहीं देखा है अपितु, आकाश को शब्द के आश्रय के रूप में जाना है। इस अवस्था में आकाश में पञ्चम अन्यथासिद्धि

---

१. येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य अन्यं प्रतिपूर्ववर्तित्वे ज्ञाते यत्पूर्वभाव-विज्ञानम्। (भाषा परि० श्लो० १९)

२. न चैवमाकाश संयोगादिकं प्रत्याकाशस्याऽन्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः, आकाशत्वेन तस्येष्टत्वात्। (भाषा परि० टीका श्लो० १९)

होगी क्योंकि पञ्चम अन्यथासिद्ध व्यापक अन्यथासिद्ध है, इसके अन्तर्गत अवश्यक्लृप्त-नियतपूर्ववर्ती के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं उनका समावेश हो जाता है।[1]

दिनकर के अनुसार शब्दाश्रयत्व रूप में आकाश का लक्षण करने पर उसका तृतीय अन्यथासिद्ध में ही समावेश किया जा सकता है।[2] आकाश की सत्ता शब्दाश्रयत्वेन भी सिद्ध की जा सकती है। आकाश का शब्दाश्रयत्वेन सत्ता सिद्ध हो जाने पर ही उसके घट के प्रतिवर्तित्व का ज्ञान होता है। अतः, शब्दाश्रयत्व रूप में भी आकाश तृतीय प्रकार का अन्यथासिद्ध है। यदि तृतीय प्रकार के अन्यथासिद्ध में प्रयुक्त अन्य प्रति का अर्थ 'अन्यं प्रति कारणत्वेन' किया जाय अर्थात् तृतीय प्रकार की अन्यथासिद्ध का अर्थ यह किया जाय कि 'अन्य के प्रति कारणत्वेन पूर्ववर्तित्व का ज्ञान हो जाने पर ही जिसका कार्य के प्रतिपूर्ववर्तित्व का ज्ञान होता है तो शब्दाश्रयत्वेन आकाश का समावेश तृतीय अन्यथासिद्ध में नहीं कर सकते। आकाश का शब्द के कारण के रूप में ज्ञान न होकर शब्द के आश्रय के रूप में ज्ञान होने पर, उसके घट के प्रति पूर्ववर्तित्व का ज्ञान होता है अतः, वह तृतीय प्रकार का अन्यथासिद्ध नहीं है। इसके विपरीत शब्दसमवायिकारणत्वेन आकाश का ग्रहण करने पर घट के प्रति उसके पूर्ववर्तित्व का ज्ञान होने पर आकाश घट के प्रति तृतीय अन्यथासिद्ध हैं।

इस प्रसंग में एक प्रश्न यह भी उठता है कि आकाश को शब्द का समवायि कारण माना जाता है, यहाँ शब्द को कारणता का अवच्छेदक धर्म क्या है? प्रत्येक कारण किसी रूप से ही होता है। जैसे, दण्ड दण्डत्वेन घट के प्रति कारण है यहाँ घट की कारणता का अवच्छेदक धम दण्डत्व है। परन्तु इस प्रसंग में आकाशत्व को शब्द की कारणता का अवच्छेदक नहीं कह सकते क्योंकि आकाशत्व कोई जाति नहीं, उपाधि है। शब्दसमवायिकारणत्व और आकाशत्व दोनों एक ही वस्तु हैं। शब्द की समवायिकारणता का अवच्छेदक कोई ऐसा धर्म ही हो सकता है जो केवल आकाश में रहता हो। विश्वनाथ ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'क' वर्ण या 'ग' वर्ण की ध्वनि को समवायिकारणता का अवच्छेदक मान लेना चाहिए क्योंकि 'क' या 'ग' आदि वर्ण को ध्वनियाँ आकाश में हीं पायी जाती हैं। यहाँ पुनः एक शंका यह उत्पन्न होती है कि 'क' आदि वर्णों से युक्त होने को शब्द की समवायिकारणता का अवच्छेदक मानते हैं तो वर्णों के अनेक होने से अवच्छेदकता का स्वरूप बड़ा हो जाता है। इस शंका के समाधान के लिए ही न्याय-वैशेषिक ने आकाश में रहने वाले 'विशेष' पदाथ को उसका

---

१. ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत्, पञ्चमीति गृहाण। (न्याय सि० मु० श्लो० १९)

२. शब्दाश्रयत्वाष्टव्यातिरिक्तद्रव्यत्वादिना गगनस्य घटंप्रति हेतुत्वेऽपि तृयीयैवाऽन्यथासिद्धिः। (दिनकरी)

अवच्छेदक माना है[१] 'विशेष' न्याय-वैशेषिक द्वारा कल्पित वाह्य पदार्थ है। इसका स्वरूप कई पदार्थों से मिलकर नहीं बना है। जैसे, कवत्वादि उपाधि का होता है। अतः, 'विशेष' पदार्थ को अवच्छेक मानने में लाघव है। वस्तुतः, ध्यान से देखा जाय तो 'विशेष' को अवच्छेदक मानना मात्र काल्पनिक है इसको सिद्ध नहीं किया जा सकता। अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए न्याय-वैशेषिक ने ऐसे अनेक पदार्थों को बिना सिद्ध किये स्वतः सिद्धः मान्यता के रूप में स्वीकार किया है।

केशवमिश्र ने आकाश को साधारण कारण माना है, अन्यथासिद्ध नहीं माना हैं।[२] परन्तु तर्कामृतकार[३] तथा न्यायप्रदीपकार[४] ने आठ साधारण कारण में आकाश की परिगणना नहीं की है संभवतः, उन दार्शनिकों ने भी विश्वनाथ की तरह आकाश को अन्यथा सिद्ध माना है।

४. जनक के प्रति पूर्ववर्ती होने के कारण जो कार्य के प्रति पूर्ववर्ती हो उसे चतुर्थ प्रकार का अन्यथासिद्ध कहते हैं'।[५] जैसे, कुलाल का पिता कुलाल के प्रति पूर्ववर्ती होने के कारण घट के प्रति पूर्ववर्ती है अतः, अन्यथासिद्ध है। इस प्रकार, कारण के कारण को कारण मानने से अनवस्था होती है और परस्परा बढ़ जाती है। यदि यह शंका की जाय कि कुम्भकार का पिता भी कुम्भकार ही है उसकी अन्यथासिद्ध नहीं हो सकती है। ऐसी शंका उचित नहीं है क्योंकि कुम्भकार का पिता अपने द्वारा निर्मित घट के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं है परन्तु अपने पुत्र द्वारा निर्मित घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

अन्यथासिद्ध की इस परिभाषा के अनुसार याग को भी स्वर्ग के प्रति अन्यथासिद्ध मान लेना चाहिए। याग भी स्वर्ग प्राप्ति के कारण अदृष्ट का जनक है, स्वर्ग का नहीं। गगेशोपाध्याय ने इसका समाधान किया है।[६] उनके अनुसार जहाँ जन्य का कार्य के प्रति पूर्ववर्तित्व पहले ज्ञात होता है और जन्य के जनक का कार्य के प्रति पूर्ववर्तित्व बाद में ज्ञात होता है वहाँ जन्य की अपेक्षा जनक अन्यथासिद्ध है। जैसे, कुलाल

---

१. नन्वाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेत्, कवत्त्वादिकं, विशेषपदार्थो वेति। (न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० १९)

२. तर्क भाषा

३. तर्कामृत

४. न्याय प्रदीप श्लो० २१, २२,

५. जनकं प्रति पूर्ववर्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते (भाषा परि० श्लो० २०)

६. यागपूर्वयोस्तु यागपूर्ववर्तित्वेऽवगते न त्ववगम्यमाने, यत्र जन्यस्यपूर्ववर्तित्वेऽवगते जनकस्य पूर्वभावोऽवगम्यते तत्र जन्येन जनकस्यान्यथासिद्धिः यत्र च जनकस्य तथात्वेऽवगते जन्यस्य पूर्वभावावगतिस्तत्र तद्द्वारा तस्य जनकत्वमेव, दण्डसंयोगभ्रमणयोस्तु युगपदेव पूर्वभावित्वग्रहः। (अनुमान चिन्तामणि)

घट का पूर्ववर्ती है, इसका ज्ञान हमें पहले होता है। कुलाल का पिता भी घट के प्रति पूर्ववर्ती है इसका ज्ञान बाद में होता है। अतः कुलाल का पिता अन्यथासिद्ध है। परन्तु जहाँ कार्य के प्रति जन्य के जनक के पूर्ववर्तित्व का ज्ञान पहले होता है और जन्य के पूर्ववर्तित्व का ज्ञान बाद में होता है वहाँ जन्य का जनक, कार्य के प्रति कारण ही होगा अन्यथासिद्ध नहीं। जैसे, स्वर्ग के प्रति याग के पूर्ववर्तित्व का ज्ञान हमें श्रुति के द्वारा पहले ही हो जाता है। स्वर्ग के प्रति यागजन्य अपूर्व के पूर्ववर्तित्व का ज्ञान बाद में होता है। अतः, अपूर्व का जनक होने पर भी याग, स्वर्ग के प्रति कारण ही है अन्यथा-सिद्ध नहीं। परन्तु तार्किक दृष्टि से देखा जाय तो गगेश ने श्रुति की रक्षा के लिए ही यह युक्ति दी है। यदि हम श्रुति निरपेक्ष होकर देखते हैं तो याग स्वर्ग के प्रति अन्यथा-सिद्ध ही है।

५. अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्ती के अतिरिक्त को पंचम अन्यथासिद्ध कहते हैं।[1] जैसे, घट की उत्पत्ति में रासभ अन्यथासिद्ध है। यह आवश्यक नहीं कि घट की उत्पत्ति के पूर्व रासभ सदैव नियतरूप से रहे। मिट्टी कभी हाथ या अन्य किसी साधन से भी लाई जा सकती है। मुक्तावलीकार ने पंचम अन्यथासिद्धि का एक अन्य उदाहरण भी दिया है। प्रत्यक्ष में महत् परिमाण की अपेक्षा अनेक द्रव्यत्व अन्यथासिद्ध है। अनेक द्रव्यवत्व भी सदा प्रत्यक्ष के पूर्व रहता है। जिन-जिन द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है वे अनेक द्रव्यों से बने होते हैं अर्थात् सावयव होते हैं। अतः, अनेक द्रव्यवत्व को कारण क्यों नहीं मान लेते उसको अन्यथासिद्ध क्यों मानते हैं? विश्वनाथ इसका उत्तर देते हैं कि महत्परिमाण को प्रत्यक्ष का कारण मानते हैं तो प्रत्यक्ष की कारणता का अवच्छेदक महत्व जाति होगी: इसके विपरीत यदि अनेकद्रव्यवत्व को प्रत्यक्ष का कारण मानते हैं तो प्रत्यक्ष की कारणता का अवच्छेदक अनेकत्व होगा। अनेकत्व जाति नहीं, अपितु उपाधि है। उपाधि की अपेक्षा जाति को अवच्छेदक मानने में महत्परिमाण को कारण तथा उसकी अपेक्षा अनेक द्रव्यवत्व को अन्यथासिद्ध मानते हैं।[2]

वस्तुतः, ध्यान से देखा जाय तो अनेक द्रव्यवत्व प्रत्यक्ष का नियतपूर्ववर्ती भी नहीं है। द्वयणुक अनेक अवयवों वाला है, सावयव है परन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस अवस्था में अनेक द्रव्यवत्व के अन्यथासिद्धि का प्रश्न नहीं उठता। दिनकर ने अनेक: द्रव्यवत्व का अर्थ अणुपरिमाण वाले से भिन्न करके उपर्युक्त दोष को दूर करने का प्रयत्न

१. अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः। (भाषा परि० श्लो० २०)

२. अतएव प्रत्यक्षे महत्त्वं कारणम्, अनेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्,
तत्र हि महत्त्वमवश्यक्लृप्तं, तेनानेकद्रव्यवत्वमन्यथासिद्धम्।
न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्।
महत्त्वत्व जातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवत्।
(न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० २१)

किया है।[1] परन्तु यह स्पष्ट है कि ग्रन्कार को दोषमुक्त करने के लिए टीकाकार ने खींचतान कर यह अर्थ किया है।

पंचम अन्यथासिद्ध की परिभाषा में 'अवश्यक्लृप्त' पद देने से आत्माश्रय दोष होता है। कारण का अर्थ ही होता है 'जो अवश्यरूप से रहता हो। कारण की परिभाषा में कारण की ही विशेषता देने की कोई आवश्यकता नहीं है। दिनकर ने इस दोष के परिहार के लिए अवश्यक्लृप्त का अर्थ 'लघुनियतपूर्ववर्तित्व' किया है। उनके अनुसार लघुत्व तीन प्रकार का होता है शरीरकृत उपस्थितिकृत और सम्बन्धकृत।[2] प्रत्यक्ष में महत्परिमाण कारण और अनेकद्रव्यवत्व अन्यथासिद्ध है। यहां महत् को कारण मानने में शरीरकृत लाघव है। दूसरे गन्ध की उत्पत्ति में गन्धप्रागभाव कारण है तथा रूपप्रागभाव अन्यथासिद्ध। यहां गन्धप्रागभाव को कारण मानने में उपस्थितिकृत लाघव है। तीसरे घट के प्रति दण्डत्व की अपेक्षा दण्ड को कारण मानने में संबंधकृत लाघव है। घट के साथ दण्ड का साक्षात् संबंध है, दण्डत्व का साक्षात् संबंध नहीं है।

आलोचना

गगेशोपाध्याय के अनुसार प्रथम अन्यथासिद्ध इस प्रकार है : कोई वस्तु स्वतंत्र रूप से कार्य से संबंधित नहीं हो, कारण के द्वारा या परम्परया कार्य से संबंधित हो उसको 'प्रथम अन्यथासिद्ध' कहते हैं। इसमें विश्वनाथ के प्रथम और द्वितीय दोनों अन्यथासिद्ध का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रथम अन्यथासिद्ध में विशेषण और द्वितोय अन्यथासिद्ध में विशेष्य पद को छोड़ देने से दोनों की एक ही परिभाषा बन जाती है। दोनों का ही अन्वय व्यतिरेकित्व कार्य के साथ स्वतंत्ररूप से न होकर स्वाश्रयकारणत्वेन है। वस्तुतः, विशिष्ट बुद्धि वैशद्य के लिए विश्वनाथ ने ऐसा भेद किया है। दिनकर ने प्रथम और द्वितीय अन्यथासिद्ध के तार्किक भेद को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्रथम अन्यथासिद्धि के लिए दो बातें आवश्यक है।[3]

१. 'प्रथम उसे कार्यतावच्छिन्न के नियतपूर्ववर्ती की विशेष्यता का अवच्छेदक होना चाहिए। २. दूसरे उसे स्वतंत्र रूप से कार्य का अन्वय-व्यतिरेकि नहीं होना

---

१. दिनकरी

२. अत्राऽऽहुः—लघुनियतपूर्ववर्तित्वरूपमवश्यक्लृप्तत्वमिह बोध्यम्।
लघुत्वं च शरीरकृतमुपस्थितिकृतं सम्बन्धकृतं च। (दिनकरी पृ० ८९)

३. इत्थं च तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितानियपूर्ववृत्तित्वग्रहविशेष्यतावच्छेदेकत्वे सति तद्धर्मावच्छिन्नं, प्रति स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्वं तद्धर्मावच्छिन्नं प्रति अन्यथासिद्धत्वं प्रथममित्यर्थः। द्वितीयान्यथासिद्धरूपादि वारणय सत्यन्तम् सत्यन्तम्। कपालसंयोगो घटपूर्ववर्त्तीत्यादिग्रहे कपालस्याऽपि तादृशविशेष्यतावच्छेदकत्वात् तत्राऽतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम्।

चाहिए। दण्डत्व में प्रथम अन्यथासिद्ध के दोनों ही लक्षण हैं। दण्डत्व घटत्वावच्छिन्न घट के नियतपूर्ववर्ती दण्ड की विशेष्यता का अवच्छेदक है और उसका घट के प्रति अन्वय-व्यतिरेकित्व स्वतंत्ररूप से न होकर घट की अपेक्षा से है।

इस अन्यथासिद्ध का पहला लक्षण द्वितीय अन्यथासिद्ध में अतिव्याप्ति वारण के लिए है। यदि प्रथम विशेषण न होता तो प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण दूसरे में घट जाता क्योंकि द्वितीय अन्यथासिद्ध का भी कार्य के प्रति अन्वय-व्यतिरेकित्व स्वतन्त्र रूप से नहीं है। दण्डरूप को हम प्रथम अन्यथासिद्ध के अन्तर्गत नहीं रख सकते क्योंकि वह घटत्वावच्छिन्न घट के नियतपूर्ववर्ती दण्ड का अवच्छेदक नहीं है। द्रव्य के अवच्छेदक 'रूप, या 'गुण' नहीं होते। जाति को द्रव्य का अवच्छेदक मानते हैं।

द्वितीय अन्यथासिद्धि के लिए भी दो बातें आवश्यक हैं। पहले तो प्रथम अन्यथासिद्ध की तरह उसकी कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेकित्व स्वतन्त्र रूप से नहीं होना चाहिए। दूसरे उसको कार्य के नियतपूर्ववर्ती की विशेष्यता में अवच्छिन्न रहना चाहिए।[1] दण्डरूप द्वितीय अन्यथासिद्ध है क्योंकि इसमें द्वितीय अन्यथासिद्ध का लक्षण पूर्ण रूप से घटता है। दण्डरूप का घट के प्रति पूर्ववर्तित्व स्वतन्त्र रूप से नहीं है, दण्ड को लेकर ही दण्डरूप घट का पूर्ववर्ती है। दूसरे दण्डरूप घट के नियतपूर्ववर्ती दण्ड की की विशेष्यता वाला भी है अर्थात् दण्डरूप दण्ड में अवच्छिन्न है।

द्वितीय अन्यथासिद्ध का दूसरा लक्षण प्रथम अन्यथासिद्ध में अतिव्यापि वारण के लिए है। दण्डरूप की तरह दण्डत्व का घट के प्रात पूर्ववर्तित्व स्वातन्त्र्येण नहीं है। परन्तु इसे हम द्वितीय प्रकार का अन्यथासिद्ध नहीं कह सकते क्योंकि दण्डत्व दण्ड का अवच्छेदक है, दण्ड में अवच्छिन्न नहीं है जबकि दण्ड रूप, यह विशेष्यता दण्ड में अवच्छिन्न हैं।

गंगेश ने द्वितीय अन्यथासिद्ध का लक्षण किया है—'अन्य के प्रति पूर्ववर्तित्व का ग्रहण करके ही जिसका कार्य के प्रति पूर्ववर्तित्व का ग्रहण होता है उसे द्वितीय अन्यथासिद्ध कहते हैं।' गंगेश के दूसरे अन्यथासिद्ध में विश्वनाथ के तीसरे और चौथे अन्यथासिद्ध, का अन्तर्भाव हो जाता है। ध्यान से देखा जाय तो अन्य के प्रति पूर्ववर्तित्व' इस पद का प्रयोग तृतीय और चतुर्थ दोनों में भिन्न-भिन्न दृष्टि से किया गया है। तृतीय अन्यथासिद्ध में कार्य के कारण के पूर्ववर्तित्व पर अन्यथासिद्ध का पूर्ववर्तित्व निर्भर नहीं करता अपितु, किसी अन्य के प्रति पूर्ववर्तित्व का ज्ञान होने पर उसका कार्य के प्रति पूर्ववर्तित्व का ज्ञान होता है। जैसे, आकाश का पूर्ववर्तित्व घट पर निर्भर

१. यत् स्वातन्त्र्येण तत्कार्यनिरूपितान्वयव्यतिरेकशून्यत्वे सति तत्कार्यकारणावच्छिन्न-स्वरूपनिष्ठतत्कार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तिग्रहविशेष्यताकं, तत् तत्कार्यं प्रत्यन्यथा-सिद्धमित्यर्थः। (दिन०)

है। आकाश नित्य और विमु हैं सब देश और सब काल में रहता है। आकाश का घट के प्रति पूर्ववर्तित्व घट के कारण पर निर्भर नहीं है। इसके विपरीत चतुर्थ अन्यथासिद्ध के कार्य प्रति पूर्ववर्तित्व का ज्ञान कार्य के कारण के पूर्ववर्तित्व ज्ञान पर निर्भर करता है किसी अन्य पर नहीं, कुलाल के पिता का घट के प्रति पूर्ववर्तित्व घट के कारण कुलाल पर निर्भर नहीं है।

इस प्रकार, हम देखते कि विशिष्ट बुद्धि के द्वारा प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ का भेद स्पष्ट किया जा सकता है।

विश्वनाथ ने अन्य चारों अन्यथासिद्ध का अन्तर्भाव पाँचवे में किया है क्योंकि अन्य चार प्रकार के अन्यथासिद्ध भी पंचम अन्यथासिद्ध की तरह नियतपूर्ववर्ती से अतिरिक्त है।[1]

१. पञ्चमन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात्। (न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० २२)

कार्य को परिभाषा

कारण की परिभाषा करते हुए हमने उसे 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्ती' कहा परन्तु यहाँ एक प्रश्न अभी भी शेष रह जाता है कि कारण का अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्व किसके प्रति है ? अनन्यथासिद्धनियतपश्चात्वर्ती के अभाव में अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्ती का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतः, इस परिच्छेद में हम कार्य के स्वरूप पर विचार करेंगे।

वस्तुतः, ध्यान से देखा जाय तो भारतीय दर्शन में कारणवाद सम्बन्धी विवाद मुख्यतः कार्य के स्वरूप को लेकर ही है। कारण की सत्ता सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं। कार्य ही समस्त विवाद का जड़ है। सांख्ययोग कार्य को उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् मानते हैं तो न्याय वैशेषिक उसे उत्पत्ति के पूर्व असत् मानते हैं किन्तु कार्य की सत्ता दोनों स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत वेदान्त कार्य को कारण का विवर्त-मानते हैं। अतः, कार्य की परिभाषा करके उसके स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

केशवमिश्र द्वारा की गई परिभाषा के अनुसार कार्य 'अनन्यथासिद्धनियतपश्चात्वर्ती' है।[1] मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है, यहाँ घट कार्य है क्योंकि वह अनन्यथासिद्ध नियतपश्चात्वर्ती है। घट नियतपश्चात्वर्ती है क्योंकि कारण व्यापार के साथ ही घट कार्य की उत्पत्ति होती। कुम्भकार के मृत्तिका में जल मिश्रित कर चक्र घुमाने के साथ हो घट का उत्पत्ति होती है। घट अपने कारण मृत्तिका के प्रति अनन्यथासिद्ध भी है। घट का मृत्तिका से साक्षात् सम्बन्ध है परम्परया नहीं। कारण के परिभाषा के आधार पर की गई कार्य की यह सामान्य परिभाषा है।

अन्नभट्ट द्वारा की गई परिभाषा के अनुसार 'कार्य प्रागभाव का प्रतियोगी' है।[2] अर्थात् घट अपनी उत्पत्ति से मृत्तिका में स्थित घट के प्रागभाव को दूर कर देता है, इसलिए धट कार्य है। यहाँ परिभाषा में प्रयुक्त 'प्रागभाव' और 'प्रतियोगी' पद को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

प्रागभाव का अर्थ होता है जिसका पहले अभाव हो बाद में अभाव न हो अर्थात् प्रागभाव अनादि ओर सान्त है। यहाँ प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव का भेद समझ लेना चाहिए। प्रध्वंसाभाव भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल में रहता है अर्थात् प्रध्वंसाभाव अनन्त है। इसके विपरीत प्रागभाव भूतकाल में रहता है भविष्य में नहीं।

---

१. अनन्यथासिद्नियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्। (तर्क भाषा)

२. कार्यं प्रागभावप्रतियोगि। (तर्क संग्रह)

घठ की उन्पत्ति के पूर्व 'यहाँ घट होगा' इस प्रतीति विषयक अभाव को प्रागभाव कहते हैं।[1] इस प्रागभाव के प्रतियोगी को या प्रागभाव को नष्ट करने वाले को कार्य कहते हैं।

'प्रतियोगी' पद अधिकांशतः विरूद्धत्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—कार्य प्रागभाव का प्रतियोगी हैं इसका यह अर्थ होता है कि कार्य प्रागभाव का विरोधी है। घट के उत्पन्न होते ही घट का प्रागभाव दूर हो जाता है। संक्षेप में, प्रागभाव के अभाव को उस कार्य का प्रतियोगी कहते हैं।

अन्नभट्ट की कार्य की परिभाषा में एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि प्रागभाव कार्य के साथ सम्बन्ध कैसे होता है ? नैयायिकों ने इस समस्या का समाधान प्रतियोगिता सम्बद्ध के द्वारा किया है। प्रतियोगिता सम्बन्ध दो भाव पदार्थों के बीच ही नहीं होता, अपितु दो अभाव अथवा भाव और अभाव पदार्थों के बोच भी प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है। प्रागभाव और कार्य के बीच भी प्रतियोगिता सम्बन्ध हो सकता है।[2]

कार्य प्रागभाव का प्रतियोगी होता है। परन्तु स्वयं प्रागभाव को हम कार्य नहीं कह सकते क्योंकि प्रागभाव अनादि है, अकृतक है। कार्य सादि अर्थात् कृतक होता है। कार्य अनन्त हो सकता है परन्तु अनादि नहीं। जैसे, प्रध्वंसाभाव कार्य अनन्त है परन्तु अनादि नहीं। जिसका आरंभ हो, जिसकी उत्पत्ति हो, उसे 'कार्य' कहते हैं।[3]

कार्य दो प्रकार के होते हैं—भाव रूप कार्य और अभावरूप कार्य। भावरूप कार्य सादि और सान्त है। जैसे, घट, पटादि। अभावरूप कार्य सादि और अनन्त हैं। जैसे, घटध्वंस आदि। भावरूप कार्य की उत्पत्ति के लिए समवायि, असमवायि और निमित्त तीनों कारणों की आवश्यकता होती है। परन्तु अभावरूप कार्य के लिए केवल

---

१. उत्पत्तेः पूर्वं 'इह घटो भविष्यति' इति या प्रतीतिर्जायते तत्प्रतीतिविषयो योऽभावः स प्रागभावः तत्प्रतियोगि घटादिकार्यम्। (न्या० बो०)

२. 'प्रतियोगी' और 'अनुयोगी' इन दोनों पदों को विस्तार से समझ लेना आवश्यक है। जिसका विशेषण रूप से ज्ञान होता है उसे प्रतियोगी कहते है तथा जिसका विशेष्य रूप से ज्ञान होता है उसे अनुयोगी कहते हैं। जैसे, 'घटवद् भूतलम्' में घट विशेषण है और भूतल विशेष्य अर्थात् घट प्रतियोगी है और भूतल अनुयोगी है। भूतल में घट संयोग सम्बन्ध से रहता है अतः, उसकी प्रतियोगिता संयोग सम्बन्त है।

३. न्यायदार्शनिक अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं। न्याय दर्शन में अभाव के दो भेद किए गए हैं। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के पुनः तीन भेद किए गए हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव।

निमित्त कारण की आवश्यकता होती हैं। जैसे, घट की उत्पत्ति के लिए मृत्तिका, कपालद्वय संयोग, दण्ड, चक्र, कुलालादि सबको आवश्यकता होती है। परन्तु घट नाश के लिए दण्ड प्रहार भूत निमित्त कारण की ही आवश्यकता होती है।

कार्य की तरह कारण दो प्रकार के होते हैं—भावरूप कारण और अभावरूप कारण। भावरूप कारण—जैसे, मृत्तिका, कपालद्वय संयोग, दण्ड, चक्र, कुलालादि हैं। अभावरूप कारण—जैसे, प्रतिबन्धकाभाव और प्रागभाव है।

न्याय ने कार्य की परिभाषा करके अपने कारणवाद के सिद्धान्त अर्थात् आरम्भवाद को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। कार्य का प्रागभाव है, कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व नहीं रहता है, इसका अर्थ होता है कि कार्य की नवीन उत्पत्ति होती है। कारण में कार्य के पूर्व असत्त्व को नैयायिक असत्कार्यवाद या आरम्भवाद कहते हैं। कार्य के स्वरूप के विषय में ही न्याय और सांख्य का मुख्य विवाद है। सत्कार्यवादी सांख्य के अनुसार कार्य को नवीन उत्पत्ति नहीं होती। कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, कारणव्यापार के द्वारा वही अव्यक्त रूप व्यक्त हो जाता है। इसके विपरीत आरम्भवादी नैयायिक कार्य की नवीन उत्पत्ति मानते हैं। कार्य कारण की ही आविभवावस्था नहीं है, कारण से पृथक उसकी अपनी नवीन सत्ता है। रघुनाथ शिरोमणि ने अपने आठ पदार्थ-विभाजन में कार्य को भी एक स्थान दिया है।[1]

खेद की बात यह है कि सांख्य और बौद्ध ने प्रागभाव का अर्थ अत्यन्ताभाव करके न्याय पर असत् से सत् की उत्पत्ति का आरोप लगाया है। परन्तु प्रागभाव का अर्थ अत्यन्तभाव कथमपि नहीं किया जा सकता। प्रागभाव अत्यन्ताभाव की तरह अनादि, अनन्त नहीं है। कारण में कार्य का प्रागभाव है इसका यह तात्पर्य नहीं कि कारण में कार्य असत् है या उसका अत्यन्ताभाव है। तन्तुओं में पट का प्रागभाव है इसका यह अर्थ नहीं कि तन्तुओं में पट का अत्यन्ताभाव है। तन्तुवाय असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं करता अपितु, कारक व्यापार के द्वारा अर्थात् ताना बाना बुनकर पट के प्रागभाव को दूर कर पट की उत्पत्ति करता है। कार्य का प्रागभाव, अनुयोगी तथा प्रतियोगी की अपेक्षा करता है। यदि प्रागभाव असत् या शून्य होता तो अनुयोगी और प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं करता। नैयायिकों ने स्वयं असत् से सत् की उत्पत्ति का खण्डन किया है।

सांख्य-योग के अनुकार कार्य कारण की आविर्भवावस्था है। आविर्भूति या परिणति तीन प्रकार की होती है। धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परि-

१. तस्मात् कार्यत्वं कारणत्वं चोभयमेवातिरिक्तं भिन्नं चेति कृतं पल्लवितेनेति। (पदार्थ तत्त्व निरू०)

णाम। बीज जब वृक्ष में परिवर्तित होता है तब उसे धर्म परिणाम कहते हैं। त्रैकालिक परिणाम को लक्षण परिणाम कहते हैं। जैसे, बीज से वृक्ष, वृक्ष से फूल, पुनः फूल से फल की परिणति को लक्षण परिणाम कहते हैं। वर्तमान वृक्ष में ही कालभेद से जो नयापन या पुरानापन आता है उसे अवस्था परिणाम कहते हैं।[1]

न्याय ने कारण के तीन भेद किए हैं—समवायि, असमवायि और निमित्त परन्तु कार्य का ऐसा कोई भेद नहीं किया हैं। न्याय में इस प्रकार के कार्य भेद की कोई आवश्यकता नहीं है। परिणति में ही प्रकारता संभव है उत्पत्ति या आरंभ में नहीं। सांख्य परिणामवादी है उसके अनुसार बीज का परिणाम अङ्कुर, अङ्कुर का परिणाम पौधा और पौधे का परिणाम वृक्ष है। इस प्रकार सब मूल रूप से बीज के ही परिणाम हैं। परिणाम में विकास का ऐसा क्रम देखा जाता है। इसके विपरीत न्याय के अनुसार जब बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है तब अङ्कुर की नवीन उत्पत्ति होती। अङ्कुर से पौधे की नवीन उत्पत्ति होती है। पौधे से वृक्ष, वृक्ष से फूल और फूल से फल की नवीन उत्पत्ति होती हैं। अङ्कुर, पौधा आदि सभी बीज के परिणाम नहीं है। अतः, इसमें किसी प्रकार के विकास का क्रम नहीं देखा जा सकता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि न्याय कार्य की परिभाषा करके अपने मूल कारणवाद के सिद्धान्त आरम्भवाद को स्पष्ट करता है। कारण को पूर्ववर्ती और कार्य को पश्चात्वर्ती कह कर अपने भेदवाद को स्पष्ट करता है।

---

१. योग भा० ३।१६

करण की परिभाषा

न्याय के अनुसार किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए समवायि, असमवायि और नितित्त तीन प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है। जैसे, घट की उत्पत्ति में समवायि कारण मृत्तिका, असमवायिकारण कपालद्वय संयोग, निमित्तकारण कुम्भकार, दण्ड, चक्रादि सभी आवश्यक हैं। इस पर बाद में विस्तार से विचार किया जायगा। यहाँ यह प्रश्न उठता हैं कि इन तीनों कारणों में से कौन सा प्रमुख है या इन तीनों कारणों में से कौन सा ऐसा प्रकृष्टतम कारण है जिससे तत्काल कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। घट की उत्पत्ति में दण्ड ही ऐसा कारण है जिसके व्यापारवान होने से तत्काल घट की उत्पत्ति हा जाती है। दण्ड ही घट का सबसे निकटवर्ती प्रमुख कारण को नैयायिक 'करण' कहते हैं।'

वैयाकरण साधकतम को करण करते हैं।[1] कार्य को उत्पत्ति में आवश्यक अनेक साधकों में से साधकतम को अथवा चरमकारण को करण कहते हैं। नैयायिको ने भी वैयाकरण-मत का समर्थन किया है। केशवमिश्र ने साधकतम को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'अतिशयित साधक अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कारण ही साधकतम होने से करण कहलाता है। कारणों में प्रमुख चरमकारण को करण कहते हैं।[2] जैसे, प्रत्यक्ष प्रभा की उत्पत्ति में प्रमाता, प्रमेय और इन्द्रिय-संयोग तीनों कारण हैं। परन्तु प्रमाता और प्रमेय के रहने पर भी इन्द्रिय-संयोग के बिना प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रिय-संयोग, प्रमाता, प्रमेय की अपेक्षा अतिशययित साधकतम होने से प्रत्यक्ष प्रमा में करण है।[3]

अन्नभट्ट ने करण की परिभाषा इस प्रकार से की है :—

'असाधारण कारण ही करण हैं'।[4] अर्थात् असामान्य कारण को करण कहते हैं। असाधारण पद दिक् कालादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है।[5] नैयायिकों ने ईश्वर, ईश्वर का ज्ञान, उसको इच्छा, कृति, प्रागभाव दिक् काल, अदृष्टादि इन आठों कारणों को सभी कार्यों के लिए आवश्यक माना है।[6] ये आठों कारण कार्य

---

१. साधकतम करणम्। (लघु सि० कौ० १।४।४२)

२. साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः।
(तर्क भाषा)

३. सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च, प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति, अविलम्वेन प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्। (तर्क भाषा)

४. असाधारणं कारणं करणं करणम्। (तर्क संग्रह)

५. दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति (तत्त्व दीपिका)

६. ईश्वरस्तद्ज्ञानेच्छाकृतयः प्रागभावकालदिगदृष्टान्यष्टौ साधरणानि।
(वाक्य वृत्ति)

सामान्य के प्रति कारण हैं अतः, इनको हम करण नहीं कह सकते। इसके विपरीत दण्ड घट के प्रति असाधारण कारण है क्योंकि यह कार्य विशेष घट के प्रति ही कारण है पटादि अन्य कार्यों के प्रति नहीं।

अन्नभट्ट की इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष आ जाता। घट की उत्पत्ति में मृत्तिका, कपाल द्वयसंयोग, चक्र तथा कुलालादि भी दण्ड की ही तरह असाधारण हैं। ये कारण भी मात्र घट के प्रति ही कारण हैं, पटादि के प्रति नहीं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या ये सभी करण हैं? या इनमें भी जो असाधारण है वह करण है? इनके असाधारणत्व की क्या परिभाषा है? इसको अन्नभट्ट ने स्पष्ट नहीं किया हैं।

अन्नभट्ट की करण की परिभाषा के अनुसार अरण्यस्थ दण्ड में भी करण की अगिव्याप्ति होती है। घट की उत्पत्ति में दण्ड की तरह अरण्यस्थ दण्ड भी असाधारण कारण है। अरण्यस्थ दण्ड में करण के परिभाषा की अतिव्याप्ति वारण के लिए ही तर्क-संग्रह के टीकाकारों ने 'असाधारणकारणं करणम्' इस परिभाषा में 'व्यापारवत्वे सति' यह पद जोड़ दिया है।[1] अर्थात् व्यापारवान असाधारण कारण ही करण हो सकता है। इससे अरण्यस्य दण्ड में करण की अतिव्याप्ति नहीं होती। अरण्यस्थ दण्ड घट की उत्पत्ति में असाधारण है परन्तु उसमें व्यापार या क्रिया नहीं होती अतः, उसे हम करण नहीं कह सकते। व्यापारवत् कह देने से मृत्तिका और कपालद्वय संयोग में भो करण की अतिव्याप्ति नतों होती। मृत्तिका और कपालद्वय संयोग व्यापारवान नहीं है। अतः, घट को उत्पत्ति में असाधारण होने पर भी इन्हें हम करण नहीं कह सकते। इनमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'व्यापारवत् कारणं करणम्' इतनी ही करण को परिभाषा की जाय। करण की इतनी ही परिभाषा करने से ईश्वरादि में अतिव्याप्ति हो जातो है। ईश्वरादि भी व्यापारवान है अतः, उन्हें भी करण मानना होगा। 'असाधारण' पद से ईश्वरादि का वारण हो जाता है। ईश्वादि व्यापारवान हैं परन्तु घट की उत्पत्ति में असाधारण नहीं हैं। अतः, उन्हें हम करण नहीं कह सकते।

अब प्रश्न उठता है कि व्यापारवत्व क्या है? व्यापारत्व जनकत्व को कहते हैं एवं व्यापारवत्व जनकता सम्बन्ध को कहते हैं।[2] व्यापार से कार्य उत्पन्न होता है अतः, उसके आश्रय को व्यापारवान कहते। जैसे, चक्रभ्रमण से घट उत्पन्न होता है अतः, उसके आश्रय दण्ड में व्यापारवत्व है अर्थात् दण्ड व्यापारवान है। व्यापार के लिए तीन बातें आवश्यक हैं:—

१. व्यापारवत्त्वे सतीति पूरणीयम्। (न्याय, कु० बोधिनी)

२. अत्र व्यापारवत्त्वं जनकतासम्बन्धेन बोध्यम्। व्यापारत्वं च जनकत्वमात्रम्। (वाक्य वृत्ति)

१. व्यापार को कारण से उत्पन्न होना चाहिए ।

२. व्यापार को कारण से उत्पन्न कार्य का जनक होना चाहिए ।

३. व्यापार को द्रव्य नहीं होना चाहिए।[1]

यहाँ घट की उत्पत्ति में चक्रभ्रमण व्यापार है क्योंकि इसमें व्यापार के तीनों लक्षण घटते हैं। प्रथम तो यह घट के कारण दण्ड से उत्पन्न होता है। दूसरे चक्रभ्रमण दण्ड जन्य घट का जनक है। तीसरे चक्रभ्रमण द्रव्य से भिन्न भी है। चक्रभ्रमण को हम करण नहीं कह सकते क्योंकि व्यापार स्वयं करण नहीं है, व्यापारवत् अर्थात् व्यापार का आश्रय करण है। यहाँ चक्रभ्रमण व्यापार का आश्रय दण्ड है। अतः, दण्ड करण है। प्राचीन नैयायिकों की इस परिभाषा में कुछ ऐसी समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं जिन पर उनका ध्यान नहीं गया।

प्रथम शंका यह उठती है कि कुम्भकार दण्ड के द्वारा चक्र चलाता है वह भी दण्ड की तरह क्रिया या व्यापार का आश्रय है। अतः, प्राचीन नैयायिक कर्त्ता को भी क्यों नहीं करण मानते ?

उपर्युक्त परिभाषा में दूसरी शंका यह उपस्थित होती है कि जिस प्रकार दण्ड चक्रभ्रमण का आश्रय है उसी प्रकार चक्र भी चक्रभ्रमण का आश्रय है तब प्राचीन नैयायिक क्यों दण्ड को ही करण मानते हैं, चक्रभ्रमण को क्यों नहीं करण मानते ?

उपर्युक्त परिभाषा स्वीकार कर लेने पर तीसरी समस्या यह उपस्थित होती है कि कुछ कारण ऐसे हैं जो व्यापारवान न होते हुए भी करण हैं। जैसे, लिङ्गपरामर्श व्यापारवान न होते हुए भी अनुमिति प्रमा का करण है।

सम्भवतः, उपर्युक्त समस्याओं के समाधान के लिए ही नव्य नैयायिकों ने करण की परिभाषा का परिष्कार किया है। उनके अनुसार फलयोग से अवच्छिन्न कार्य का का सबसे निकटवर्ती कारण करण है।[2] व्यापारवान करण नहीं है अपितु, व्यापार स्वयं करण है क्योंकि व्यापार ही कार्य का सबसे निकटवर्ती है। चक्रभ्रमण का आश्रय दण्ड करण नहीं है अपितु, चक्रभ्रमण स्वयं करण है क्योंकि चक्रभ्रमण ही घट का उत्पत्ति में सबसे निकटवर्ती कारण है। नव्य नैयायिकों की करण की यह परिभाषा वैयाकरणों की तथा केशव मिश्र की 'साधकतमं करणम्' परिभाषा के समान है। सबसे निकटवर्ती, प्रकृष्टतम या साधकतम ही फलयोग से अवच्छिन्न रह सकता है।

नव्य-नैयायिकों के इस परिष्कार से प्राचीन-नैयायिकों की परिभाषा में उठाई गई तीनों शंकाओं का समाधान हो जाता है। 'फलायोगव्यवच्छिन्नम्' इस परिभाषा के

---

१. व्यापारस्तजन्यस्य हेतुस्तज्जन्यो द्रव्यतोऽपरः ।
यथा चक्रादेर्भमणं वासनानुभवस्य च ॥ (न्या० प्रदीप श्लो० २७)

२. फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् ।

अनुसार कर्त्ता में करण की अतिव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि कुम्भकार घट की उत्पत्ति में व्यापारवान होते हुए भी फलायोगव्यवच्छिन्न नहीं है। अर्थात् कुम्भकार के व्यापारवान होते ही घट की उत्पत्ति नहीं होती अतः उसे हम करण नहीं कह सकते।

दूसरी शंका यह उठाई गई है कि चक्रभ्रमण के आश्रय दण्ड और चक्र दोनों है, दोनों में से कौन सा करण है। परन्तु नव्य नैयायिको की परिभाषा में ऐसी शंका नहीं उठती। यहाँ चक्रभ्रमण व्यापार स्वयं करण है क्योंकि यह फलयोग घटोत्पत्ति से अवच्छिन्न है। अतः, चक्रभ्रमण के आश्रय दण्ड और चक्र में से कौन सा करण होगा इसका यहाँ प्रश्न नहीं उपस्थित होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर लिङ्गपरामर्श में भी करण की अव्याप्ति नहीं होती। लिङ्गपरामर्श व्यापारवान न होते हुए भी करण हो सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्षप्रमा भूत फल का सबसे निकटवर्ती कारण है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि नव्य-नैयायिकों की कारण की परिभाषा प्राचीन परिभाषा का परिष्कार है। परन्तु नव्य परिभाषा के अनुसार यह निश्चित करना मुश्किल हो जाता है कि किस परिस्थिति में कौन सा कारण 'करण' होगा। कभी असमवायिकारण करण हो जाता है तो कभी निमित्तकारण। दारू छेदन क्रिया में दारु-परशु संयोग, असमवायिकारण करण है तो घट की उत्पत्ति में चक्रभ्रमण निमित्त कारण करण है। परन्तु प्राचीनमत में यह निश्चित है कि निमित्त कारण ही करण होगा, असमवायि कारण नहीं।

अन्नभट्ट द्वारा दिए गए प्रत्यक्षप्रमा, अनुमिति प्रमा एवं उपमिति प्रमा के उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्राचीन और नव्य दोनों ही परिभाषाओं से सहमत हैं। वे प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रिय व्यापारवान को करण मानते हैं परन्तु अनुमिति प्रमा में लिङ्गपरामर्श फलायोगव्यवच्छिन्न को कारण मानते हैं।[1]

आठले और बोडस ने अन्नभट्ट का प्रत्यक्ष प्रमा में प्राचीन मत एवं अनुमिति प्रमा में नव्य मत स्वीकार करने का प्रयोजन स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अन्नभट्ट ने प्राचीनमत प्रारम्भिक अध्येता के सुबोध के लिए अपनाया है तथा नवीनमत परिपक्व विद्यार्थियों के लिए अपनाया है।[2]

हमारी दृष्टि से अन्नभट्ट प्राचीन और नवीन दोनों ही मत नहीं स्वीकार करते। जहाँ जो असाधारण दिखाई दिया उसको उन्होंने करण मान लिया। अन्नभट्ट की परिभाषा में दोष केवल इतना ही है कि उन्होंने 'असाधारण' अद को स्पष्ट नहीं किया है।

---

१. (क) एवं सन्निकर्षजन्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तत्करणमिन्द्रियम्। (तर्क संग्रह)
(ख) स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योः लिङ्गपरामर्श एव करणम् (तर्क संग्रह)

२. Tark Sangrah

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नव्य नैयायिकों को करण की परिभाषा ही स्वीकार कर लेना चाहिए। निमित्त कारण हो या अकमवायि, फलयोग से अवच्छिन्न कारण ही करण होता।

पाश्चात्य दर्शन में करण सम्बन्धी विचार

यद्यपि पाश्चात्य दर्शन में 'करण' ऐसा कोई पद कारणता के प्रसङ्ग में प्रयुक्त नहीं हुआ है तथापि कुछ दार्शनिकों ने कारण के विवेचन में निकटवर्ती (प्रॉक्सिमेट कॉज) और दूरवर्ती कारण (रिमोट् कॉज) ये दो प्रकार के कारण बताये हैं। उनमें से निकटवर्ती कारण न्याय के करण से ही साम्य रखता है । उन पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार कभी-कभी पर्याप्त कारण सामग्री तथा आवश्यक कारण जान लेने पर भी सन्तुष्टि नहीं होती। उस अवस्था में निकटतम कारण को जान लेना आवश्यक हो जाता है। जैसे, किसी कम्पनी में आग लग जाए एवं मैनेजर के आग लगने का कारण पूछने पर यदि कर्मचारी यह उत्तर देता है कि' आग लग जाने का कारण आक्सीजन है तो मैनेजर संतुष्ट नहीं होगा। मैनेजर का आग लगने का कारण पूछने का प्रयोजन आवश्यक कारण से नहीं वरन् निकटतम कारण से है। इस प्रसङ्ग में पालिसी धारक ने कम्पनी में आग लगाई अतः, उसे ही निकटतम कारण कहते हैं।[1]

1. Copi I. M. Introduction To Logic, .

निष्कर्ष

भारतीय दर्शन में न्याय को छोड़कर अन्य कोई दर्शन इतने विस्तृत ढंग से इन परिभाषाओं पर विचार नहीं करता। नैयायिकों ने कारण को अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती तथा कार्य को अनन्यथासिद्ध नियत पश्चात्वर्ती कह कर कारण और कार्य के पौर्वापर्य भेद को स्पष्ट किया है। ध्यान से देखा जाय तो नैयायिकों की कारण की परिभाषा से यह स्पष्ट नहीं होता कि कारण, कार्य की उत्पत्ति के पूर्व ही नहीं उत्पत्ति के समय या उत्पत्ति के बाद भी कार्य के साथ-साथ रहता है। नैयायिकों के अनुसार तन्तु पट को उत्पन्न करके नष्ट नहीं हो जाता अपितु, पट के साथ-साथ रहता है। परन्तु 'अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती' इस परिभाषा से यह सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होता। इस परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि कारण, केवल पूर्व में ही रहता है, उत्पत्ति के समय या उत्पत्ति के बाद नहीं। हमारी दृष्टि से शिवादित्य की 'कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्' कारण की परिभाषा सर्वमान स्वीकार कर लेना चाहिए। इस परिभाषा में उपर्युक्त दोष नहीं आता।

कारण का कार्य के साथ साक्षात् अर्थात् अनन्यथासिद्ध सम्बन्ध होता है, परम्परया या अन्यथासिद्ध सम्बन्ध नहीं होता। पाश्चात्य दार्शनिक मिल ने भी कारण को नियतपूर्ववर्ती तथा निरूपाधिक कहा है। मिल का 'निरूपाधिक' पद नैयायिकों के 'अनन्यथा सिद्ध' से साम्य रखता है। दोनों में अन्तर यह है कि नैयायिक अन्यथासिद्ध के भेद कर उस पर विस्तार से विचार करते हैं जबकि मिल उपाधि का कोई भेद नहीं करते। गगेश ने अन्यथासिद्ध के तीन भेद किए। बाद में विश्वनाथ ने बुद्धि वैशद्य के लिए उसके पाँच भेद किए। हमारी दृष्टि में कारण की तथा अन्यथासिद्ध की परिभाषा में दो ऐसी समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं जिसका समाधान न्याय के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। नैयायिकों ने कारण को अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती कहा है। यहाँ 'अनन्यथासिद्ध' पद से ही गर्दभ में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है तब 'नियत पद' क्यों दिया गया है? इसके उत्तर में दिनकर तथा तर्ककौमुदीकार का कहना है कि रासभ घट विशेष के प्रति अन्यथासिद्ध हो परन्तु घटत्व सामामान्य के प्रति अनन्यथासिद्ध है।[1] यहाँ रामभत्व का प्रयोग मिट्टी ढोने के साधन के रूप में किया गया है। अतः, साधन सामान्य अनन्यथासिद्ध है, उसमें कारणता की अति व्याप्ति वारण के लिए 'नियत'

---

१. (क) तद्घटत्वावच्छिन्नेऽन्यत्रक्लृप्तनियतपूर्वत्याद्यन्यथासिद्धिमत्यपि घटत्वावच्छिन्नेऽनन्यथासिद्धे तद्रासभेऽतिव्याप्तिवारणायनियतेति। (दिनकरी)

(ख) (तर्क कौ०)

पद रखा गया है। हमारी दृष्टि में रासभ हो या रासभत्व दोनों में से कोई भी घट के प्रति अनन्यथासिद्धि नहीं हो सकता क्योंकि घट के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यदि रासभत्व सामान्य को हम घटत्व सामान्य के प्रति अनन्यथासिद्ध मान लेते हैं तो दण्डत्व और दण्डरूप को भी घट के प्रति अनन्यथासिद्ध मानना पड़ेगा।

कारण की परिभाषा में 'नियत' पद सार्थक है या नहीं इस तरह का सन्देह विश्वनाथ द्वारा की गई पंचम अन्यथासिद्ध की परिभाषा के दोष के कारण है। उन्होंने अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्ती से अतिरिक्त को पंचम अन्यथासिद्ध कहा है। इस प्रकार, अन्यथासिद्ध की परिभाषा में 'नियत' पद स्वयमेव समाविष्ट हो जाता है तब उसको अलग से परिभाषा में देने की आवश्यकता नहीं दीखती। या तो पंचम अन्यथासिद्ध की परिभाषा में परिवर्तन कर दिया जाय या कारण की परिभाषा में तभी समस्या का समाधान हो सकता है।

कार्य की परिभाषा करते हुए नैयायिकों ने उसे प्रागभाव का प्रतियोगी कहा है। इससे इस बात का स्पष्टीकरण होता है कि नैयायिक असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मानते। कारण में कार्य का प्रागभाव मात्र रहता है, आत्यान्तिक अभाव नहीं। कार्य की इस परिभाषा के द्वारा न्याय पर लगाए गए सांख्य और बौद्ध के मुख्य आरोप का स्वयमेव समाधान मिल जाता है।

नैयायिकों के अनुसार कारणों में जो साधकतम या प्रकृष्टतम है वह करण है। साधारण कारण से कार्य की उत्पत्ति के लिए 'करण' की आवश्यकता नहीं दीखती। परन्तु नैयायिकों द्वारा स्वीकृत प्रमा की उत्पत्ति में करण का ज्ञान उपयोगी सिद्ध होता है। करण के द्वारा हमें प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति प्रमा, उपमिति प्रमा और शब्द प्रमा का भेद स्पष्ट हो जाता है। इन चारों प्रमा के कारण पृथक्-पृथक् हैं। अतः, इन चारों का भेद स्पष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण है। अनुमिति प्रमा में लिङ्गपरामर्श करण है। उपमिति प्रमा में अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृत गोसदृश्यविशिष्ट-पिण्डज्ञान करण बनता है। शब्द प्रमा का करण आप्त वाक्य है। इस प्रकार चारो प्रमा के करण उनको एक दूसरे से व्यावृत्त कर देते हैं।

तृतीय अध्याय

कारण के भेद

कारण की परिभाषा करने से हमें यह तो ज्ञात हो जाता है कि घट की उत्पत्ति के लिए कुम्भकार, दण्ड, चक्र, मृत्तिका, कपालद्वय संयोग आदि सभी आवश्यक हैं क्योंकि ये सभी घट के प्रति अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती हैं, परन्तु यह बात स्पष्ट नहीं होती कि क्या इन सबकी कारणता एक सी है ? हम देखते हैं कि उनमें से कुछ कारण ऐसे हैं जो कार्य की उत्पत्ति होते ही कार्य से पृथक् हो जाते हैं। जैसे दण्ड, चक्र आदि घट की उत्पत्ति होते ही उससे पृथक् हो जाते हैं। परन्तु कुछ कारण कार्य की उत्पत्ति के बाद भी कार्य के साथ-साथ रहते हैं। जैसे, मृत्तिका घट की उत्पत्ति के बाद भी घट के साथ-साथ रहती हैं। ऐसे कारणों में कार्य समवेत रहता है। इस दृष्टि से ही नैयायिक कारणों का विभाजन करते हैं। नैयायिकों ने कारण के तीन भेद स्वीकार किए हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।[1]

समवायिकारण

समवायिकारण में समवेत होकर कार्य की उत्पत्ति होती है[2] और वह कार्य को उत्पन्न करके भी कार्य के साथ-साथ रहता है। जैसे, तन्तु पट का समवायिकारण है क्योंकि तन्तु में समवेत होकर पट की उत्पत्ति होती है और वह कार्य को उत्पन्न करके भी पट के साथ-साथ रहता है। अतः, तन्तु पट का समवायिकारण है।

समवायिकारण की इस परिभाषा के अनुसार शंका उठ सकती है कि द्रव्यत्वादि क्यों नहीं घट के समवायिकारण होते है ? कपाल एक द्रव्य हैं अतः, जिस प्रकार घट कपाल में समवेत हैं उसी प्रकार उसे द्रव्यत्वादि में भी समवेत रहना चाहिए। द्रव्यत्वादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए नव्य नैयायिको ने समवायिकारण की परिभाषा का परिष्कार किया है। उनके अनुसार समवायिकारण कार्यत्वावच्छिन्न की कारणता

---

१. (क) कारणं त्रिविधम् समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् (तर्क सं०)
   (ख) तर्क भा०
   (ग) भाषा परि० श्लो० १६, १७

२. (क) यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। (तर्क सं०)
   (ख) यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनक तत् (भाषा परि० श्लो० १८)
   (ग) तर्क भा०
   (घ) सप्तपदार्थी सू० २८०

के अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न होता है तथा उसमें समवाय संबंध से कार्य की उत्पत्ति होती है।[1] जैसे, कपाल घट का समवायिकारण है। कपाल, घटत्वावच्छिन्न घट की कारणता के अवच्छेदक कपालत्व से अवच्छिन्न है तथा कपाल में समवेत होकर ही घट की उत्पत्ति होती है। ऐसी परिभाषा करने से समवायिकारण की द्रव्यत्व में अतिव्याप्ति नहीं होती है। समवायिकारण को कार्य की कारणता से अवच्छिन्न रहना आवश्यक है, परन्तु द्रव्यत्व ऐसा नहीं है। घट के कारण कपाल की कारणता का अवच्छेदक कपालत्व ही हो सकता है, द्रव्यत्व नहीं। अवच्छेदक का अर्थ होता है पृथक् करने वाला अर्थात् कपाल को संसार के अन्य पदार्थों से अलग करने वाली कपालत्व जाति। कपाल को हम द्रव्य रूप में भी देखते हैं परन्तु कपालत्वावच्छिन्न कपाल का प्रयोग हम तब करते हैं जब हम कपाल को कपालरूप में ही देखते हैं। कपाल कपालत्वेन ही घट का कारण है द्रव्य रूप से या किसी अन्य रूप से नहीं।

यहाँ यदि कोई यह प्रश्न करता है कि कारणत्वावच्छिन्न कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति कारण है तो एक कारण से तद्जातीयक अनेक कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती हैं? इसके उत्तर में नैयायिक कहते हैं कि कारण का कार्य के प्रति नियत पौर्वापर्य क्रम ही नहीं, समानाधिकरण्य भी है। कारण को अव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन कार्य देश में रहना भी चाहिए अर्थात् कारण को कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कारण में समवेत होकर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। एक कारण में एक ही कार्य समवेत हो सकता है या कारण विशेष कार्य विशेष के प्रति ही अव्यवहित पूर्ववर्ती हो सकता है, अनेक कार्य के प्रति नहीं। कारणत्वावच्छिन्न कार्यत्वावच्छिन्न का ही कारण है न कि कार्य विशेष का। कार्य विशेष का कारण कारण-विशेष ही होता है (यद्यपि उसमें कारणत्व जाति रहती है)।

परिभाषा में 'स्वसमवेत' पद कपालसंयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए है। कपालसंयोग भी घट की उत्पत्ति में कारण है, परन्तु उसे हम समवायिकारण नहीं कह सकते क्योंकि उसमें घट समवेत नहीं रहता। यहाँ द्रव्यकारण और गुण कारण में भेद स्पष्ट किया गया है। सांख्य के अनुसार कपाल और कपालसंयोग, गुण और गुणी में कोई भेद नहीं है। अतः, दोनों को अलग-अलग कारण मानने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु न्याय के लिए गुण को अलग से कारण मानना आवश्यक हो जाता है। यहाँ गुण और गुणी दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

समवायिकारण की परिभाषा स्पष्ट करते हुए हमने मृत्तिका और घट, तन्तु और पट का उदाहरण दिया है। उससे यह स्पष्ट होता है कि अवयव अवयवी का

---

१. (क) यद्रूपावच्छिन्नं स्वकारणतावच्छेदकयद्धर्मावच्छिन्ने समवायसम्बन्धेनोत्पद्यते, तद्धर्मावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नमसमवायिकारणमित्यर्थः। (दिनकरी)
(ख) (नीलकण्ठी)

समवायिकारण है। केशवमिश्र ने 'गुणी अपने गुणों का समवायिकारण है' इसका एक दूसरा उदाहरण दिया है।[1] जैसे, घट अपने में रहने वाले रूपादि का समवायिकारण है। वस्तुतः यह उदाहरण गुण और गुणी में भेद स्पष्ट करने के लिए दिया गया है। न्याय के अनुसार कारण गुण से कार्य गुण की उत्पत्ति होती है। देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि गुण और गुणी की साथ-साथ उत्पत्ति होती है। जिस समय घट की उत्पत्ति होती है उसी समय घटरूप की भी उत्पत्ति होती है। गुणी और गुण में कोई पौर्वापर्य भाव नहीं दिखाई देता। अतः, दोनों में तादात्म्य मान लेना चाहिए। परन्तु नैयायिक गुणी और गुण में भेद मानते हैं। उस भेद के निर्वाह के लिए ही नैयायिक प्रथमक्षण में निर्गुण घट की उत्पत्ति की कल्पना करते हैं। नैयायिकों के अनुसार प्रथम क्षण में निर्गुण घट उत्पन्न होता है, उसमें घटगत रूपादि द्वितीय क्षण में आते हैं। अतः, घट और घटगत रूपादि में पौर्वापर्य भाव है। यदि दोनों की समकालिक उत्पत्ति मानते हैं तो दोनों की कारण सामग्री भी एक माननी होगी तथा दोनों का स्वरूप भी एक मानना होगा। परन्तु यहां घट और घटरूप का एक स्वरूप नहीं है तथा उनकी उत्पत्ति भी एक कारण-सामग्री से नहीं होती है। घट का कारण उसके अवयव और घटरूप का कारण घट है। इस प्रकार घट और घटरूप में पौर्वापर्य भाव मानना पड़ता है। दोनों को एक मान लेने पर घट को ही घट के प्रति कारण मानना पड़ेगा जो सर्वथा असंभव है। एक ही घट में पौर्वापर्य भाव नहीं बन सकता।[2]

यहां यह शंका उठ सकती है कि प्रथमक्षण में उत्पन्न रूप, स्पर्शादि रहित निर्गुण घट का प्रत्यक्ष नहीं होता तो उसकी उत्पत्ति से क्या लाभ ? केशवमिश्र ने इस समस्या का समाधान किया है। उनके अनुसार प्रथमक्षण में निर्गुण घट मान लेने पर व्यवहार में कोई आपत्ति नहीं होती है। घट का निर्गुण अस्तित्व केवल एक क्षण के लिए ही होता है। घट की सगुण उत्पत्ति मानने पर भी घट के उत्पन्न होते ही हम घट को नहीं देख सकते। एक क्षण के लिए पलक झप जाने पर उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है।[3]

---

१. अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम्। कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य।
न गुणगुणिनोः समकालीनं जन्म, किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथमुत्पद्यते पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते। समानकालोत्पत्तौ तु गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद् भेदो न स्यात्। कारणभेदनियतत्वात्कार्यभेदस्य। (तर्क भाषा)

२. तदा कारणभेदोऽप्यस्ति। घटो हि घटं प्रति न कारणमेकस्यैव पौर्वापर्याभावात्। (तर्क भाषा)

३. प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्येत का नो हानिः। न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसेर घटो गृह्यते। (तर्क भाषा)

द्रव्य का अर्थ होता है गुण का आश्रय होना। प्रथम क्षण का घट निर्गुण हैं, गुण का आश्रय नहीं है तब वह द्रव्य कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में केशवमिश्र का कथन है कि घट निर्गुण है, परन्तु उसमें गुणाश्रय की योग्यता है अतः, उसे हम द्रव्य कह सकते हैं। प्रथम क्षण में घट निर्गुण है, परन्तु दूसरे क्षण में उसमें गुण उत्पन्न होता है। उसमें गुण का अत्यन्ताभाव नहो है।[1]

समवायिकारण की परिभाषा करने से न्याय की कारणवाद से संबंधित निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :—प्रथम तो यह कि न्याय के अनुसार धर्म और धर्मी कार्य और कारण एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। इस भेदभाव का स्पष्टीकरण समवायिकारण की परिभाषा से हो जाता है। समवामिकारण की परिभाषा में दो पद प्रयुक्त है। समवेत और उत्पद्यता। समवेत कहने से यह ज्ञात होता है कि समवायिकारण में कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता है। 'उत्पद्यत' 'आश्रय' के अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् समवायिकारण कार्य का आश्रय भी है।[2] तात्पर्य यह कि तन्तु पट को उत्पन्न करता है तथा पट का आधार या आश्रय भी हैं। कारण आधार है और कार्य आधेय। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण की अपनी सत्ता हैं और कार्य को अपनी सत्ता। कार्य कारण में समवेत होकर उत्पन्न होता है तथा कारण से पृथक् भी है। इन विरोधी बातों को एक साथ संभव करने के लिए ही न्याय-वैशेषिक समवाय संबंध की कल्पना करते हैं।

न्याय के समवायिकारण का यह स्वरूप ही उसके कारणवाद के सिद्धान्त को सांख्य के कारणवाद के सिद्धान्त से अलग कर देता है। न्याय के अनुसार मृत्तिका घट का समवायिकारण है मृत्तिका घट का आधार हैं एवं मृत्तिका में समवेत होकर घट की उत्पत्ति होती है। यह मृत्तिका सांख्य के उपादानकारण की तरह स्वयं आविर्भूत होकर घट का रूप धारण नहीं कर लेती। न्याय के अनुसार मृत्तिका आधार है वह आधेय घट का रूप नहीं धारण कर सकती। घट मृत्तिका में समवेत है अर्थात् मृत्तिका में समवाय संबंध से रहता है, यह समवेतत्व घट और मृत्तिका में भेद मानने पर ही संभव है। यदि मृत्तिका ही आविर्मूत होकर घट का रूप धारण कर ले तो इस प्रकार का कारण-कार्य का भेद तथा दोनों के बीच संबंध का कल्पना व्यर्थ हो जाएगी। इस अवस्था में कारण और कार्य के बीच तादात्म्य मानना पड़ेगा।

---

१. न प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावाद् द्रव्यत्वापत्तिः। समवायिकारणं द्रव्यमिति द्रव्य-लक्षणयोगात्। योग्यता गुणाश्रयत्वाच्च। योग्यता च गुणानामत्यन्ताभावाभावः।
(तर्क भाषा)

२. यत्समवेतामित्युत्पत्तिक्रिया विशेषणम्। उत्पद्यत इति। उत्पत्याश्रयत्वमित्यर्थः।
(न्याय प्रदीप)

समवायिकारण और 'उपादान' कारण

सांख्य का उपादानकारण ही न्याय का समवायिकारण है। सांख्य मत में तन्तु पट का उपादान कारण है वही तन्तु न्याय मत में पट का समवायिकारण है। तब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या हम समवायिकारण के लिए 'उपादान' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं? न्याय और सांख्य दोनों ही तन्तु को पट का कारण मानते हैं तब यह शाब्दिक भेद क्यों है? वस्तुतः, यह शाब्दिक भेद न्याय और सांख्य के सैद्धान्तिक भेद का परिणाम हैं। इस सैद्धान्तिक भेद के कारण ही हम समवायि के लिए उपादान शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। सांख्य कारण और कार्य में तादात्म्य मानता है उनके अनुसार मृत्तिका ही आविर्भूत होकर घट का रूप धारण कर लेती है। अतः, उपादान कारण कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि कारण स्वयं कार्यरूप हो जाता है। नैयायिकों ने उसी उपादान को समवायि कहकर अपने सैद्धान्तिक भेद को प्रगट किया है। न्याय के अनुसार कारण और कार्य में भेद है, दोनों में आधाराधेयभाव हैं तथा दोनों समवाय संबंध से सम्बद्ध हैं। 'समवायिकारण' यह शब्द ही उनके इस सिद्धान्त को स्पष्ट कर सकता है, 'उपादान कारण' नहीं। समवायि कहने से 'आधारत्व' अर्थ प्रगट होता है, जिससे कारण आधार है और कार्य आधेय यह भेद स्पष्ट होता है। सांख्य के उपादान कारण का अर्थ होता है कि कारण कार्य को अपनी सत्ता देता है। परन्तु न्याय का समवायिकारण कार्य को अपनी सत्ता नहीं देता। कार्य समवायिकारण में समवेत अवश्य रहता है, परन्तु सयवायिकारण निमित्तकारण की ही तरह बाह्य है। संभवतः, इसी को स्पष्ट करने के लिए उद्योतकर ने तन्तु को तुरी आदि से अर्थान्तर नहीं माना है।[1] साथ ही उपादान कारण न होते हुए भी द्रव्य अपने द्रव्यरूप कार्य का समवायिकारण हो सकता है। जैसे, अग्नि अपनी उष्णता का समवायिकारण है और घट, घटगत रूप का समवायिकारण है।

असमवायिकारण

असमवायिकारण न्याय-वैशेषिक की अपनी विशिष्ट मान्यता है सांख्य तथा वेदान्त में असमवायिकारण की कल्पना नहीं की है गई। ऐसे कारण जिनमें कार्य साक्षात् रूप से न रहकर परम्परया समवेत रहता है उनको कार्य का असमवायिकारण कहते हैं। असमवायिकारण का अर्थ समवायिकारण का अभाव नहीं होता। इसका अर्थ समवायिकारण भिन्न होता है। असमवायिकारण समवायिकारण नहीं है परन्तु कार्य के साथ या कार्य के समवायिकारण के साथ कार्य के समवायिकारण में रहता है।[2]

---

१. अर्थान्तरं पटात्तन्तवः तद्धेतुत्वात् तुर्यादिवदिति। (न्या० वार्तिक)

२. यहां 'असमवायि' पद में प्रयुक्त नञ् प्रत्यय का प्रयोग प्रतिषेधपरक न करके पर्युदास परक अर्थ करना चाहिए।

असमवायिकारण को परिभाषित करते हुए आचार्यों ने उसकी दो विशेषतायें बताई हैं ।[1]

१. असमवायिकारण में कार्य को उत्पन्न करने का अवधृत सामर्थ्य होना चाहिए अर्थात् उसमें कार्य को उत्पन्न करने के लिए निश्चित सामर्थ्य होना चाहिए। उसे कार्य के प्रति अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती होना चाहिए एवं कार्य के प्रति उसका अन्वय-व्यतिरेकित्व होना चाहिए।[2]

२. असमवायिकारण को कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न रहना चाहिए अर्थात् एक आधार समवायिकारण में कार्य और असमवायिकारण दोनों की वृत्ति होनी चाहिए ।

तन्तु-संयोग पट का असमवायिकारण है । इसमें असमवायिकारण की दोनों विशेषतायें हैं । प्रथम तन्तुसंयोग में अवधृत सामर्थ्य है अर्थात् इसमें पट को उत्पन्न करने की क्षमता है । तन्तु-संयोग पट का नियतपूर्ववर्ती तथा अनन्यथासिद्ध है। दूसरे तन्तुसंयोग कार्य पट के समवायिकारण तन्तु में रहता है। कार्य के समवायिकारण तन्तु संयोग और पट दोनों की एक साथ वृत्ति है। असमवायिकारण तन्तुसंयोग और कार्य पट के बीच आधाराधेय भाव नहीं है परन्तु दोनों में सामानाधिकरण्य है ।

परिभाषा में प्रयुक्त 'आसन्न' और अवधृत-सामर्थ्य पद को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। 'आसन्न पद' समवायिकारण में अतिव्याप्ति वारण के लिए हैं। पट के समवायिकारण तन्तु में भी पट को उत्पन्न करने का अवधृत सामर्थ्य है परन्तु उसे हम असमवायिकारण नहीं कह सकते। असमवायिकारण को तथा कार्य को किसी एक अधिकरण में रहना चाहिए। तन्तु और पट किसी एक अधिकरण में नहीं रहते, पट तन्तु में रहता है और तन्तु अपने अवयवों में। अतः, तन्तु में असमवायिकारण की अतिव्याप्ति नहीं होती ।

अवधृत सामर्थय या 'जनकत्व' पद तन्तुत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है। तन्तुत्व में भी असमवायिकारणत्व का सन्देह हो सकता है क्योंकि कार्य पट और तन्तुत्व एक आश्रय तन्तु में रहते हैं। तन्तुत्व को हम असमवायिकारण नहीं कह

---

१. (क) असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थयं तदसमवायिकारणम् । (तर्क भाषा)
(ख) तत्राऽसन्नं जनकं द्वितीयम् । (भाषा परि० श्लो० १८)
(ग) समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थयमसवायिकारणम् ।
(सप्तपदार्थी सू० २८१)

२. अवधृतं निश्चितं, सामर्थ्यम् अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकित्वं यस्य तत् अवधृतसामर्थ्यम् । (सप्तपदार्थी व्याख्या)

सकते क्योंकि तन्तुत्व में असमवायिकारण की एक ही विशेषता है दूसरी विशेषता 'अवघृत सामर्थ्य नहीं है। तन्तुत्व पट का नियतपूर्ववर्ती है, परन्तु अनन्यथासिद्ध नहीं है। इसमें कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है।[1] इसीप्रकार, रूप और रस दोनों एक ही अधिकरण में रहते है, परन्तु रूप रस का असमवायिकारण नहीं हो सकता। एक अधिकरण में रहने पर भी रूप में रस की उत्पत्ति का सामर्थ्य नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि पटरूप का समवायिकारण पट है परन्तु इसका असमवायिकारण क्या है? तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण नहीं हो सकता क्योंकि इसमें असमवायिकारण की एक ही विशेषता है। तन्तुरूप पटरूप का नियतपूर्ववर्ती तथा अनन्यथासिद्ध है, परन्तु तन्तुरूप में असमवायिकारण की दूसरी विशेषता नहीं है अर्थात् तन्तुरूप और पटरूप किसी एक आश्रय में एक साथ नहीं रहते। तन्तुरूप तन्तु में रहता है और पटरूप पट में। परन्तु न्याय मत में कारण गुण से कार्य गुण की उत्पत्ति होती है।[2] द्रव्य, गुणा और कर्म तत्वत: अलग-अलग पदार्थ हैं अत:, तीनों का कारण भी अलग-अलग होना चाहिए। असमवायिकारण की परिभाषा तन्तुरूप में नहीं घटती। आचार्यो ने उपर्युक्त अव्याप्ति को दूर करने के लिए प्रत्यासत्ति के आधार पर असमवायिकारण के दो भेद किए।[3]

१. जो कार्य के साथ कार्य के समवायिकारण में रहता है वह प्रथम प्रकार का असमवायिकारण है। जैसे, तन्तु संयोग पट के समवायिकारण तन्तु में रहता है।

२. जो कार्य के समवायिकारण के साथ एक अधिकरण में रहता है उसे दूसरे प्रकार का असमवायिकारण कहते हैं। इससे उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है। अर्थात् तन्तुरूप में अव्याप्ति नहीं होती है। तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है क्योंकि वह पटरूप के समवायिकारण पट के साथ तन्तु में रहता है अर्थात् एक ही अधिकरण तन्तु में तन्तुरूप तथा पटरूप का समवायिकारण पट दोनों रहते हैं।

प्रथम प्रकार की प्रत्यासत्ति को कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति या समवाय सम्बन्ध प्रत्या-

---

१. तत्राऽऽसन्नमिति। इदं च समवायिकारणादावतिव्याप्तिवारणाय। पटसमवायिकारणतन्तुसमवेततन्तुत्वादावतिव्याप्तिवारणाय-जनकमिति। (दिन०)

२. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। (वैशेषिक सूत्र २।१।२४)

३. (क) प्रत्यासत्तिश्च समवायिकारणसमवायः समवायिकारणैकार्थसमवायश्च।
(न्याय कं०)

(ख) अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं, कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या, कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च। (न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० १८,)

(ग) समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्। (तर्क भा०)

सत्ति या साक्षात् प्रत्यासत्ति कहते हैं। दूसरे प्रकार की प्रत्यासत्ति को कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति या स्वसमवायि सम्बन्धेन प्रत्यासत्ति या परम्परया प्रत्यासत्ति कहते हैं।

असमवायिकारण की परिभाषा का परिष्कार

तुरी-तन्तु संयोग भी पट को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। तुरी-तन्तु-संयोग पट के साथ पट के समवायिकारण तन्तु में रहता है। उपर्युक्त असमवायिकारण की परिभाषा के अनुसार तुरी-तन्तुसंयोग को पट का असमवायिकारण, और तुरी-तन्तु संयोग के नाश से पट का नाश मानना चाहिए। न्याय-वैशेषिक असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश मानते हैं। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। तुरी-तन्तु संयोग नाश के बाद भी पट रहता है। विश्वनाथ ने इस दोष के परिहार के लिए असमवायिकारण की परिभाषा का परिष्कार किया है। उनके अनुसार पट के असमवायिकारण के लक्षण में तुरी-तन्तुसंयोग भिन्नत्व यह अंश जोड़ देना चाहिए। इस अंश के जोड़ देने पर असमवायिकारण की परिभाषा इस प्रकार होगी—तुरी-तन्तुसंयोग भिन्नत्वं, समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं पटासमवायिकारणम्।[1]

यह परिहार केवल पट विशेष के असमवायिकारण के लक्षण में ही करना चाहिए। असमवायिकारण की सामान्य-परिभाषा में तुरी-तन्तु संयोग भिन्नत्व नहीं दे सकते। तुरी-तन्तु संयोग पट का असमवायिकारण नहीं है परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह किसी का असमवायिकारण नहीं है। वह तुरी-पट संयोग का असमवायिकारण है क्योंकि असमवायिकारण के लक्षण की दोनों ही विशेषताएँ उसमें हैं। तुरी-तन्तु संयोग तुरी-पट संयोग के प्रति अनन्यथासिद्ध नियत पूर्ववर्ती है। तुरी-तन्तु संयोग और तुरी-पट संयोग दोनों एक ही अधिकरण तन्तु में रहते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार तुरी-तन्तु संयोग तथा तुरी-पट संयाग दोनों दो पृथक्-पृथक् पदार्थ माने जाते हैं तथा संयोगजसंयोग भी स्वीकार किया जाता है। एक संयाग की उत्पत्ति दूसरे सयोग से मानी जाती है।

असमवायिकारण की परिभाषा में दूसरी शंका यह उठती है कि वेग भी अभिघात[2] का नियतपूर्ववर्ती तथा अनन्यथासिद्ध है। अभिघात और वेग दोनों एक अधिकरण

---

१. ....तथाऽपि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं देयम्।
(न्याय सिद्धांत मु० श्लो० १८)

२. संयोग दो प्रकार के होते हैं—अभिघात और नोदन। जब एक वेगयुक्त वस्तु दूसरी वस्तु से संयुक्त होती है और उस संयोग से ध्वनि उत्पन्न होने के बाद उस वेगयुक्त वस्तु तथा दूसरी वस्तु का बिभाग होता है तो उसे अभिघात कहते हैं। जिस संयोग से ध्वनि नहीं होती उसे नोदन कहते हैं। जैसे, वेगयुक्त गेंद का भूमि से संयोग होता है और उस संयोग से ध्वनि उत्पन्न हाती है पुनः वह गेंद भूमि से अलग हो जाता है इस संयोग को अभिघात कहते हैं।

गेंद में रहते हैं। अतः, वेग को अभिघात का असमवाकिारण क्यों नहीं मानते ? जब असमव यिकारण का पूर्ण लक्षण इसमें घट जाता है नब उसे असमवायिकारण मान लेने में कोई दाष नहीं होना चाहिए। वस्तुतः परिभाषा के अनुसार इसे हम असमवायिकारण मान सकते थे लेकिन ऐसा मान लेने पर न्यायवैशेषिक के मूल सिद्धान्त 'कारण के नाश से कार्य्य का नाश होता है' का खण्डन हो जाएगा। वेग अभिघात काय दि असमवायिकारण है तो वेग के नाश से अभिघात का नाश हो जाना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता। वेग नाश के बाद भी अभिघात की स्पन्दन क्रिया चलती रहती हैं। असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता। अतः, असमवायिकारण की परिभाषा घटित हाने पर भी वेग को अभिघात का असमवायिकारण नहीं मान सकते। विश्वनाथ ने इसी अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए अभिघात के असमवायिकारण की विशिष्ट परिभाषा में 'वेगभिन्न' यह पद जोड़ दिया है। वेग के असमवायिकारणत्व का परिहार केवल अभिघात कार्य के प्रति ही किया गया है। सामान्य रूप से वेग के असमवायिकारणत्व का खण्डन नहीं किया गया है क्योंकि वेग स्वजन्यस्पन्दन क्रिया का असमवायिकारण है।[1]

असमवायिकारण की परिभाषा में तीसरा दोष यह आ जाता है कि आत्मा के गुण जो कभी भी असमवायिकारण नहीं होते, उनमें असमवायिकारण का लक्षण पूर्णरूप से घट जाता है। जैसे, आत्मा में ज्ञान के बाद इच्छा होती है और इच्छा के बाद प्रवृत्ति यहाँ ज्ञान इच्छा का असमवायिकारण हो सकता है। ज्ञान इच्चा का नियतपूर्ववर्ती अन्यथासिद्ध हैं तथा ज्ञान इच्छा के साथ-साथ इच्छा के समवायिकारण आत्मा में रहता है।[2]

---

१. एवं वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति तत्तत्कार्यासमवायिकारण-लक्षणे तत्तद्भिन्नत्वं देयम्।

(न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० १८)

२. (क) इसी प्रकार वेगादि में आदि पद से स्पर्श और अभिघातादि पद से नोदन अर्थ लेना चाहिए। जिस प्रकार वेग में असमवायिकारण का लक्षण घटित होने पर भी वह अभिघात का असमवायिकारण नहीं है उसी प्रकार नोदन में असमवायिकारण का लक्षण घटित होने पर भी वह स्पर्श का असमवायिकारण नहीं होता।

(ख) अभिघात संयोग के द्वारा प्रथम ध्वनि तो वेग से उत्पन्न होती है। परन्तु उसके बाद लगातार जो ध्वयियाँ उत्पन्न होती है वे वेग से ही उत्पन्न होती हैं। वेग स्वजन्य क्रिया का असमवायिकारण है क्योंकि वेग तथा क्रिया दोनों क्रिया के समवायिकारण गेंद में रहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब असमवायिकारण का लक्षण ज्ञान में पूर्ण रूप से घट जाता है तब उसको असमवायिकारण क्यों नहीं मानते ? वस्तुतः, आत्मा के गुण को असमवायिकारण मानने में कल्पना गौरव होगा, अनेक प्रकार का असमवायिकारण मानना पड़ेगा। साथ ही ज्ञान को इच्छा का असमवायिकारण मानने पर 'कारण के नाश से कार्य का नाश होता हैं' न्याय-वैशेषिक के इस मत का पोषण नहीं हो पाता है। ज्ञान के नाश से इच्छा का नाश नहीं होता। ज्ञान को इच्छा का असमवायिकारण न मानने का तीसरा तर्क है कि ज्ञान इच्छा का नियतपूर्ववर्ती नहीं है। यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उसको प्राप्त करने की इच्छा हो। उस वस्तु का ज्ञान न होने पर भी उसके लिए इच्छा हो सकती हैं। इस प्रकार, असमवायिकारण का लक्षण होते हुए भी आत्मा के विशेष गुणों को असमवायिकारण नहीं मान सकते। ऐसा मानने पर न्याय के कारणवाद के सिद्धान्त में विरोध पैदा हो जाएगा। यही कारण है कि विश्वनाथ ने असमवायिकारण की परिभाषा का परिष्कार कर उसकी सामान्य परिभाषा में 'ज्ञानदिभिन्न' पद जोड़ने के लिए कहा हैं।[1]

असमवायिकारण की आवश्कता

न्याय को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक असमवायिकारण को नहीं स्वीकार करते हैं। अतः, सांख्य, वेदान्त, मीमांसा सभी ने असमवायिकारण की कटु आलोचना की है।

प्रथम प्रहार असमवायिकारण के नाम पर किया गया है। कुछ आधुनिक आलोचकों के अनुसार 'असमवायिकारण' शब्द भ्रामक है। इसका अर्थ होता है 'समवायि का विरूद्ध' अर्थात् जो समवायि नहीं है। जो समवायि नहीं है वह निमित्त कारण भी हो सकता है। अतः, निमित्त कारण को ही असमवायिकारण कहना चाहिए।[2]

परन्तु हमारी दृष्टि में इस प्रकार की शंका असमवायिकारण में प्रयुक्त नञ् प्रत्यय के न समझने के कारण ही हैं। आलोचकों ने नञ् को प्रतिपेधपरक अर्थ लिया है।

---

१. आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राऽप्यसमवायिकारणत्वं नाऽस्ति तेन तद्भिनन्नत्वं सामान्य-लक्षणे देयमेव।

(न्याय सिद्धान्त मु० श्लो०१८)

२. (क) The name असमवायि is rather misleading, as it does not properly denote a cause which is not connected by समवाय with the effect. In this sense निमित्त कारण will also be असमवायि while one species of असमवायि proper will be excluded. (Tark Sangrah)

(ख) विमल प्रसाद जैन। तर्क शास्त्र

असमवायिकारण का निषेधात्मक अर्थ किया है 'समवायि का अभाव' वस्तुतः, यहाँ नञ् का पर्युदासपरक अर्थ करना चाहिए अर्थात् तद्भिन्न अर्थ करना चाहिए। जिसके अनुसार असमवायिकारण का अर्थ होगा 'जो समवायि से भिन्न है'।

यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि क्यों न्याय को ही असमवायिकारण की आवश्यकता होती हैं, सांख्य को नहीं ? नैयायिक भी असमवायिकारण का समावेश समवायिकारण में क्यों नहीं कर देते ? ध्यान से देखा जाय तो सांख्य के मूलभूत तत्वदर्शन के अनुसार ऐसा संभव है लेकिन न्याय के लिए ऐसा संभव नहीं। सांख्य को तन्तु से पृथक् तन्तु संयोग को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। सांख्य मत में तन्तु और तन्तु संयोग, द्रव्य और गुण दोनों की पृथक्-पृथक् संज्ञा नहीं है, दोनों एक ही है, दोनों में अभेद है। इसके विपरीत न्याय भेदवादी दर्शन है। उसके अनुसार द्रव्य और गुण में भेद है। तन्तु, तन्तु संयोग दोनों भिन्न-भिन्न हैं तथा दोनों दो तरह से पट के कारण बनते हैं, एक समवायि रूप से और दूसरा असवायि रूप से।

असमवायिकारण के विषय में एक अन्य प्रश्न उठाया जा सकता है कि असमवायिकारण का समावेश निमित्त कारण में क्यों नहीं कर दिया जाता है ? कुछ आलोचकों के अनुसार कारण के दो ही भेद संभव हैं। प्रथम ऐसे कारण जिनमें कार्य समवेत रहता जिसे हम समवायिकारण या उपादान कारण कहते हैं। दूसरे वे कारण जिनमें कार्य समवेत नहीं रहता जिसे हम अनुपादान या निमित्त कह सकते हैं।[1] परन्तु न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार ऐसा संभव नहीं है। पट के निमित्त कारण तुरी, वेमादि की तरह तन्तु संयोग पट से अलग होकर नहीं रह सकता। अलोचकों के अनुसार असमवायिकारण का समावेश उपादान कारण के अन्तरर्गत करना चाहिए था। तन्तु-संयोग तन्तु की ही तरह पट से अलग होकर नहीं रहता। परन्तु असमवायिकारण का समावेश हस उपादान कारण में नहीं कर सकते, इसका पहले ही विवेचन किया जा चुका है। न्याय ने समवायि, असमवायिकारण की परिभाषा करने के बाद निमित्त कारण की परिभाषा की है। उसके अनुसार समवायि, असमवायि के अतिरिक्त जितने भी कारण हैं वे निमित्त कारण है। अतः, निमित्त कारण के अन्तर्गत असमवायिकारण का समावेश नहीं कर सकते।

न्याय-वैशेषिक की कुछ मूलभूत मान्यतायें ऐसी हैं जिसके लिए वह असमवायि-कारण को मानने के लिए बाध्य है। जैसे, परमाणुवाद, भेदवाद, आरम्भवाद आदि। न्याय-वैशेशिक भेदवादी दर्शन है। वे द्रव्य और गुण में भेद मानते हैं। उनके अनुसार तन्तु-संयोग गुण का समावेश तन्तु-द्रव्य में नहीं कर सकते। अतः, तन्तु और तन्तु संयोग की कारणता एक सी नहीं हो सकती।

---

१. (क) शान्ति प्रकाश आत्रेयः भारतीत तर्क शास्त्र।
(ख) विमल प्रसाद जैनः तर्क शास्त्र।

न्याय-वैशेनिक जगत् की सृष्टि में परमाणुओं को मूल समवायिकारण मानते हैं। नित्य परमाणुओं से सृष्टि मानने पर अनेक समस्यायें उपस्थित होती हैं। नित्य परमाणुओं से सृष्ट जगत् को नित्य मानना पड़ेगा। फलतः, सतत् सृष्टि होगी। नित्य परमाणुओं से नानात्मक जगत् की सृष्टि भी नहीं हो सकेगी। परमाणुवाद के प्रसंग में उठी शंकाओं के समाधान के लिए न्याय-वैशेषिक असमवायिकारण मानते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार परमाणुओं के संयोग को जगत् का असमवायिकारण मान लेने पर उपर्युक्त समस्याओं का स्वयमेव समाधान हो जाता है। परमाणुओं के नित्य होने पर भी सतत् सृष्टि का प्रश्न नहीं उठता। परमाणुओं का संयोग जिससे सृष्टि होता है वह मनुष्य के धर्माधर्म पर आधारित है। मनुष्य के धर्माधर्म सतत् नहीं होते अतः, सतत् सृष्टि नहीं होती है। परमाणुओं का संयोग मान लेने पर जगत् के नानात्व की भी व्याख्या हो जाती है। इन परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के संयोग से ही इस विविध जगत् की उत्पत्ति होती हैं।

असमवायिकारण को सर्वाधिक उपयोगिता विनाश या प्रलय की प्रक्रिया के प्रसंग में होती है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जगत् के मूलकारण नित्य परमाणु हैं। परन्तु नित्य परमाणुओं से सृष्ट जगत् का विनाश संभव नहीं है अतः, सतत् सृष्टि का प्रसंग उपस्थित होता है। इस शंका के समाधान के लिए ही न्याय-वैशेषिक ने कार्य के विनाश के दो कारण माने हैं। प्रथन-समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होता है, दूसरे-असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होता है।[१] कुछ कार्यों के विनाश के लिए दोनों कारणों की आवश्यकता हीती है परन्तु कुछ कार्यों के विनाश के लिए केवल असमवायिकारण की आवश्यकता होती है। कार्य का नाश मात्र समवायिकारण के नाश से होता तो द्वयणुक का नाश कभी नहीं हो सकता क्योंकि द्वयणुक के समवायिकारण परमाणु नित्य हैं। इस प्रकार मात्र समवायिकारण के नाश को कार्य के नाश का कारण मान लेने पर प्रलय असंभव हो जाएगा। प्रलय के लिए द्वयणुक का नाश आवश्यक है द्वयणुक के नाश के लिए असमवायिकारण परमाणुओं के संयोग का नाश आवश्यक है। कभी-कभी देखा जाता है कि तन्तु का नाश हो जाने पर भी पट का नाश नहीं होता वह तन्तु रूप में रह जाता है तो यहाँ असमवायिकारण के नाश से पट का नाश मानना चाहिए। रघुनाथ शिरोमणि ने यह स्पष्ट किया है कि द्रव्य के नाश के लिए असमवायिकारण का नाश आवश्यक है।[२]

असमवायिकारण न्याय-वैशेषिक के एक अन्य मुख्य मान्यता की पुष्टि करता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार कारणगुण से कार्य गुण उत्पन्न होता है। लाल तन्तुओं से लाल पट ही उत्पन्न होता है, श्वेत पट नहीं। पट रूप की उत्पत्ति तन्तु, तन्तुवाय, तुरी,

---

१. ''''आश्रयविनाशस्यावयवविभागस्य च विनाश हेतोः ''''(न्याय कं०)

२. द्रव्यनाशे च सर्वत्रासमवायिकारणनाश एव कारणम् नित्यद्रव्यसमवेतद्रव्यनाशे वक्लसत्वात्। (पदार्थ तत्त्व निरू०)

वेमादि के रहने पर भी नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ पट रूप का समान धर्मी कोई कारण नहीं है। अतः, समवायि और निमित्त कारण के रहते हुए भी तन्तुरूप को अलग से असमवायि कारण के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। इसी प्रकार आत्म-मनः संयोग बुद्धि प्रभृति गुणों का असमवायिकारण हैं तथा भेरी-आकाश संयोग शब्द का असमवायिकारण है।

निमित्त कारण

निमित्त कारण को परिभाषित करते हुए आचार्यों ने उसे समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न कारण बताया है।[1] जैसे, पट की उत्पत्ति में तुरी, वेमादि निमित्त कारण हैं क्योंकि तुरी वेमादि समवायि और असमवायिकारण नहीं हैं। तुरी या वेमादि में समवेत होकर पट की उत्पत्ति नहीं होती अतः, वे समवायिकारण नहीं हो सकते। पट की उत्पत्ति तक ही ये पट के साथ-साथ रहते हैं पट की उत्पत्ति के के पश्चात् ये पट से पृथक् हो जाते हैं। तन्तु की तरह तुरी, वेमादि का पट के साथ अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। तुरी, वेमादि असमवायिकारण नहीं हो सकते क्योंकि असमवायिकारण को कार्य के साथ या कार्य के समवायिकारण के साथ कार्य के समवायिकारण में रहना आवश्यक है। तुरी, वेमादि पट के समवायिकारण तन्तु में किसी भी प्रकार से नहीं रह सकते। इस प्रकार, तुरी, वेमादि पट के समवायिकारण या असवायिकारण नहीं है परन्तु ये कारण अवश्य हैं क्योंकि ये पट के प्रति नियतपूर्ववर्ती एवं अनन्यथासिद्ध हैं और इनमें कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता है। न्याय ने ऐसे कारणों को निमित्त कारणों की संज्ञा दी है।

निमित्त कारण के भेद

निमित्त कारण दो प्रकार के होते हैं। असाधारण और असाधारण।

असाधारण कारण

असाधारण कारण कार्यगत जाति में आवश्यक होते हैं। जैसे, दण्ड, घट के प्रति असाधारण कारण है क्योंकि दण्ड केवल घट की उत्पत्ति में ही कारण है, पट की उत्पत्ति में नहीं। यहाँ असाधारण का अर्थ करण नहीं समझना चाहिए जैसा कि 'असाधारणं कारणं करणम्' करण की इस परिभाषा से सन्देह हो सकता है। यहाँ कार्य विशेष के प्रति आवश्यक कारण के अर्थ में असाधारण का प्रयोग किया गया। कार्य विशेष के प्रति आवश्यक कारणों में से प्रकृष्टतम कारण के अर्थ में नहीं। असाधारण

---

१. (क) यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणम्। अथ च कारणं तन्निमित्त कारणम् (तर्क भाषा)
(ख) (तर्क संग्रह)

कारण के इस भेद के अनुसार दण्ड, चक्र, कुलाल, चक्रभ्रमण सभी असाधारण हैं। इन सबका उपयोग घट की उत्पत्ति में ही होता है, पट की उत्पत्ति में नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि निमित्त कारण ही कार्य विशेष के प्रति असाधारण होता है। घट की उत्पत्ति में समवायिकारण कपाल और असमवायिकारण कपालद्वय संयोग उसी प्रकार असाधारण हैं जिस प्रकार दण्ड, चक्रादि।

साधारण कारण

साधारण कारण सामान्यरूप से घट, पटादि सभी कार्यों के लिए आवश्यक हैं। नैयायिकों ने इस प्रकार के आठ कारणों का उल्लेख किया है जो सभी कार्यों के प्रति सामान्यरूप से आवश्यक हैं। ईश्वर, ईश्वरज्ञान, इच्छा, कृति, दिक्, काल, अदृष्ट और प्रागभाव।[1] साधारण कारण असाधारण कारण की ही तरह कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक हैं। ईश्वर का ज्ञान, इच्छा तथा कृति साधारण कारण है क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता है। जगत् की सृष्टि एवं प्रलय सभी ईश्वर के ज्ञान, इच्छादि पर निर्भर हैं।

दिक् और काल कार्य की उत्पत्ति के लिए सामान्य रूप से आवश्यक हैं क्योंकि किसी भी कार्य की उत्पत्ति किसी समय में तथा किसी स्थान में होती है, इनके अभाव में किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

मनुष्य के अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म भी कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक हैं। कुम्भकार जब घट बनाता है तब वहां घट खरीदने वाले का अदृष्ट ही वहां कार्य करता है। न्याय के अनुसार ईश्वर मनुष्य के अदृष्ट के अनुसार ही जगत् की सृष्टि करता है। अतः, अदृष्ट को एक सामान्य कारण मानना आवश्यक हो जाता है। प्रागभाव भी कार्य की उत्पत्ति में आवश्यक है क्योंकि कार्य का कारण में उत्पत्ति के पूर्व अभाव रहना आवश्यक है। तन्तु में पट का अभाव रहने पर तन्तुवाय ताना बाना बुनकर उसको उत्पन्न करता है। यदि पट का प्रागभाव न होता, पट वहां विद्यमान होता तो पट के उत्पत्ति की संभावना नहीं होती।

प्राचीन नैयायिकों ने प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव को भी नवम् साधारण कारण के रूप में माना है। उदयन तथा विश्वनाथ ने मीमांसकों द्वारा अभिमत शक्ति के खण्डन के प्रसंग में प्रतिबन्धक संसर्गाभाव का विस्तार से विवेचन किया है। अग्नि के समक्ष चन्द्रकान्त-मणि रख देने से दाह नहीं उत्पन्न होता हैं, सूर्यकान्तमणि रख देने से पुनः दाह उत्पन्न

---

१. (क) ईश्वरस्तद्ज्ञानेच्छाकृतयः प्रागभावकालदिगदृष्टान्यष्टौ साधारणकारणानि। (वाक्य वृत्ति)
(ख) तर्कामृत
(ग) न्याय प्रदीप श्लोक २१, २२,

होता है। मीमांसक अग्नि से पृथक् अग्नि की शक्ति मानकर इस समस्या का समाधान करते हैं। उनके अनुसार यह शक्ति कभी नष्ट होती है और कभी उत्पन्न होती है। इसके विपरीत विश्वनाथ शक्ति का खण्डन करते हैं तथा प्रतिबन्धक संसर्गाभाव को कारण मानकर इस समस्या का समाधान करते हैं। उनके अनुसार शक्ति की हम पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। कारण से पृथक् शक्ति कभी सूर्यकान्तमणि की उपस्थिति में उत्पन्न होती है और कभी चन्द्रकान्तमणि की उपस्थिति में नष्ट होती है, ऐसा मान लेने पर अनन्त शक्ति, अनन्त प्रागभाव और अनन्त ध्वंस की कल्पना करनी पड़ेगी। अनन्तशक्तियों से उत्पन्न होने वाले अनन्त प्रागभाव की कल्पना करनी पड़ेगी। इससे कल्पना-गौरव होगा। अतः, अग्नि को दाह का कारण मानना चाहिए। उपर्युक्त प्रसंग में प्रतिबन्ध का अभाव विशिष्ट अग्नि दाह का कारण है अर्थात् प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि के अभाव से युक्त अग्नि दाह का कारण है ऐसा मानना चाहिए। इसके मानने में कल्पना लाघव भी है।[1]

उदयन की 'सहकारिवैकल्पप्रयुक्तकार्याभाववत्व' परिभाषा अपरोक्ष रूप से कार्य की उत्पत्ति में प्रतिबन्धकाभाव की उपयोगिता को ही द्योतित करती है। व्यास ने भी प्रतिबन्धकाभाव को कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक माना है। कार्य अपने कारण में अव्यक्त रूप से रहता है। प्रतिबन्धक को दूर कर देने पर ही अव्यक्त कार्य आविर्भूत होकर व्यक्तरूप में आ जाता है। इस पर सत्कार्यवाद के परिच्छेद में विस्तार से विचार किया जाएगा। ग्रन्थ के आरम्भ में जो मंगलाचरण किया जाता हैं वह एक मात्र विघ्नों के अभाव के लिए ही किया जाता है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए विघ्नों का अभाव होना सर्वप्रथम आवश्यक है। पाश्चात्य दार्शनिक मिल ने भी प्रतिबन्धकाभाव को कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक माना है जिस पर पहले विचार किया जा चुका है।

केशव मिश्र ने मीमांसकों के कारण की परिभाषा का खण्डन करते समय व्योम को भी साधारण कारण माना है।[2] यह बात स्पष्ट नहीं होती कि अन्य नैयायिकों ने व्योम की परिगणना साधारण कारण के अन्तर्गत क्यों नहीं की? विश्वनाथ तथा गंगेश ने भी व्योम को अन्यथासिद्ध माना है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि सबसे महत्त्वपूर्ण निमित्त कारण है। निमित्त कारण का क्षेत्र विस्तृत है। उसके अन्तर्गत कर्त्ता तथा कार्य की उत्पत्ति में आवश्यक सभी कारणों का समावेश हो जाता है। घट की उत्पत्ति में समवायिकारण कपाल और असम-

---

१. अनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्ति-तत्प्रागभाव-ध्वंस कल्पनानौचित्यात्।

(न्याय सिद्धान्त मु०)

२. तर्क भाषा

वायिकारण कपालद्वयसंयोग के अतिरिक्त अन्य जितने भी कारण हैं, दण्ड, चक्र, कुम्भकार तथा नौ साधारण, सभी निमित्त कारण के अन्तर्गत आ जाते हैं।

क्षणभंगवादी बौद्ध दार्शनिकों ने केवल निमित्त कारण को ही माना है। उनके तत्व दर्शन के अनुसार समवायि और असमवायिकारण संभव ही नहीं हो सकता। उनके यहां प्रत्येक वस्तु क्षणिक है और ये क्षण अविभाज्य हैं, एक क्षण में दूसरा क्षण नहीं रह सकता अतः, समवायिकारण संभव नहीं है। असमवायिकारण भी संभव नहीं क्योंकि उन अविभाज्य क्षणों का संयोग नहीं हो सकता है। क्षणभंगवादी कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। उनके प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है—'ऐसा होने पर ऐसा होता है। अतः, बौद्ध दार्शनिक यह मानते हैं कि एक क्षण की उत्पत्ति विनाश दूसरे क्षण के उत्पत्ति विनाश का निमित्त बनती है।

समवायिकारण और निमित्त कारण में अन्तर

कुछ आलोचकों ने यह आपत्ति की है कि न्याय-वैशेषिक निमित्त कारण और समवायिकारण का अन्तर नहीं स्पष्ट कर पाते। जैसे, घट की उत्पत्ति में मृत्तिका और जल दोनों कारण हैं। यहां मृत्तिका की भांति जल को भी उपादान मान लेना चाहिए क्योंकि जल भी मृत्तिका में मिश्रित है। परन्तु न्याय-वैशेषिक मृत्तिका को समवामिकारण और जल को निमित्त कारण मानते हैं।

सांख्य ने जल को भी उपादान कारण माना है परन्तु ऐसा मानने पर और अधिक दोष आ जाता है। सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य को अपने कारण में सत् रहना आवश्यक है। इस उदाहरण में हिमालय पर्वत से लाई गई मिट्टी और गंगा से लाये गए जल इन दोनों में कार्य घट किसमें अपनी उत्पत्ति के पूर्व रहता है, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। यदि यह कहाँ जाय कि घट रसायनिक मिश्रण का परिणाम है तो भी ठीक नहीं क्योकि रसायनिक मिश्रण में कार्य की उत्पत्ति के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। मिश्रण होने के साथ ही उत्पत्ति हो जाती है। जैसे, हाइड्रोजन और आक्सीजन के मिश्रण के साथ ही जल की उत्पत्ति हो जाती है परन्तु मृत्तिका और जल के मिश्रण के साथ ही घट की उत्पत्ति नहीं होती। मिश्रण के बाद भी कुलाल को प्रयत्न करना पड़ता है।[1]

कारण के इस विभाजन के प्रसंग में एक शंका यह भी उठ सकती है कि यह विभाजन अनेक कारणों से एक कार्य के उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर पाता है। जैसे, हाइड्रोजन और आक्सीजन के मिश्रण से जल की उत्पत्ति होती है, यहाँ न्याय के भेद के अनुसार किसी एक को समवायिकारण तथा किसी एक को निमित्त कारण मानना होगा। परन्तु देखा यही जाता है कि जल हाइड्रोजन और आक्सीजन दोनों में समवेत रहता है,

---

1. Tarka Sangrah.

अतः दोनों को समवायिकारण मानना पड़ेगा। वस्तुतः, न्याय–वैशेषिक के पक्ष में ऐसी शंका उठानी ही नहीं चाहिए। न्याय ने अपने कारण के विभाजन के द्वारा कार्य के उत्पत्ति की व्याख्या की है रसायनिक मिश्रण की व्याख्या नहीं की हैं। हाइड्रोजन और ओर आक्सीजन के मिश्रण से जो जल बनता है उसे उत्पत्ति नहीं कह सकते, उसे हम मात्र रसायनिक मिश्रण का परिणाम कह सकते हैं। न्याय के कारण के विभाजन में रसायनिक मिश्रण के परिणाम का प्रसंग नहीं आता।

कर्त्ता का निमित्त कारणत्व

इस विभाजन के प्रसंग में एक अन्य आपत्ति उठती है कि न्याय ने निर्जीव और सजीव दोनों कारणों को निमित्त कारण की श्रेणी में रखा है। न्याय कार्य की उत्पत्ति में सबसे ज्यादा आवश्यक और महत्वपूर्ण सजीव कर्त्ता को निमित्त कारण कहता है तथा दण्ड, चक्रादि निर्जीव साधनों को भी निमित्त कारण कहता है।[1]

वस्तुतः नैयायिक कर्त्ता का समावेश समवायि और असमवायिकारण में नहीं कर सकते। कर्त्ता समवायि असमवायि से भिन्न है अतः, उसका निमित्त कारण में ही समावेश कर लेना चाहिए। कारण के चार भेद मानने पर कल्पना गौरव होगा। परन्तु कल्पना गौरव भी यदि तार्किक है और किसी प्रयोजन को सिद्ध करता है तो उसे मान लेना चाहिए। यहाँ कर्त्ता को अलग से कारण मानने पर विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है। न्याय-वैशेषिक ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं और उपर्युक्त भेद के अनुसार ईश्वर को भी दण्ड, चक्रादि की कोटि में रखते हैं। यह विचित्र लगता है कि समस्त जगत् का नियन्ता ईश्वर दण्ड, चक्रादि की तरह निमित्त कारण है। हमारी दृष्टि से नैयायिकों को निमित्त कारण के दो भेद मान लेना चाहिए। पहला निर्जीव निमित्त कारण और दूसरा सजीव निमित्त कारण यह भेद मान लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर या कुम्भकार की कारणता दण्ड, चक्रादि से भिन्न है। शिवादित्य का कथन हैं कि कारण के भेद तीन ही हैं परन्तु अपनी सुविधा के अनुसार अनेक भेद किए जा सकते हैं।[२]

काल की दृष्टि से कारणता का प्रकार

काल भेद से कारणता दो प्रकार की होती हैं।[3] कुछ कारण ऐसे होते हैं जिनकी कारणता कार्य की उत्पत्ति में तत्काल आवश्यक होती है परन्तु कुछ कारण ऐसे भी होते हैं जिनकी कारणता कार्य की तत्काल उत्पत्ति में नहीं होती परन्तु उनमें कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता होती है।

---

1. T. S.
२. अपरे भेदाः स्वयमूहनीयाः। (सप्त पदार्थी सू० १०८)
३. स्वरूपयोग्यं च फलोपधायकमिति द्विधा (न्याय प्रदीप श्लो० २८)

१. फलोपहितकारण—अव्यवहितोत्तर क्षण में कार्य को उत्पन्न करने वाले कारणों की कारणता फलोपहित होती है। जैसे, घट की उत्पत्ति में मृत्तिका या दण्ड, चक्रादि की कारणता फलोपधायक है क्योंकि इनसे घट की तत्काल उत्पत्ति होती है।

२. स्वरूपयोग्य कारण—कार्य की उत्पत्ति में जिनका तत्काल उपयोग नहीं होता परन्तु उनमें कारणतावच्छेदक धर्म होता है अर्थात् कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता होती है तो उनकी कारणता स्वरूपयोग्यता से होती है। जैसे, खेत में रखी हुई मृत्तिका तथा अरण्य में स्थित दण्ड, तत्काल घट को उत्पत्ति नहीं कर सकते परन्तु इनमें घट को उत्पन्न करने की क्षमता है। अर्थात् खेत में पड़ी हुई मृत्तिका तथा अरण्यस्थ दण्ड दोनों में कारणतावच्छेदक धर्म मृत्तिकात्व तथा दण्डत्व है। अतः, हम यह कह सकते हैं कि इनकी कारणता स्वरूपयोग्येन है।

अरण्यस्थ दण्ड में अव्याप्ति वारण के लिए ही दिनकर ने नियतपूर्ववृत्ति का अर्थ, नियतपूर्ववृत्तिजातीयत्व किया है। अरण्यस्थ दण्ड नियतपूर्ववर्ती नहीं हैं परन्तु नियतपूर्ववर्ती दण्ड की दण्डत्व जाति उसमें है। अतः, स्वरूप योग्येन उसकी कारणता माननी चाहिए।[1]

समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण की विशिष्ठता

समवायिकारण—न्याय-वैशेषिक के अनुसार द्रव्य, गुण, और कर्म तीनों का समवायिकारण द्रव्य ही हो सकता है। उनके अनुसार अवयवी द्रव्य, गुण, क्रियादि द्रव्य में ही समवेत हो सकते हैं।[2] कणाद् ने द्रव्य, गुण और कर्म में मात्र यही साधर्म्य बतलाया है कि तीनों द्रव्य में रहते हैं।[3]

द्रव्य ही समवायिकारण बन सकता हैं गुण और कर्म समवायिकारण नहीं बन सकते क्योंकि द्रव्य ही आधार बनकर कार्य की उत्पत्ति कर सकता हैं। गुण और कर्म आधार नहीं बन सकते, वे मात्र आधेय है। इनमें स्वतः कार्योत्पादकत्व नहीं है और इनका कार्य से साक्षात् संबंध भी नहीं है। ये समवायिकारण के द्वारा परम्परया कार्य से सम्बद्ध होकर ही कार्य की उत्पत्ति करते हैं। अतः, न्याय-वैशेषिक गुण और कर्म को समवायिकारण की कोटि में नहीं रखते। वे इनको असमवायिकारण की कोटि में रखते हैं।

---

१. नियतपूर्ववृत्तिजातीयतेत्यर्थः। तेनाऽरण्यस्थदण्डादावपि स्वरूपयोग्यतासम्पत्तिः। तज्जातीयत्वं च नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकदण्डत्वादिमत्त्वमेवेति।
(दिनकरी)

२. (क) समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्। (भाषा परिच्छेद श्लो० २३)
(ख) कारणमिति द्रव्ये कार्य्यसमवायात् (वैशेषिक सूत्र १०।२।१)

३. द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्य कारणं सामान्यम्। (वैशेषिक सूत्र १।१।१८)

असमवायिकारण—असमवायिकारण गुण और कर्म होते है।[1] द्रव्य कभी भी असमवायिकारण नहीं हो सकता। जैसे, तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है तथा वेग स्वजन्य क्रिया का असमवायिकारण है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्यों गुण और कर्म ही असमवायिकारण होते हैं द्रव्य क्यों नहीं असमवायिकारण होता ? वस्तुतः, द्रव्य में असमवायिकारण का लक्षण नहीं घटता। लक्षण के अनुसार असमवायिकारण को कार्य के साथ या कार्य के समवायिकारण के साथ एक आधार में रहना चाहिए। द्रव्य स्वयं आधार है, जब कार्य इसमें साक्षात् रूप से रहता है तब कार्य के साथ या कार्य के समवायिकारण के साथ इसको किसी अन्य में रहने का प्रश्न नहीं उठता। इसके विपरीत गुण और कर्म स्वयं किसी के आधार या आश्रय नहीं हैं अतः, वे असमवायिकारण हो सकते हैं। इनमें असमवायिकारण का लक्षण भी घटता है।

कर्म इसलिए असमवायिकारण है कि कार्य के साथ कार्य के समवायिकारण में रहता है।[2] जैसे जब पक्षी उड़कर वृक्ष पर बैठे रहते हैं तो पक्षी और वृक्ष का संयोग रूप कार्य उत्पन्न होता है। इस संयोग कार्य का असमवायिकारण पक्षी की क्रिया है क्योंकि पक्षी की क्रिया कार्य संयोग के समवायिकारण पक्षी में रहती है। एक आधार पक्षी में संयोग (कार्य) और पक्षी की क्रिया दोनों रहते हैं। अतः पक्षी की क्रिया को संयोग कार्य का असमवायिकारण कहते हैं।

गुण का असमवायिकारणत्व कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति से है। जैसे, तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति से है, इसका स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है।[3]

प्रशस्तपाद ने नौ गुण[4] और पाँच कर्मों[5] के असमवायिकारणत्व पर विचार किया है। रूप, रस, गन्ध, अनुष्णशीत स्पर्श, संख्या, परिणाम, एक पृथकत्व, स्नेह और शब्द ये नौ गुण तथा उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म असमवायिकारण होते हैं।

विश्वनाथ ने भी गुणों के असमवायिकारणत्व का निरूपण किया है।[6] कपालादि के रूप, रस, गन्धादि, घटादि के रूप, रस, गन्धादि के असमवायिकारण हैं तथा

---

१. गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाऽप्यसमवायिहेतुत्वम् (भाषा परिच्छेद श्लो० २३)
२. कारणे समवायात् कर्माणि। (वैशेषिक सूत्र १०।१।३)
३. तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च। (वैशेषिक सूत्र १०।२।४)
४. प्रशस्तपाद भाष्य
५. प्रशस्त पाद भाष्य
६. भाषा परि० श्लो० ९७

कपालादि के परिणाम घटादि के परिणाम के असमवायिकरण हैं। शब्द भी द्वितीय शब्द के प्रति असमवायिकारण होता है।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि जब गुण असमवायि कारण हैं तब विश्वनाथ नें असमवायिकारण की परिभाषा का परिष्कार करते समय आत्मा के गुणों के असमवायिकारणत्व का क्यों निषेध किया है ? इस अवस्था में गुणों के असयवायकारण होने का साधर्म्य ज्ञानादि गुणों में नहीं जाता। विश्वनाथ ने इस समस्या का समाधान किया है। उनके अनुसार इस प्रसङ्ग में गुण और कर्म का साधर्म्य नहीं अपितु, गुण और कर्म से भिन्न पदार्थो का वैधर्म्य बताया गया है। यहाँ यह नहीं कहा गया है कि जितने भी गुण और कर्म हैं सब असमवायिकारण होते हैं अपितु यह कहा गया है कि जो गुण और कर्म नहीं है वो असमवायिकारण नहीं हो सकते। अतः, यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक गुण असमवायिकारण हो।[2]

कारिका में गुण और कर्म का साधर्म्य बताया गया है कि 'असमवायि हेतुत्व'। विश्वनाथ के अनुसार इस साधर्म्य का परिष्कार कर लेने पर भी आत्मा के गुणों में इस साधर्म्य की अब्यासि नहीं होती। उन्होंने असमवायिकारण हेतुत्व कापरिष्कार किया है—'असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्व' अर्थात् 'असमवायिकारण में रहने वाली सत्ता से भिन्न जाति वाला हो, यही गुण और कर्म का साधर्म्य है। ऐसा कहने से आत्मा के विशेष गुणों में लक्षण की अव्यासि नहीं होती। असमवायिकारण गुण और कर्म में ही होते हैं। इसलिए असमवायिकारण में रहनेवाली या तो गुणत्व और कर्मत्व सत्ता भिन्न जातियां हो सकती हैं या गुणत्व और कर्मत्व हो सकता है। आत्मा के गुण यद्यपि असमवायिकारण नहीं है परन्तु उनमें असमवायिकारण में रहने वाली सत्ता भिन्न जाति गुणत्व रहती है। अतः, उनमें भी उपर्युक्त साधर्म्य चला जाता है।[3] यहां 'सत्ता भिन्न' पद द्रव्य में अतिव्यासि वारण के लिए दिया गया है। द्रव्य का गुण और कर्म के साथ साधर्म्य नहीं हैं क्योंकि द्रव्य में सत्ता भिन्न जाति नहीं है। द्रव्य में रहने वाला द्रव्यत्व स्वयं सत्ता है।[4]

निमित्त कारण :—द्रव्य, गुण, कर्म तीनों ही निमित्त कारण हो सकते हैं। जैसे, घट की उत्पत्ति में मृत्तिका, दण्ड, चक्रादि द्रव्य और चक्रभ्रमण कर्म भी कारण है।

---

१. न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० ९७

२. असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं, न तु गुणा-कर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्। (न्याय सि० मु० श्लो० २३)

३. अथवा समवायिकारणवृत्ति—सत्ताभिन्नजातिमत्वं तदर्थः। तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि नाऽव्यासिः। (न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० २३)

४. सत्ताभिन्नद्रव्यत्वरूपजातिमति द्रव्येऽतिव्यासिवारणाय। (दिनकरी)

आत्मा के गुण इच्छादि की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं। वेग कर्म अभिघात के प्रति निमित्त कारण है। इसी प्रकार अग्नि का विशेषगुण उष्णत्व स्वसमवायिसमवेतत्व संबंध से घटादि पदार्थगत पाकजरूपादि का निमित्त कारण है।[1]

उष्ण स्पर्श, गुरुत्व, वेग, द्रव्यत्व, संयोग तथा विभाग असमवायिकारण भी है तथा निमित्त कारण भी। जैसे, उष्ण स्पर्श उष्ण, स्पर्श का असमवायिकारण है, परन्तु पाकज क्रिया का निमित्त कारण है। गुरुत्व गुरुत्वपतन का असमवायिकारण है परन्तु अभिघात का निमित्तकारण है। द्रव्यत्व द्रव्यत्व तथा स्पन्दन की उत्पत्ति में असमवायि-कारण है परन्तु संग्रह में निमित्त कारण है। इसी प्रकार भेरी दण्ड संयोग शब्द में निमित्त कारण हैं परन्तु भेरी आकाश संयोग शब्द में असमवायिकारण हैं। वंशदलद्वय का विभाग शब्द में निमित्त कारण है परन्तु वंशदल और आकाश का विभाग शब्द की उत्पत्ति में असमयिकारण हैं।[2]

भाव पदार्थो के समवायि, असमवायि और निमित्त तीनों कारण होते हैं। परन्तु अभाव कार्य के लिए मात्र निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। अभाव का समवायि-कारण इसलिए नहीं होता कि अभाव कार्य कारण में समवेत नहीं रह सकता। अभाव कार्य का समवायिकारण नहीं है अतः, उसके असमवायिकारण का प्रश्न नहीं उठता। न्याय के अनुसार असमवायिकारण को कार्य के साथ या कार्य के समवायिकारण के साथ कार्य के समवायिकारण में रहना आवश्यक है।[3]

निमित्त कारण भावरूपकार्य तथा अभाव रूप कार्य दोनों का होता है। भाव कार्य घट के प्रति दण्ड, चक्र, कुलालादि निमित्त कारण हैं तथा अभाव रूप कार्य घट-ध्वंस के प्रति दण्ड प्रहार निमित्त कारण है।

रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार कार्य की उत्पत्ति के लिए असमवायिकारण का होना आवश्यक नहीं है। असमवायिकारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। जैसे, एकत्व द्वित्व की उत्पत्ति में असमवायिकारण नहीं बनता। परन्तु विनाश में मात्र असमवायिकारण की ही आवश्यकता होती है। द्वयणुक का नाश परमाणुओं के संयोग के नाश से ही होता हैं। द्वयणुक का नाश समवायिकारण के नाश से नहीं हो सकता क्योंकि द्वयणुक के समवायिकारण परमाणु नित्य हैं।[4]

---

१. भाषा परिच्छेद श्लो० ९८। २. न्याय सिद्धान्त मु० श्लो० ९९।

३. तदेतद् भावानामेव त्रिविधं कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं तस्य क्वचिदप्य-समवायात्। समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात्। (तर्क भाषा)

४. एकत्वं च न सासमवायिकारणकम् असमवायिकारणत्वेन कारणत्वाभावात् भावकार्य-मात्रस्यासमवायिकारणजन्यत्वे मानाभावात्। द्रव्यनाशे च सर्वत्रासमवायिकारणनाश एव कारणम् नित्यसमवेतद्रव्यनाशे क्लृप्तत्वात् (पदार्थ तत्त्व निरू०)

पाश्चात्य दर्शन में कारण-भेद पर विचार

अरस्तू ने कारण के चार भेद स्वीकार किए हैं।[1]

१. उपादान कारण (मटिरियल काज़) :—कर्त्ता जिसे कार्य के निर्माण के पूर्व ग्रहण करता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे, शिल्पकार मूर्ति बनाने के पूर्व कासा ग्रहण करता है। यहां कांसा उपादान कारण है। न्याय उपादान कारण को समवायिकारण कहता है। कुम्भकार घट निर्माण के पूर्व मृत्तिका ग्रहण करता है, यहां मृत्तिका समवायिकारण या उपादान कारण ही है।

२. स्वरूप कारण (फार्मल काज्)—वह नक्शा या आकृति जिसे कर्त्ता वस्तु विशेष के निर्माण के पूर्व अपने मस्तिष्क में खींचता है उसे अरस्तू फार्मल काज् या स्वरूष कारण कहते हैं। जैसे, शिल्पकार मूर्ति बनाने के पूर्व उस मूर्ति की आकृति के विषय में सोचता है या कागज पर उसका एक ढांचा बनाता है। मस्तिष्क में निर्मित इस पूर्व आकृति विशेष को ही फार्मल काज् या स्वरूप कारण कहते हैं।

नैयायिकों ने इस प्रकार का कोई कारण भेद नहीं माना है। कुछ विद्वानों के अनुसार असमवायिकारण का समावेश रूप कारण में किया जा सकता है।[2] राधाकृष्णन् के अनुसार ये तीनों कारण अरस्तू द्वारा प्रतिपादित भौतिक, औपचारिक तथा निमित्त कारणों से अनुकूलता रखते हैं।[3] तन्तुसंयोग या कपालद्वयसंयोग पट या घट की आकृति का निर्माण निःसन्देह कर देते हैं, परन्तु यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि अरस्तू का स्वरूप कारण भौतिक जगत् की वस्तु न होकर मानसिक जगत् की वस्तु है। स्वरूप कारण के अन्तर्गत हम जाति का समावेश कर सकते हैं क्योंकि कार्य के निर्माण के पूर्व कार्यगत जाति कर्त्ता के मानस पटल पर आ जाती हैं। जैसे, घट निर्माण के पूर्व घट गत जाति (घट को सामान्य आकृति) कुम्भकार के मस्तिष्क में आ जाती है। परन्तु न्याय जाति की कारणता को अलग से नहीं मानते हैं।

३. निमित्त कारण (एफिशियेण्ट काज्):—कार्य को उत्पन्न करने वाले साधनों को निमित्त कारण कहते हैं। जैसे, मूर्ति निर्माण में शिल्पकार के द्वारा प्रयुक्त वे सभी साधन जिनसे वह मूर्ति का निर्माण करता है वे निमित्त कारण हैं।

अरस्तू का एफिशियेण्ट काज् न्याय के निमित्त कारण की ही तरह है। अरस्तू तथा नैयायिक दोनो के अनुसार निमित्त कारण का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसके अन्तर्गत कर्त्ता तथा सभी साधन आ जाते हैं।

---

१. F. Copleston S. J. : A History of philosophy, Vol, I,

२. Tark Sangrah

३. राधाकृष्णन्: भारतीय दर्शन (भाग २)

४. उद्देश्य कारण (फाइनल काज्) :—कर्त्ता जिस प्रयोजन से कार्य करता है उस प्रयोजन को ही कार्य का अन्तिम कारण कहते हैं। जैसे, मूर्ति निर्माण में 'पूर्ण निर्मित मूर्ति' शिल्पी का प्रयोजन है। यह प्रयोजन भूत मूर्तिकार्य यहां अन्तिम कारण है।

इसीप्रकार, प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। बिना प्रयोजन के संसार में कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। नैयायिकों ने ऐसा कोई कारणभेद नहीं माना है। साधारण कारण के अन्तर्गत जो आठ कारणों की गणना की है उनमें से अदृष्ट कारण की तुलना प्रयोजक कारण से की जा सकती है। जैसे, कुम्भकार घट का निर्माण घट खरीदने वाले किसी अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए करता है। यहां खरीदने वाले का अदृष्ट साधारण कारण है। इस अदृष्ट को हम उद्देश्य कारण कह सकते हैं। लेकिन अदृष्ट और अन्तिम कारण में अन्तर है। न्याय ने धर्म और अधर्म के लिए अदृष्ट का प्रयोग किया है, 'पूर्ण आकृति' के लिए नहीं किया है। घट की उत्पत्ति के पूर्व घट खरीदने वाले का अदृष्ट उसमें कार्य करता है। अदृष्ट का हम कारण की कोटि में रख सकते है, तथा उद्देश्य कारण और अदृष्ट का साम्य भी दिखा सकते हैं। परन्तु अदृष्ट को अन्तिम कारण नहीं कह सकते।

अरस्तू के इन चार कारणों में स्पष्ट रूप से कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। स्वरूप कारण और उद्देश्य कारण में अन्तर स्पष्ट करना कठिन है। शिल्पकार मूर्ति बनाने के पूर्व जो आकृति अपने मस्तिष्क में सोचता है, मूर्ति बन जाने पर वह उसी आकृति को अनुभूत भी करता है। शिल्पी का प्रयोजन मूर्ति की पूर्ण आकृति की अनुभूति न होकर 'रुपया कमाना' हो तो औपचारिक कारण और अन्तिम कारण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जहां स्वरूप कारण ही निमित्त कारण बन जाता है। जैसे बीज को पौधा बनने की आकृति ही उसको बढ़ने तथा बढ़कर पौधा बन जाने में सहायता पहुँचाती है। बाद में प्लैटो और अरस्तू दोनों ने औपचारिक कारण व अन्तिम कारण को एक माना है।

कारण-बहुत्व[1]

तार्किक और व्यावहारिक दृष्टि से कारणवाद पर विचार करने से कारणबहुत्व का विवेचन करना अति आवश्यक हो जाता है। न्याय ने कारण की परिभाषा करके उसको एक निश्चित सीमा में बांध दिया अर्थात् कारण विशेष से ही कार्य विशेष की उत्पत्ति हो सकती है। घट की उत्पत्ति मृत्तिका से ही हो सकती है, जल से नहीं। तन्तु से ही पट उत्पन्न हो सकता अन्य से नहीं। परन्तु व्यवहार में ऐसे अनेक कार्य देखे जाते हैं, जिनकी उत्पत्ति में कारण-विशेष का ही हाथ नहीं होता अपितु, अनेक कारण उसके उत्तरदायी होते हैं। जैसे, कोई व्यक्ति मर जाता है तो उसकी मृत्यु के अनेक कारण हो सकते हैं। संभव है कि वह मनुष्य किसी बिमारी से मरा हो या उसकी मृत्यु गोली लग जाने से हुई हो, या यह भी हो सकता है कि उसने आग लगाकर अपनी आत्महत्या कर ली हो। अतः, किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए कारणविशेष मानना कथमपि उचित नहीं, एक कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं। इसका अन्य उदाहरण भी दिया जा सकता है। जैसे, किसी एक रोग के अनेक कारण हो सकते हैं, सामाजिक और राजनैतिक अवनति के अनेक कारण हो सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो रोग के उपचार हेतु आविष्कृत दवाइयों का तथा सामाजिक और राजनैतिक दोषों को दूर करने के लिए बनाई गई योजनाओं का कोई प्रयोजन नहीं रहता।

अब प्रश्न यह उठता है कि न्याय के कारणवाद के पास इस कारणबहुत्व की समस्या का कोई समाधान है ? क्या इस व्यावहारिक दृष्टि के समक्ष न्याय का कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति का सिद्धान्त टिकता है ?

न्याय कारण बहुत्व का समाधान बड़े ही तार्किक ढंग से करता है। न्याय कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति को स्पष्ट करता है। वस्तुतः, न्याय की दृष्टि सूक्ष्म है, वह अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले कार्यों को स्थूल दृष्टि से न देखकर उसके सूक्ष्म-भेद को भी देखता है। ध्यान से देखने पर अनेक कारणों से उत्पन्न कार्यों में भेद स्पष्ट

१. कारण-बहुत्व का अर्थ समवायि, असमवायि और निमित्त कारण नहीं समझना चाहिए। न्याय प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिए इन तीनों कारणों को आवश्यक मानता है, इसका यह अर्थ नहीं कि अनेक कारणों से एक कार्य की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः, समवायि, असमवायि और निमित्त ये तीनों कारण एक विशिष्ट कारण सामग्री हैं जो कार्य-विशेष की उत्पत्ति करते हैं। यदि अनेक कारण सामग्री मिल-कर किसी एक कार्य को उत्पन्न करें तो कारण-बहुत्व का आक्षेप किया जा सकता है।

दिखाई देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मृत्यु अनेक कारणों से होती है, परन्तु उन पृथक्-पृथक् कारणों से होने वाली मृत्यु के प्रकार या रूप में अन्तर अवश्य होता है। गोली से मरने वाले, विष खाकर मरने वाले या जलकर मरने वाले, इन तीनों मृत व्यक्तियों के भेद को स्पष्ट जाना जा सकता है। इसी प्रकार, अनेक-कारण से उत्पन्न आलोक में भी अन्तर स्पष्ट ज्ञात होता है सूर्य की किरणों से उत्पन्न प्रकाश तथा प्रदीप से उत्पन्न प्रकाश के अन्तर को एक बालक भी बता सकता है।

हम सभी स्थूल कार्य भेद को देखते हैं। कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनमें सूक्ष्म भेद होता है। तृण, अरणि और मणि तीनों से उत्पन्न अग्निदाह का अन्तर स्पष्ट न होने के कारण ही कुछ दार्शनिक कारण बहुत्व जैसी भ्रान्त कल्पना कर बैठते हैं तथा इन तीनों को ही अग्निदाह का कारण स्वीकार करते हैं।

मीमांसकों द्वारा किया गया कारण बहुत्व का समाधान[1]

मीमांसक भी कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति मानते हैं। वे कारण की परिभाषा अन्वयव्यतिरेकित्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अग्निदाह की उत्पत्ति में तृण, अरणि मणि तीनों कारणों को आवश्यक मानने पर 'कारण-कार्य' की व्यवस्था नहीं बन पाती। अग्नि- दाह के अनेक कारण मानने पर अन्वय व्याप्ति बन जाती है।

'तृणसत्वे वह्नि सत्ता; अरणि सत्वे बह्नि सत्ता; मणि सत्वे बह्नि सत्ता।' लेकिन व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन पाती है 'तृणाभावे वह्न्याभावः 'हम नहीं कह सकते क्योंकि तृण जन्य बह्नि का अभाव होने पर भी अरणि जन्य और मणि जन्य बह्नि का अभाव नहीं है। इसी प्रकार, अरणि और मणि के साथ भी बह्नि की व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन सकती। व्यतिरेक व्याप्ति न बनने से तृण, अरणि और मणि तीनों ही बह्नि के कारण नहीं बन सकते।

इस समस्या का समाधान मीमांसक अपने शक्ति सिद्धान्त से करते हैं। अग्नि की उत्पत्ति का कारण तृण, अरणि और मणि नहीं है अपितु, दाहानुकूल शक्ति कारण है अर्थात् तृण, अरणि और मणि की कारणता स्वरूपतः न होकर दाहानुकूल शक्तिमत्वेन है। उनका कारणतावच्छेदक धर्म तृणत्व, अरणित्व या मणित्व नहीं है अपितु, दाहानुकूलशक्तिमत्व है। शक्ति को कारण मानने पर कारण-कार्य भाव का अन्वय-व्यतिरेकित्व ठीक घटता है।

'बह्न्यनुकूलशक्तिमत्वे सति वह्नि सत्ता'
'बह्न्यनुकूलशक्तिमत्वाभावे सति बह्न्याभावः'

---

१. न्याय कुसुमाञ्जलि।

इससे अन्वय तथा व्यतिरेक इन दोनों में से किसी का भी व्यभिचार नहीं होता। साथ ही तीन कारण मानने की अपेक्षा एक शक्ति को कारण मानने में लाघव है।

नैयायिकों द्वारा किया गया शक्ति सिद्धान्त का खडण्न

न्याय यथार्थवादी है, तार्किक है किसी भी नित्य सत्ता को यथार्थता की कसौटी पर बिना कसे स्वीकार नहीं करता। वह ऐसे ही तथ्यों को स्वीकार करता है जो आवश्यक हो जिसके अभाव में कार्य को उत्पत्ति न हो सके। इस प्रकार की अतीन्द्रिय शक्ति कारण-बहुत्व की समस्या का समाधान नहीं करती अपितु, कारणवाद के सिद्धान्त में एक रहस्यात्मकता पैदा कर देती है। समस्या को सुलझाने के बजाय उसको और उलझा देती है। मीमांसक कारण-बहुत्व की समस्या का समाधान नहीं कर पाते और शक्ति की एक नयी समस्या उत्पन्न कर देतें है। नैयायिक शक्ति सिद्धान्त के खण्डन के लिए निम्न तर्क देते हैं।[1]

१. शक्ति सिद्धान्त मान लेने पर धूमादि के द्वारा बह्न्यादि का अनुमान नहीं बन सकेगा। अनुमान के लिए घूम और बह्नि की प्राप्ति का ज्ञान आवश्यक है। सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा सकल धूम और सकल बह्नि के सहचार ग्रहण के द्वारा हो यह व्याप्ति बनती है। इस प्रकार, धूमत्व और बह्नित्व सामान्य के द्वारा सब देश और सब काल के धूम और वह्नि का ग्रहण मानकर ही उनकी व्याप्ति सम्बन्ध का निश्चय होता है। शक्ति सिद्धान्त मान लेने पर इस प्रकार की व्याप्ति नहीं बनती क्योंकि यहाँ वह्नि वह्नित्वेन धूम के प्रति कारण नहीं है अपितु, धूमानुकूलशक्तिमत्वावच्छिन्नत्वेन कारण है। अतः, घूम और बह्नि की व्याप्ति नहीं बनेगी। दूसरे साधारणतः कार्यतावच्छेदककावच्छिन्न कारणतावच्छेदकावच्छिन्न का अनुमापक होता है। परन्तु इस प्रसंग में धूमत्वावच्छिन्न घूम कार्य वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि का अनुमापक होगा। अतः, शक्तिसिद्धान्त मानने पर धूमादि के द्वारा बह्नायादि का अनुमान नहीं होगा।

२. शक्तिसिद्धान्त मान लेने पर 'रविकिरण और मणि, तृण और फूत्कार, अरणि और मन्थन के समवधान में वह्नि पैदा होती है, यह व्यवस्था नहीं बन पाएगी। शक्तिसिद्धान्त के अनुसार तृण, अरणि, मणि और उनके सहकारि फूत्कार, मन्थन तथा रवि किरण संयोग स्वरूपतः बह्नि के प्रति कारण नहीं हैं बह्न्यनुकूलशक्तिमत्वेन ही कारण है। अर्थात् इन छहों में बह्न्यनुकूल शक्तिमत्ता रहती है। तब उनमें से किन्ही

१. विजातीयेष्वेकजातीयकार्यानुकूलशक्तिकल्पने धूमादिना बह्न्यनुमानं न स्यात्।
(न्याय कुसुमाञ्जलि टीका)

दो के समधान से वह्नि उत्पन्न हो सकती हैं क्योंकि सब में वह्न्यनुकूल शक्तिमत्ता सामान्य रूप से विद्यमान है। अर्थात् तृण और मन्थन, अरणि और रवि किरण, मणि और फूत्कार आदि के सम्बन्ध से भी बह्नि उत्पन्न होने लगेगी। अतः, शक्ति सिद्धान्त के मानने पर तृण और फूत्कार के समवधान की जो बनी हुई व्यवस्था है वह नहीं रह सकेगी।[1]

३. शक्ति सिद्धान्त मानने पर तीसरा दोष यह होगा कि अनन्त शक्तियों से उत्पन्न होने वाले अनन्त प्रागभाव और अनन्त ध्वंस की कल्पना करनी पड़ेगी। जिस पर पहले विचार किया जा चुका है।[2]

नैयायिकों द्वारा किया गया कारण-बहुत्व का समाधान

नैयायिकों ने कारण तथा कार्य की एक निश्चित परिभाषा की है। कारण नियतपूर्ववर्ती अन्यथासिद्ध है तथा कार्य नियतपश्चात्वर्ती अनन्यथासिद्ध है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि न्याय मत में कारण बहुत्व अस्वीकृत है। कारणविशेष से कार्य, विशेष की ही उत्पत्ति हो सकती है। तृण, अरणि और मणि से उत्पन्न वह्नियों में अवान्तर जाति भेद है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण स्थूल दृष्टि से हम उस भेद को देख नहीं पाते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तीनों कारणों से उत्पन्न वह्नि में अवान्तर भेद दृष्टिगत होता है। स्थूल दृष्टि से भेद न दीखने पर भेद को अस्वीकार कर देना उचित नहीं है। देवदत्त परदेश गया है यहाँ वह दृष्टिगत नहो हो रहा हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि देवदत्त है ही नहीं।

इस प्रकार का कार्य वैजात्य मान लेने पर अन्वयव्यतिरेकित्व में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होता। तृण से उत्पन्न वह्नि विशिष्ट प्रकार की होती है तथा अरणि और मणि से उत्पन्न होने वाली वह्नि विशिष्ट प्रकार का होती है। तृण की उपस्थिति में तृणजन्य वह्नि होती है। तृण के अभाव में अरणि और मणि जन्य वह्नि के रहने पर भी तृण जन्य वह्नि का अभाव है।

'तृण सत्वे तार्णवबह्निसत्ता'; 'तृणाभावे तार्णववह्न्यभावः'। इत प्रकार, अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्ति बन जाती है। कार्य वैजात्य मानने से कारण-कार्य भाव ठीक घटता है। पूर्वपक्षी यह शंका करते हैं कि कार्य भेद समवायिकारण के भेद पर निर्भर करता है निमित्त कारण पर नहीं। तृणादि निमित्त कारण हैं अतः, उनके भेद

---

१. न स्याच्च तृणफूत्कारसमवधानस्य, निर्मन्थनारणिसमवधानस्य, प्रतिफलितरविकिरण-समवधानस्य च प्रतिनियमः। (न्याय कुसुमाञ्जलि टीका)

२. अनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्ति-तत्प्रागभाव-ध्वंस कल्पनानौचित्यान्।

(न्या० सि० मु० श्लोक २)

से कार्य में भेद नहीं मानना चाहिए। ऐसी शंका निराधार है। समवायिकारण से ही जाति नियम नहीं बनता है। समवायिकारण के भेद से ही कार्य भेद मानते तो दूध और दधि में कोइ अन्तर नहीं रह जाता। आम्ल का दूध के साथ संयोग दूध को दधि रूप में बदल देता है। यहाँ निमित्त कारण से ही दूध में अन्तर आकर दूध-दधि का कारण कार्य भाव बनता है।[1]

कार्य में अवान्तर जातिभेद मानने से प्रतिनियम-व्यवस्था का व्यभिचार भी नहीं होता है। जैसे तृण के फूत्कार से ही अग्नि उत्पन्न होती है, मन्थन से नहीं। निमित्त कारण, तृण जन्य वह्नि को अन्य वह्नि से पृथक् कर देता है। इसी प्रकार, रविकिरण और मणि के संयोग से तथा अरणि के मन्थन से ही वह्नि उत्पन्न होती हैं। प्रतिनियम की व्यवस्था का उल्लंघन नहीं हो सकता। अतः यह स्पष्ट है कि निमित्त कारण के भेद से वह्नि में अवान्तर जाति भेद होता है।

कारण भेद से कार्य में अवान्तर जाति भेद के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। प्रचण्ड ज्वाला से उत्पन्न प्रकाश तथा प्रदीप से उत्पन्न प्रकाश में साम्य होते हुए भी इनका अन्तर स्पष्ट दृष्टि गोचर होता है। यह भेद स्थूल है, हमें दृष्टिगत होता है, इस लिए हम मान लेते हैं। परन्तु तृण, अरणि और मणि से उत्पन्न वह्नि भेद सूक्ष्म है, स्पष्ट नहीं होता अतः, हम उसे नहीं मानते। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि हमें अवान्तर जाति भेद मानना चाहिए।[2]

पूर्वपक्षी यह शंका करते हैं कि कार्य में अवान्तरजाति भेद मानने पर अनुमान विषयक व्यवस्था नहीं बन पाएगी। अनुमान की प्रक्रिया के अनुसार सामान्य साधन से हम सामान्य साध्य का अनुमान करते है। वह्नि में अवान्तर जाति भेद मानने पर उनसे उत्पन्न धूम में भी अवान्तर भेद मानना पड़ेगा। परन्तु न्याय-वैशेषिक के लिए ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। धूम में अवान्तर जाति भेद मानने पर भी अनुमान की प्रक्रिया में कोई आपत्ति नहीं आती। न्याय-वैशेषिक केवल धूम विशेष मानते तब तो व्याप्ति संभव नहीं थी परन्तु वे विशेष के अतिरिक्त सामान्य भी मानते हैं अतः, सामान्य धूम के आधार पर सामान्य वह्नि का अनुमान होगा ही। यह शंका बौद्ध मत में की जा सकती थी जो विशेष को ही मानते हैं सामान्य को नहीं मानते।[3]

---

१. न च जातिनियमे समवायिकारणमात्रं निबन्धमपितु सामग्री। अन्यथा द्रव्यगुणकर्मणामेकोपादानकत्वे विजातीयत्वं न स्यात्। न च कार्यद्रव्यस्यैषा रीतिरिति युक्तम्। आरब्ध-दुग्धैरेवावयवैर्दध्यारम्भदर्शनात्। (न्याय कुसु०)

२. दृश्यते च पावकत्वाविशेषेऽपि प्रदीपः प्रसादोदरव्यापकमालोकमारभते, न च तथा ज्वालाजालजटिलोऽपि दारूदहनो न तराञ्च कारीषः। (न्याय कुसु०)

३. (न्याय कुसु०)

तृणादि विशेष को वह्नयादि विशेष का कारण मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि दाह सामान्य का प्रयोजक कौन है ? तृ णादि विशेष इसके प्रयोजक हो नहीं सकते। इसका समाधान उदयन ने किया है। दाह सामान्य या तेज मात्र का समवायिकारण तेज के अवयव, असमवायिकारण अवयव संयोग तथा निमित्त कारण पवन हैं। ये ही समवायि, असमवायि और निमित्त कारण अन्य भिन्न-भिन्न निमित्त कारणों के सम्पर्क में आकर भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। जैसे, ये ही कारण गुरूत्व द्रव्यरूप सामग्री के सम्पर्क में आकर पिण्डित रूप धारण कर लेते हैं, तेजगत् उद्भूत स्पर्श को प्राप्त कर दहन रूप धारण कर लेते हैं, जल के सम्पर्क में आकर दिव्य रूप धारण कर लेते हैं, पार्थिव सामग्री के सम्पर्क में आकर भौमरूप धारण कर लेते हैं, जल और पार्थिव दोनो सामग्रियों के सम्पर्क में आकर औदार्य रूप धारण करते है।[1]

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा किया गया कारण-बहुत्व का समाधान[2]

रघुनाथ शिरोमणि ने प्राचीन नैयायिकों द्वारा अभिमत तृण, अरणि और मणि गत तीन जातियों की कल्पना को कल्पना गौरव माना है। उनके अनुसार तीनों कारण और कार्य के सम्बन्ध की एक सामान्य शक्ति मान लेने में कल्पना लाघव है। तृण, अरणि और मणि तीनों में विद्यमान संबंध शक्ति के स्थान पर जाति की कल्पना करने पर जातिसंकर दोष आ जाता है। नोदनत्व जाति संबंध त्रितयनिष्ठ जाति के साथ रहती है तथा उससे पृथक् होकर भी। जैसे, मणि और रविकिरण संयोग में नोदनत्वजाति तथा संबंधत्रितयनिष्ठ जाति दोनों हैं, परन्तु अरणि मन्थन में संबंध त्रितयनिष्ठ जाति है, नोदनत्व नहीं है। इसी प्रकार, कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ संबंध त्रितयनिष्ट जाति नहीं है परन्तु नोदनत्व है। जैसे; रथादि संयोग में नोदनत्वजाति है, परन्तु संबंध त्रितयनिष्ट जाति नहीं है। अतः, तृण अरणि और मणि के संबंधों की एक शक्ति ही मानना चाहिए संबंधत्रितयनिष्ठ जाति नहीं मानना चाहिए।[3]

रघुनाथ शिरोमणि की संबंध शक्ति की कल्पना से इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि तृण, अरणि और मणि में वहनि विशेष को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है।

---

१. तेजमात्रोत्पत्तौ पवनो निमित्तम, अवयवसंयोगो समवायि, तेजोंवयवाः समवायिनः। इयमेव सामग्रीगुरूत्ववद्द्रव्यसहिता पिण्डितस्य। इयमेव तेजोगतमुद्भूतस्पर्शमपेक्ष्य दहनं, तत्रापि जलं प्राप्य दिव्यं पार्थिवं प्राप्य भौमम्, उभयं प्राप्यौदर्यमारमत इति स्वयमूहनीयम्। (न्याय कुसु०)

२. तृणारणिमण्यादिस्थले जातित्रयकल्पनामपेक्ष्य तत्तत्सम्बन्धानामेकशक्तिमत्वेन कारणत्वकल्पनाया एव लघुत्वेन न्याय्यत्वात्। (पदार्थ तत्त्व निरू०)

३, सम्बन्धत्रितयनिष्ठैकजात्यङ्गीकारे च नोदनत्वादिना जातिसङ्करप्रसङ्गः। (पदार्थ तत्त्व निरू०)

इस विशिष्ट कारण सामर्थ्य को स्पष्ट करने के लिए ही रघुनाथ शिरोमणि ने एक अन्य शक्ति की कल्पना की हैं। यह शक्ति तृण, अरणि और मणि में विद्यमान एक अन्य शक्ति है। इस प्रकार उनके अनुसार तृण, अरणि और मणिगत तीन जाति मानने की अपेक्षा सम्बन्ध त्रितयनिष्ठशक्ति और कारण शक्ति अर्थात् दो शक्ति मान लेने में लाघव है।[1]

पाश्चात्य दर्शन में कारण बहुत्व पर विचार

प्रसिद्ध अनुभववादी पाश्चात्य दार्शनिक मिल के अनुसार यह कोई आवश्यक नहीं कि कार्य विशेष की उत्पत्ति कारण विशेष से ही हो। एक कार्य का अन्वय व्यतिरेकित्व अनेक कारणों से हो सकता है। एक कार्य की उत्पत्ति अनेक कारणों से हो सकती है।[2]

कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने मिल के इस सिद्धान्त की खुलकर आलोचना की है। उनके अनुसार मिल का यह सिद्धान्त सामान्यतः तो स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इसकी मान्यता स्थूल जगत तक ही सीमित है। मकान के जलने के अनेक कारण हो सकते हैं। मिट्टी के तेल से या बिजली के तारों में कुछ खराबी आ जाने से या चिमनी दोषपूर्ण होने से मकान में आग लग सकती है। मैनेजर मकान में आग लगने का कारण पूछता है और कर्मचारी उन सभी कारणों को बताता है तो उसका उत्तर संतोषजनक नहीं माना जाएगा क्योंकि कर्मचारी से यहाँ यह पता लगाने के लिए नहीं कहा गया है कि आग लगने के कौन-कौन से कारण हैं। यहाँ कर्मचारी का कार्य है उस कारण का पता लगाना है जिससे मकान विशेष में आग लगी है। इस प्रकार साधारण-रूप से भी लोगों का ध्यान कारण–विशेष पर ही जाता है, कारण सामान्य पर नहीं। मिट्टी का तेल किसी अन्य प्रकार से मकान को जलाता है, बिजली के तारों में खराबी होने से किसी अन्य प्रकार से ही मकान जलता है। निरीक्षण करने से दोनों का अन्तर पता किया जा सकता है। मिल ने जो उदाहरण दिया है कि व्यक्ति की मृत्यु के अनेक कारण हो सकते हैं वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वैज्ञानिक निरीक्षण से मृत्यु के कारण विशेष का पता चल जाता है।[3]

कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार कार्य विशेष की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट, आवश्यक तथा पर्याप्त कारण–सामग्री की आवश्यकता होती है। एक कार्य का अनेक

---

१. यदि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां तृणादेरपि कारणत्वमिष्यते तदा तेषामप्येकशक्तिमत्वेन तदस्तु तथापि जातित्रयकल्पनामपेक्ष्य शक्तिद्वयकल्पनैव लाघवेन ज्यायसीति।

(पदार्थ तत्त्व निरू०)

2. Mill J. S. : A System of Logic Vol. I 214.15

3. Coben Morris R and Nagel Ernest : An Introductiou To Logic And Scientific Method,

कारण मानने पर यह व्यवस्था नहीं बन पाती हैं। कारण बहुत्व मान लेने पर कार्य से कारण का अनुमान करना असंभव हो जाएगा। जब किसी कार्य विशेष का कारण पता करने के लिए हम सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं तब कारण-बहुत्व का भ्रम अपने आप दूर हो जाता है। जैसे, किसी खेत में अनाज न पैदा होने के अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है कि सूखा पड़ गया हो, या अधिक वारिश हो गई हो या बीज खराब हो। यहाँ अनावृष्टि अतिवृष्टि या अनुपयोगी बीज से होने वाली क्षति में स्पष्ट अन्तर दीखता है।[1]

विलियम जेम्स का कथन हैं कि प्रत्येक भिन्नता, भिन्नता को जन्म देती है अर्थात् जितने प्रकार के कारण होगें उतने ही प्रकार का कार्य होगा। कार्यो में समानता तभी हो सकती है, जबकि उस कार्य के कारण में समानता हो।[2]

समवायिकारण की परिभाषा से न्याय-वैशेषिक के भेदभाव का स्पष्टीकरण होता है। 'तन्तु में समवेत होकर पट उत्पन्न होता है' इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि तन्तु आधार है और पट आधेय अर्थात् कारण और कार्य की भिन्न-भिन्न सत्ता है। समवायिकारण की परिभाषा से न्याय-वैशेषिक का दूसरा विशिष्ट प्रयोजन यह सिद्ध होता है कि उनके सिद्धान्त के अनुसार 'तन्तु में पट उत्पन्न होता है', न कि 'तन्तु से पट उत्पन्न होता है।' अर्थात् तन्तु से पट की उत्पत्ति मानने का अर्थ होता है कि 'तन्तु पट को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है' यह बौद्धो को मान्यता है जिसे न्याय-वैशेषिक नहीं मानते हैं। न्याय-वैशेषिक तन्तु में पट की उत्पत्ति मानते हैं। तन्तु में पट की उत्पत्ति कहने से यह बात स्पष्ट होती है कि तन्तु पट को उत्पन्न करने के बाद भी पट के साथ-साथ रहता है, बौद्ध सिद्धान्त की तरह तन्तु पट को उत्पन्न करके नष्ट नहीं हो जाता। यहाँ एक दृष्टि से नैयायिकों और बौद्धो में साम्य भी है। दोनों के अनुसार तन्तु पट को अपनी सत्ता नहीं देता। इसके विपरीत सांख्य के अनुसार तन्तु पट को अपनी सत्ता ही नहीं देता अपितु, वह पट रूप हो जाता हैं।

न्याय-वैशिषिक घट को घटगत रूपादि का समवायिकारण मानते हैं तथा कारण और कार्य में पौर्वापर भाव के निर्वाह के लिए प्रथम क्षण में निर्गुण घट की उत्पत्ति मानते हैं। यदि इसे हम न्याय वैशेषिक की कोरी कल्पना मान लें तो इसमें कोई असंगति नहीं दीखती। न्याय-वैशेषिक अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए अनेक ऐसी विचित्र कल्पनायें करते हैं जिनको स्पष्ट नहीं किया जा सकधा। गुण और गुणी में भेद

1. Copi Irvind M : Introduction To Logic.
2 William James 'dictum that every difference mvst make a difference.'
(Copi Irving M : Introduction to Logic.

के निर्वाह के लिए प्रथम क्षण में निर्गुण घट की उत्पत्ति मानना, निर्गुण अप्रत्यक्ष घट से व्यवहार का निर्वाह होना, निर्गुण घट को द्रव्य मानना सभी बातें बड़ी विचित्र लगती हैं। परन्तु न्याय द्वारा अभिमत भेदवाद के निर्वाह के लिए इनकी कल्पना अत्यन्त आवश्यक है।

असमवायिकारण न्याय-वैशेषिक की अपनी विशिष्ट कल्पना है। कारण का यह प्रकार भी न्याय-वैशेषिक के भेदवाद को ही स्पष्ट करता है। न्याय-वैशेषिक द्रव्य और गुण में भेद मानते है। तन्तु और तन्तु संयोग भिन्न-भिन्न हैं अतः, पट की उत्पत्ति में दोनों दो तरह से कारण बनते हैं एक समवायिरूप से दूसरा असमवायि रूप से। सांख्य, वेदान्तादि द्रव्य और गुण में भेद नहीं मानते अतः, उनको तन्तु से पृथक् कारण मानने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रसंग में इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि न्याय-वैषिक असमवायिकारण के द्वारा ही सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया स्पष्ट करते हैं। परमाणुओं के नित्य होने पर भी उन परमाणुओं के संयोग से (असमवायिकारण से) नित्य सृष्टि नहीं होती। उन परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के संयोग से नानात्मक जगत् उत्पन्न होता है। असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश न मानते तो प्रलय संभव नहीं हो सकता। द्वयणुक के अवयव परमाणुओं के नित्य होने से उनका नाश कभी नहीं हो सकता। अतः, न्याय-वैशेषिक यह मानते हैं कि परमाणुओं के संयोग के नाश से द्वयणुक का नाश होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार कारण गुण से कार्य गुण उत्पन्न होता है। उनकी इस मान्यता का निर्वाह भी असमवायिकारण के मानने से होता है। तन्तु रूप पट रूप की उत्पत्ति में असमवायिकारण बनता है। यहां हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि न्याय-वैशेषिक अपनी आधारभूत मान्यता भेदवाद को स्पष्ट करने के लिए अनेक कल्पनायें करता है। जैसे, इस प्रसंग में भेदवाद को स्पष्ट करने के लिए असमवायि कारण से कार्य की उत्पत्ति, असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश, कारण गुण से कार्य गुण की उत्पत्ति, ये सभी कल्पनायें न्याय-वैशेषिक के आधारभूत मान्यता की पुष्टि करती हैं, अतः, इन्हें हम अदार्शनिक या अतार्किक नहीं कह सकते। सैद्धान्तिक भेद के कारण अन्य दार्शनिक इसमें आपत्ति अवश्य कर सकते हैं, परन्तु इसमें असंगति नहीं दिखा सकते।

न्याय-वैशेषिक द्वारा स्वीकृत तृतीय निमित्त कारण है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसमें नैयायिकों ने कर्त्ता तथा कार्य की उत्पत्ति में आवश्यक सभी साधनों का समावेश किया है। हमारी दृष्टि से नैयायिकों को निर्जीव और सजीव कारण की दृष्टि से निमित्त कारण का दो भेद करना चाहिए था। इससे यह स्पष्ट हा जाता है कि समस्त जगत् के नियन्ता ईश्वर की कारणता, निर्जीव कारण दण्ड, चक्रादि से भिन्न है।

इस प्रसंग में हमने अरस्तू द्वारा स्वीकृत कारण के चार भेद पर विचार किया। अरस्तू का उपादान कारण, औपचारिक और निमित्त कारण, न्याय के समवायि, असम-

वायि और निमित्त कारण से साम्य रखते हैं। परन्तु अरस्तू का औपचारिक कारण मानसिक जगत् की वस्तु है, इस दृष्टि से हम औपचारिक कारण में जाति का समावेश कर सकते हैं। कार्य के निर्माण के पूर्व कार्यगत जाति कर्त्ता के मानस पटल पर आ जाती है। नैयायिकों ने अरस्तू के चतुर्थ कारण अर्थात् अन्तिम कारण को कारण के भेद के रूप में नहीं स्वीकार किया है। परन्तु नैयायिकों ने आठ साधारण कारणों के अन्तर्गत जो अदृष्ट की गणना की है उसकी तुलना अन्तिम कारण से की जा सकती है।

न्याय-वैशेषिक कारण विशेष से कार्यविशेष की उत्पत्ति मानते हैं। कार्यगत सूक्ष्म भेद न समझ सकने के कारण ही हम अनेक कारणों से एक कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। कारण बहुत्व की समस्या के समाधान के लिए नैयायिकों ने मीमांसकों की तरह रहस्यात्मक शक्ति की कल्पना नहीं की। उन्होंने कार्य वैजात्य मानकर इस समस्या का समाधान किया है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी मिल के कारण बहुत्व की कल्पना का खण्डन किया है तथा कार्य वैजात्य मानकर कारण बहुत्व की समस्या का समाधान किया है। हमें व्यावहारिक तथा तार्किक दोनों दृष्टि से नैयायिकों द्वारा किया गया कारण-बहुत्व की समस्या का समाधान युक्तियुक्त प्रतीत होता।

चतुर्थ अध्याय

कारणता सम्बन्ध

हमारा दैनिक जीवन का यह अनुभव है कि हम तिल से तेल की उत्पत्ति होते हुए देखते हैं, तिल के अभाव में तेल उत्पन्न होते नहीं देखते। पुष्प में सुगन्धि पाते हैं, सुगन्धि को पुष्प से अलग करके नहीं देखते। दोनों को बार-बार साथ देखने से हम अपने मस्तिष्क में दोनों के बीच एक सम्बन्ध की कल्पना कर लेते है। परन्तु हमारी यह कल्पना वास्तविक है या नहीं ? इस प्रश्न पर हम भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि से विचार करेंगे।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि कारणता सिद्धान्त के प्रसंग में कारणता सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। सम्पूर्ण भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में कारणता सम्बन्ध का विचार इस प्रकार छाया हुआ है कि कारणता की समस्या सम्बन्ध की समस्या बन गई है। सम्बन्ध की समस्या का समाधान न हो सकने के कारण ही दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन और अन्य मान्यताओं का विकास हुआ। क्या कारण कार्य भाव सम्बद्ध ही रहते हैं ? असम्बद्ध कारण-कार्य भाव नहीं रहते ? ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जिसमें दो वस्तुएँ असम्बद्ध भी हो और उनमें कारण-कार्य भाव भी हो ? कारण और कार्य के बीच सम्बन्ध है तो उसका स्वरूप क्या है ? सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से पृथक है या नहीं ? आदि प्रश्नों ने कारणता की समस्या का स्थान ले लिया एवं दार्शनिकों का संघर्ष कारण से हटकर उसके सम्बन्ध के विषय में प्रारम्भ हो जाता है। सम्बन्ध की दृष्टि से भारतीय दर्शन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. कुछ दर्शन व्यवहार और परमार्थ में भेद करते हैं। उनके अनुसार व्यवहारिक दृष्टि से कारण-कार्य सम्बन्ध है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। जैसे, अद्वैत वेदान्त, एवं माध्यमिक।

२. कुछ दर्शन ऐसे हैं जिन्होंने व्यवहार और परमार्थ का भेद नहीं किया है। उनके अनुसार परमार्थ व्यवहार से अलग नहीं है। वे सम्बन्ध को सत्यरूप से स्वीकार करते हैं। जैसे, न्याय, साख्य और जैन।

अब हम प्रत्येक भारतीय दर्शन की दृष्टि से क्रमशः करणता सम्बन्ध पर विचार करेगें। सांख्य अभेदवादी दर्शन है। कारणता की दृष्टि से वह सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है तथा अभेद को प्रमुख मानता है। कारण में कार्य अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता

है अतः, कार्य कारण की ही व्यक्तावस्था है। कार्य कारण से बाह्य रूप में भिन्न है, वस्तुतः कारण और कार्य में कोई भेद नहीं है, परन्तु सांख्य कारण और कार्य दोनों को सत् मानता है। दो यथार्थ सत् के बीच सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है। सांख्य अपने अभेदवाद का समर्थन करने के लिए कारण और कार्य के बीच तादात्म्य सम्बन्ध मानता है। तादात्म्य सम्बन्ध मानने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण कार्य के स्वरूप का ही है, उससे भिन्न नहीं है।

अद्वैतवेदान्त अभेदवादी दर्शन है। वह कारण और कार्य में नितान्त अभेद मानता है। शंकर व्यवहार और परमार्थ में भेद करते है। शंकर व्यवहार में कार्य-कारण भाव तथा दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करते है क्योंकि तादात्म्य से ही कारण और कार्य का अभेद स्पष्ट होता है। मृतिका से घट उत्पन्न होता है, यहां मृत्तिका और घट दोनों का एक ही स्वरूप है, दोनों में भेद नहीं है अतः, दोनों में तादात्म्य है। परन्तु शंकर जब इस सिद्धान्त की तात्त्विक दृष्टि से व्याख्या करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि कारण और कार्य दोनों को यर्थाथ मानने पर सम्बन्ध की व्याख्या नहीं हो सकती। दो यथार्थ सत्तायें अपने-अपने स्वरूप से स्थित है अतः, दोनों के बीच सम्बन्ध का प्रश्न नहीं उठता। शंकर के अनुसार दो यथार्थ सत्ताओं के बीच तादात्म्य कथमपि नहीं हो सकता, न ही दोनों के बीच अभेद हो सकता है। इसप्रकार, शंकर सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार तादात्म्य या अभेद का अर्थ होता है कि एक वस्तु, दूसरी वस्तु में अपनी सत्ता खो दे। यह तभी संभव हो सकता है जबकि दोनों में से कोई एक मिथ्या हो। दोनों के यथार्थ होने से ऐसा संभव नहीं हो सकता। शंकर ने कारण और कार्य में से कार्य को मिथ्या सिद्ध किया। इसके लिए शंकर यह तर्क देते है कि कारण और कार्य में कार्य गौण है। कार्य की सापेक्ष सत्ता है एवं कारण की निरपेक्ष। कारण कार्य के बिना स्वतंत्र रूप से रह सकता है परन्तु कार्य कारण के बिना नहीं रह सकता अतः, कार्य मिथ्या है। तात्विक दृष्टि से कारण ही सत् है कार्य मिथ्या। वस्तुतः, अद्वैतवेदान्त के विवर्तवाद के अनुसार सम्बन्ध का कोई स्थान नहीं है। कारण ही सत् है, कार्य मिथ्या है अर्थात् एक की ही सत्ता है दूसरे की नहीं।

जैन यथार्थवादी एवं अनेकान्तवादी दर्शन है उसके अनुसार कारण और कार्य में कथंचित् भेद है तथा कथंचित् अभेद अर्थात् पट तन्तु से बाह्य आकार-प्रकार में भिन्न हैं परन्तु द्रव्य की दृष्टि से तन्तु और पट में कोई भेद नहीं है। अतः, जैन ने कारण और कार्य के बीच भेदाभेद संबंध स्वीकार किया है। कारण और कार्य का यह स्वभाव है कि दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। जैन कारण और कार्य दोनो की सत्ता मानता है इसलिए उसे संबंध मानना आवश्यक हो जाता है।

क्षणभंगवादी दार्शनिकों के अनुसार वस्तु की प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश होता है। कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य उत्पन्न होता हैं। अंकुर के नष्ट हो जाने पर

बीज की उत्पत्ति होती है। कार्य क्षण में कारण नहीं रहता। अतः, क्षणभंगवाद के अनुसार संबंध मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सौत्रान्तिकों के अनुसार स्वलक्षण या क्षणिक पदार्थ ही सत् है। ये स्वलक्षण एक दूसरे से पृथक्-पृथक् सर्वात्मना स्थित हैं।

न्याय वस्तुवादी एवं यथार्थवादी दर्शन है। उसके अनुसार जिस वस्तु की यथार्थ प्रतीति होती है, उसको बाह्य वस्तु जगत् में यथार्थ सत्ता माननी पड़ती है। हमें तन्तु और पट की सम्बद्ध रूप में प्रतीति होती है। हम सदैव पट को तन्तु के साथ देखते हैं, तन्तु से पृथक् करके पट को नहीं देखते। अतः, इस संबंध की यथार्थ प्रतीति को बाह्य वस्तु जगत् में स्वीकार करना पड़ता है।

न्याय–वैशेषिक भेदवादी दर्शन है। वे कारण और कार्य में नितान्त भेद मानते हे। यदि वे भेद नहीं मानेगे तो 'अमुक कारण से अमुक कार्य की उत्पत्ति हुई' इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अर्थात् 'कारण' 'कार्य' 'उत्पत्ति' इन तीनों का अर्थ भेद मानने पर ही स्पष्ट होता हैं। तन्तु और पट एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है, परन्तु यह भिन्नता वैसो नहीं है जो मेज और उस पर रखो हुई पुस्तक में दृष्टिगोचर होती है। मेज और उस पर रखी हुई पुस्तक तो एक दूसरे से अलग-अलग हो सकते हैं, परन्तु तन्तु और पट एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी पृथक् नहीं हो सकते। ऐसी दो वस्तुओं को न्याय–वैशेषिक की भाषा में अयुतसिद्ध कहते हैं।

एक तरफ तन्तु और पट, एक दूसरे से भिन्न है और दूसरी तरफ दोनों अयुतसिद्ध हैं, इन दोनों बातों का एक साथ होना कैसा असंभव प्रतीत होता है, परन्तु न्याय–वैशेषिक इसे संभव कर देते हैं। उनके द्वारा अभिमत समवाय संबंध भेद और अयुत सिद्धत्व दोनों को एक साथ संभव कर देता हैं। यदि न्याय–वैशेषिक समवाय संबंध को नहीं मानते तो सर्वास्तिवादियों की तरह न्याय–वैशेषिक की कारण–कार्य की व्याख्या भी एक असम्बद्ध घटना मात्र रह जाती क्योंकि न्याय–वैशेषिक भी सर्वास्तिवादियों की तरह कारण और कार्य में नितान्त भेद मानते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्याय–वैशेषिक वस्तुवादी और भेदवादी दर्शन है इसलिए उन्हें संबंध मानना आवश्यक है, परन्तु यहाँ यह शंका उठ सकती है कि न्याय–वैशेषिक समवाय संबंध के स्थान पर तादात्म्य संबंध क्यों नहीं मान लेते ? वस्तुतः, देखा जाय तो तादात्म्य संबंध मान लेने पर न्याय–वैशेषिक के भेदवाद की रक्षा नहीं हो पाएगी। तन्तु और पट के बीच तादात्म्य संबंध मानने का अर्थ होता है कि तन्तु और पट में अभेद है इस प्रकार न्याय–वैशेषिक का भेदवाद समाप्त हो जाता है।

समवाय संबंध मानने पर न्याय-वैशेषिक के भेदवाद की रक्षा होती है। इस भेदभाव की रक्षा के लिए ही न्याय-वैशेषिक समवाय को कार्य-कारण से पृथक् एक तीसरी सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। वैशेषिक छः पदार्थों की गणना करते समय

समवाय को एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। यह संबंध संबंधियों के स्वरूप का नहीं है उनसे पृथक् है अतः, निश्चित है कि वह कारण और कार्य में भेद स्थापित करेगा। यदि न्याय-वैशेषिक सम्बन्ध को सम्बन्धियों से पृथक् नहीं मानते तो उनको सम्बन्ध को सम्बन्धियों से अभिन्न मानना पड़ता। अर्थात् तन्तु और पट के बीच स्थित समवाय सम्बन्ध को तन्तु और पट से अभिन्न मानना पड़ता। इस अवस्था में तन्तु और पट को भी अभिन्न मानना पड़ता एवं अभेदवाद की स्थापना हो जाती। भेदवाद समाप्त हो जाता। यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक सम्बन्ध को सम्बन्धियों से भिन्न एक पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। समवाय तन्तु और पट से भिन्न एक तृतीय पदार्थ होने के कारण ही 'इस तन्तु में यह पट है' इस प्रतीति का हेतु बनता है।

सम्बन्ध का स्वरूप बताते हुए नैयायिकों ने सम्बन्ध को भिन्न, उभयाश्रित तथा एक कहा है।[1] अर्थात् तन्तु और पट के बीच का समवाय सम्बन्ध न तो तन्तुरूप है न पटरूप, उसकी अपनी पृथक् सत्ता है। इस प्रकार, कुण्ड और बदर के बीच का संयोग सम्बन्ध न कुण्ड रूप है न बदर रूप। संयोग की कुण्ड और बदर से भिन्न अपनी सत्ता है। सम्बन्ध की दूसरी विशेषता यह है कि वह उभयाश्रित होता है। अर्थात् सम्बन्ध द्वयनिष्ठ होता है। जैसे, समवाय सम्बन्ध तन्तु और पट दो पदार्थों के बीच है। संयोग सम्बन्ध कुण्ड और बदर दो पदार्थों के बीच है। सम्बन्ध की तीसरी विशेषता यह है कि सम्बन्ध सदैव एक होता है जैसे, समवाय सम्बन्ध, संयोग सम्बन्ध।

यहाँ एक शंका यह उठती है कि जैन भी वस्तुवादी दर्शन है वह भी भेदाभेद सम्बन्ध, को सत्य स्वीकार करता है, न्याय भी वस्तुवादी दर्शन है अतः, वह भी भेदाभेद सम्बन्ध को क्यों नहीं स्वीकार कर लेता है? वस्तुतः, न्याय का तत्वदर्शन ही ऐसा है कि वह भेदाभेद सम्बन्ध को नहीं स्वीकार कर सकता। भेदाभेद सम्बन्ध कारण और कार्य के बीच न तो अत्यान्तिक भेद प्रगट करता है, न आत्यान्तिक अभेद, वह कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद प्रकट करता है। न्याय के अनुसार दो विरोध एक साथ नहीं रह सकते। जैन वस्तुवादी होने के साथ-साथ सापेक्षवादी है। वस्तुएँ स्वभावतः सापेक्ष है अर्थात् वस्तुओं का ऐसा स्वभाव है कि वे एक दूसरे से सम्बन्ध हो जाती है। तन्तु और पट का यह स्वभाव है कि वे दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत न्याय यथार्थवादी दर्शन है उसके अनुसार सम्बद्ध होना वस्तु का स्वभाव नहीं है। न्याय के अनुसार जिस वस्तु की हमें प्रतीति होती है उसकी बाह्य वस्तु जगत् में सत्ता माननी पड़ती हैं। तन्तु और पट के बीच हमें समवाय सम्बन्ध की यथार्थ प्रतीति होती है अतः, बाह्य वस्तु जगत् में उसको सत्ता माननी पड़ती है।

---

१. सम्बन्धी हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नोभयाश्रितैकत्व। (तर्क भाषा)

जैन के सम्बन्ध की तुलना में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि जैन ने अपने भेदाभेद सम्बन्ध को आन्तरिक माना है जबकि न्याय ने अपने समवाय सम्बन्ध को बाह्य माना है। यही कारण है कि न्याय का समवाय सम्बन्ध कारण और कार्य के बीच बाह्य सम्बन्ध स्थापित कर दोनों के आत्यान्तिक भेद को सुरक्षित रखता है। समवाय भी यदि आन्तरिक सम्बन्ध होता तो कारण और कार्य के बीच अभेद मानना पड़ता। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि तन्तु और पट में भेद है, दोनों में आन्तरिक सम्बन्ध न होकर बाह्य सम्बन्ध है इसका यह तात्पर्य नहीं कि कुण्ड और बदर की तरह तन्तु और पट का सम्बन्ध बाह्य है। समवाय अपने सम्बन्धियों से स्वतः सम्बन्धित होता है जबकि संयोग कुण्ड और बदर से समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। अतः, संयोग और समवाय दोनों सम्बन्धियों के बाह्यत्व में बहुत अन्तर है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार सम्बन्ध की यथार्थ प्रतीति होती है तथा उसकी बाह्य वस्तु जगत् में सत्ता है, यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। जब यह प्रश्न उठता है कि उस सत्ता के विषय में प्रमाण क्या है? प्राचीन नैयायिकों ने संबंध को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध किया है। उनके अनुसार जिस इन्द्रिय से जो वस्तु गृहीत होती है, उस इन्द्रिय से ही तद्गत सामान्य, समवाय और अभाव का भी ग्रहण होता है। प्रत्यक्ष प्रमा के लिए छः प्रकार का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक है, संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाम, समवेत समवाय और विशेषण विशेष्य भाव'।[१] जिसमें छठवें विशेषण–विशेष्यभाव से समवाय और अभाव दोनों का प्रत्यक्ष होता है।[२]

पाँच प्रकार के संबंध, संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत सयवाय समवाय और समवेत समवाय में से किसी अन्यतम संबंध से सम्बद्ध होकर विशेषण–विशेष्य रूप इन्द्रिय जब अर्थ के सन्निकर्ष में आती है तब इन्द्रिय से समवाय का प्रत्यक्ष होता है।[3] समवाय (विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध द्वारा) इन्द्रिय से ही गृहीत होता है। चक्षु से संयुक्त तन्तु का विशेषणभूत पटसमवाय 'इन तन्तुओं में पटसमवाय (सम्बन्ध से) है' इस (प्रतीति) में(विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध से) गृहीत है।[४]

---

१. इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव। तद्यथा, संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावश्चेति। (तर्क भाषा)

२. अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः। (तर्क भाषा)

३. तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते। (तर्क भाषा)

४. एवं समवायोऽपि। चक्षुः सम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवाय' इति। (तर्क भाषा)

विशेषण–विशेष्यभाव सम्बन्ध हो सकता है या नहीं यह भी एक विचारणीय-विषय हैं। संबंध होने के लिए तीन बातें आवश्य हैं। संबंध को भिन्न, उभयाश्रित और एक होना चाहिए। विशेषण–विशेष्य भाव में ये तीनों ही लक्षण नहीं घटते। तन्तु और पट में रहने वाला विशेष्य तथा समवाय विशेषण भिन्न है। यह विशेषण-विशेष्य भाव उभयाश्रित भी नहीं है। विशेषण विशेषण में रहता हैं विशेष्य में नहीं तथा विशेष्य विशेष्य में रहता है बिशेषण में नहीं। तीसरे सम्बन्ध को एक होना चाहिए जबकि विशेषण विशेष्य दो हैं।[१] केशवमिश्र ने पूवंपक्षी द्वारा उठाई गई इस शंका का समाधान किया है। उनके अनुसार सम्बन्ध की उपर्युक्त तीन विशेषतायें संयोग और समवाय सम्बन्ध के लिए आवश्यक हैं विशेषण- विशेष्य भाव आदि स्वरूप सम्बन्ध के लिए उपर्युक्त तीनों लक्षण की आवश्यकता नहीं होती। अतः नैयायिक विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के द्वारा समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं।[२]

नैयायिकों ने समवाय को अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध किया है। विश्वनाथ ने समवाय को विशिष्ट-बुद्धि का नियामक कहा है।[3] समवाय का अनुमान इस प्रकार करते हैं—'तन्तु में पट है' 'या द्रव्य में गुण हैं' यह ज्ञान सम्बन्ध पूर्वक होता है क्योंकि यह विशिष्ट ज्ञान है। जो जो विशिष्ट ज्ञान होता है वह वह सम्बन्ध पूर्वक होता है। जैसे, दण्डी पुरुष इस विशिष्ट ज्ञान के लिए केवल दण्ड या पुरुष का पृथक्-पृथक् ज्ञान ही आवश्यक नहीं है अपितु, दण्ड और पुरुष के बीच संयोग सम्बन्ध का ज्ञान भी आवश्यक है। यहाँ दण्ड विशेषण है तथा पुरुष विशेष्य है। 'दण्डी पुरुष' यह विशिष्ट बुद्धि विशेषण दण्ड और विशेष्य पुरुष इन दोनों के सम्बन्ध का नियमन करती है। इस विशिष्ट वुद्धि के द्वारा ही हम सम्बन्ध का अनुमान करते हैं। इस अनुमान से यह ज्ञात होता है कि 'तन्तु में पट है'। इस विशिष्ट बुद्धि का हेतु अवश्य कोई सम्बन्ध है। परन्तु जब प्रश्न उठता है कि वह सम्बन्झ कौन सा है? यह विशिष्ट ज्ञान संयोग-सम्बन्ध पूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि संयोग दो द्रव्यों के बीच होता है, अवयव और अवयवी आदि के बीच नहीं होता। तन्तु और पट में तादात्म्य सम्बंध भी नहीं हो सकता क्योंकि तादात्म्य दी अभिन्न वस्तुओं के बीच होता है भिन्न वस्तुओं के बीच नहीं। न्याय के अनुसार तन्तु

---

१. विशेषण-विशेष्य,भावश्च सम्बन्ध एव न सम्भवति भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्।
(तर्क भाषा)

२. तस्मादभावस्य एवोपरक्तबूद्धिजनकत्वं यत्स्वरूपं तदैव विशेषणत्वं, न तु पदार्थान्तरम्।

३. तत्र प्रमाणं तु, गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवदित्यनुमानेन संयोंगादिबाधात् समवायसिद्धिः।
(न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लो०)

और पट दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यह विशिष्ट ज्ञान स्वरूप संबंध पूर्वक भी नहीं हो सकता क्योंकि अनन्तस्वरूप के लिए अनन्तस्वरूप संबंध की कल्पना करनी पड़ेगी। 'तन्तु में पट हैं' इस विशिष्ट ज्ञान का हेतु संयोग, तादात्म्य, स्वरूप कोई भी संबंध नहीं हो सकता। अतः, इस विशिष्ट ज्ञान का नियामक समवाय संबंध ही हो सकता है। इस प्रकार, न्याय–वैशेषिक परिशेषानुमान से समवाय की सिद्धि करते हैं।

श्रीधर[1] ने समवाय को 'इह प्रत्यय हेतु' कहा है अर्थात् 'इस तन्तु में यह पट है' इस प्रतीति का हेतु समवाय सम्बन्ध है। 'इस कुण्ड में दधि है' इसकी निश्चयात्मक प्रतीति कुण्ड और दधि के संयोग संबंध के कारण ही हो सकती है। उसी प्रकार 'इन तन्तुओं में यह पट है' इसकी प्रतीति भी समवाय संबंध पूर्वक ही होती है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि क्यों प्राचीन नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं एवं नव्य नैयायिक तथा वैशेषिक समवाय का प्रत्यक्ष नहीं मानते। प्राचीन नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, सामान्य, समवाय सबका प्रत्यक्ष माना है। परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ-साथ इनकी सत्ता की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण भी देते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन नैयायिकों को भी इनके प्रत्यक्षत्व के विषय में सन्देह था। वस्तुतः, प्रत्यक्ष पदार्थों के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती, प्रत्यक्षभूत पदार्थ प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखता हैं, इसका तात्पर्य यह होता है कि उसकी प्रत्यक्षता सन्दिग्ध है। प्राचीन नैयायिकों का यह सिद्धान्त कि सामान्यादि का प्रत्यक्ष होता है, बड़े आलोचना का विषय रहा है। प्रत्यक्ष भूत पदार्थ का अन्य दार्शनिकों को भी उसी प्रकार प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु नहीं होता। यही कारण है कि नव्य नैयायिकों ने तथा वैशेषिकों ने सामान्यादि को अनुमान प्रभाण से सिद्ध किया है जिससे कि उन पदार्थों की प्रामाणिकता पर अन्य दार्शनिकों को विश्वास हो जाय।

समवाय की आलोचना

समवाय की यह अनोखी कल्पना भारतीय दर्शन में बड़े विवाद का विषय रही है। वेदान्त, बौद्ध, जैन सभी ने इसकी खुलकर आलोचना की है। ध्यान से देखा जाय तो सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि से समवाय की आलाचना की हैं। वेदान्त ने अपने अद्वैत-वाद को, बौद्ध ने अपने क्षणभंगवाद को और जैन ने अनेकान्तवाद को दृष्टि में रखकर समवाय का खण्डन किया है। परन्तु इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया कि भेद को मूलभूत मान लेने पर समवाय का खण्डन नहीं किया जा सकता। यदि कारण-कार्य के भेद और अयुतसिद्धत्व को सुरक्षित रखते हुए पूर्वपक्षी समवाय का खण्डन करते हैं

१. 'इह तन्तुषु पट' इत्यादि प्रत्ययाः सम्बन्धनिमित्तका अवधारितप्रत्ययत्वात् इह कुण्डे दधीति प्रत्ययवत्। (न्याय क०)

तो निःसन्देह उनके तर्क स्वीकार्य हैं, परन्तु समवाय के अभाव में भेदवाद को समझना असंभव है ।

सभी दार्शनिकों को इस बात की आपत्ति है कि न्याय-वैशेषिक समवाय को एक पृथक् पदार्थ के रूप में क्यों स्वीकार करते हैं ? समवाय जब स्वतंत्र है तब उसको अपने समवायियों से सम्बद्ध होने के लिए किसी दूसरे संबंध की आवश्यकता होगी ही और दूसरे संबंध को अपने संबंधियों से सम्बद्ध होने के लिए तीसरे संबंध की आवश्यकता होगी । इस प्रकार, अन्य संबंध की कल्पना करने से अनवस्था होती है ।[१] इसके समाधान के लिए न्याय-वैशेषिक यह मानते हैं कि समवाय को अपने समवायियों से सम्बद्ध होने के लिए किसी दूसरे संबंध की आवश्यकता नहीं होतीं, वह स्वतः ही अपने समवायियों से सम्बद्ध हो जाता है ।

मीमांसक (कुमारिल) न्याय के इस मत की आलोचना करते हैं कि जिस प्रकार समवाय अपने समवायियों से स्वरूप से सम्बद्ध हो जाता है उसी प्रकार कारण और कार्य भी क्यों नहीं स्वरूपतः सम्बद्ध हो जाते हैं ।[२] जैसे नैयायिकों ने एक स्थान पर स्वरूप संबंध मान लिया है उसी प्रकार उन्हें दूसरे स्थान पर भी स्वरूप संबंध स्वीकार कर लेना चाहिए । विश्वनाथ ने इस शंका का समाधान करते हुए यह तर्क दिया है कि समवाय के स्थान पर स्वरूप संबंध मानने में कल्पना गौरव है । वस्तुओं के अनन्त होने से स्वरूप भी अनन्त होंगे । उस अवस्था में जिन अनन्त वस्तुओं में समवाय रहता है उन अनन्त वस्तुओं के स्वरूप को संबंध के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा । इस प्रकार, अनेक स्वरूप संबंध मानने की अपेक्षा एक समवाय मान लेने में लाघव है ।[3] पूर्वपक्षी की शंका का एक यह भी समाधान दिया जा सकता हैं कि नैयायिक, जहाँ जैसी प्रतीति होती है उसकी बाह्य वस्तु जगत् में सत्ता मान लेते हैं । उनके अनुसार समवाय अपने समवायियों से स्वरूपतः सम्बद्ध होते हैं, ऐसी हमें प्रतीति होती है अतः, इसे नैयायिक मान लेते हैं । परन्तु कारण और कार्य के स्वरूपसंबंध की प्रतीति नहीं होती इसलिए वे इसे नहीं मानते ।

शंकर ने समवाय के स्वतंत्र अस्तित्व के विषय में यह आक्षेप किया है कि जिस प्रकार समवाय अपने समवायियों से स्वतः सम्बद्ध हो जाता है, उसे सम्बन्धान्तर की

---

१. समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः सम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः, अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः ।
(ब्रह्म सूत्र शा० भा० २।१।१८)

२. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली ।

३. अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्, लाघवादेकसमवायसिद्धिः ।
(सि० मु० श्लो० ११)

अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार संयोग भी क्यों नहीं अपने संबंधियों से स्वतः सम्बद्ध हो जाता है ? यह कोई युक्ति नहीं कि संयोग गुण है इसलिए वह सम्बन्धान्तर की अपेक्षा रखता है और समवाय गुण नहीं है इसलिए, सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं रखता।[1] परन्तु न्याय पक्ष में ऐसी शंका करना उचित नहीं हैं। संयोग गुण होने के साथ-साथ कृतक भी है। उसे अपने कारणभूत संबंधियों में समवेत रहना आवश्यक है। अतः, संयोग को समवाय संबंध की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत समवाय अकृतक है उसके लिए किसी सम्बन्धान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती। धर्मकीर्ति ने संबंध को दो संभाव्य स्वरूप बनाकर उन दोनों का खण्डन किया है। उनके अनुसार संबंध दो ही प्रकार का हो सकता है—(१) परतंत्र (२) रूप श्लेष। उनके अनुसार तार्किक दृष्टि से ये दोनों हो विकल्प खण्डित हो जाते हैं।

रूपश्लेष संबंध का खण्डन करते हुए धर्मकीर्ति ने यह तर्क दिया है कि रूपश्लेष का अर्थ होता है कि एक वस्तु दूसरे में अपनी सत्ता खो दे। रूपश्लेष मानने पर दो वस्तुओं का अस्तित्व अलग-अलग नहीं रह जाता, दोनों वस्तुएँ एक हो जाती हैं। एक हो जाने पर सम्बन्ध का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता क्योंकि सम्बन्ध द्वयनिष्ठ होता है। इसप्रकार, धर्मकीर्ति ने तादात्म्य सम्बंध को रूपश्लेष कह कर उसका खण्डन किया है। इसका यहां विस्तार से विवेचन नहीं किया जाएगा। क्योंकि न्याय ने कारण और कार्य के बीच तादात्म्य सम्बंध या रूपश्लेष सम्बंध नहीं माना है।[2]

संभवतः, धर्मकीर्ति ने परतंत्र सम्बंध का प्रयोग न्याय द्वारा अभिमत समवाय सम्बंध के लिए किया है। अतः, धर्मकीर्ति द्वारा किए गए परतंत्र सम्बंध के खण्डन पर यहां विस्तार से विचार किया जाएगा। धर्मकीर्ति के अनुसार कारण और कार्य के बीच परतंत्र सम्बंध मानने पर यह प्रश्न उठता है कि यह सम्बंध दो निष्पन्न पदार्थो के बीच है या दो अनिष्पन्न पदार्थो के बीच ? दो निष्पन्न पदार्थों के बीच सम्बंध नहीं हो सकता। दो सर्वथा स्वतंत्र तथा स्वयं निष्पन्न पदार्थों के बीच किसी सम्बंध की आवश्यकता भी नहीं हैं। यदि दो अनिष्पन्न पदार्थो के बीच हम सम्बंध मानते हैं तो शश और अश्व के सींग की तरह सम्बंध को असत् मिथ्या मानना पड़ेगा।[3]

---

१. अथ समवायः स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं सम्बंधं सम्बध्यते, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव समवायं सम्बध्येत। (ब्रह्म सूत्र शा० भा० २।१।१८)

२. रूपश्लेषो हि सम्बन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत्।
तस्मात्प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्वतः॥ (सम्बंध प० श्लो० २ प्रमेय कमल मार्तण्ड से उद्धृत)

३. पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतंत्रता।
तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्वतः॥ (सम्बन्ध प० श्लो० १ प्र० क० मा० से उद्धृत)

धर्मकीर्ति ने नैयायिकों के सम्बंध का खण्डन करते हुए एक दूसरा तर्क यह दिया है कि—समवाय यदि स्वतंत्र है तो उसकी निरपेक्ष सत्ता होनी चाहिए उसको अपने सम्बंधियों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि समवाय अपने सम्बंधियों की अपेक्षा करता है तो उसे हम स्वतंत्र नहीं कह सकते।[१]

धर्मकीर्ति के अनुसार सम्बंध की अपने सम्बंधियों से पृथक् सत्ता है तो यह प्रश्न उठता है कि वह सम्बंध अपने सम्बंधियों से भिन्न है या अभिन्न। सम्बंध अपने सम्बंधियों से यदि अभिन्न है तो सम्बंध की पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाएगी। दूसरा पक्ष मान लेने पर अनवस्था होगी। सम्बंध को अपने सम्बन्धियों से भिन्न मान लेने पर उन दोनों के बीच सम्बंध का प्रश्न उपस्थित होगा और इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः, कारण और कार्य के बीच सम्बंध मिथ्या कल्पित है।[२]

धर्मकीर्ति ने कारण-कार्य सम्बंध के खण्डन में जो सबसे प्रमुख तर्क दिया है वह यह है कि कारण और कार्य एक साथ नहीं रह सकते। कार्य के काल में कारण का रहना तार्किक दृष्टि से सर्वथा असम्भव है और दोनों के साथ न रहने से दोनों के बीच सम्बंध सम्भव नहीं है। सम्बंध सदैव दो पदार्थों के बीच होता है।[३]

वस्तुतः, नैयायिकों ने ऐसा नहीं कहा है कि समवाय सम्बंध दो अनिष्पन्न पदार्थों के बीच होता है। नैयायिकों ने ऐसा भी नहीं कहा है कि पट के निष्पन्न हो जाने के बाद तन्तु और पट दो निष्पन्न पदार्थों में समवाय सम्बंध होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तु में समवेत होकर ही पट निष्पन्न होता है। एक ही काल में पट तन्तुओं से समवेत होता है तथा उसकी निष्पत्ति होती है, दोनों में किसी प्रकार का कालगत भेद नहीं होता।

समवाय सम्बंध अपने सम्बंधियों की अपेक्षा करता है तो इससे उसके स्वतंत्र अस्तित्व में कोई आपत्ति नहीं आती जैसा कि धर्मकीर्ति ने शंका की है। समवाय एक सम्बंध है अतः, यह निश्चित है कि वह अपने सम्बंधियों पर आश्रित होगा। तन्तु और पट के बीच स्थित समवाय की तन्तु और पट से पृथक् सत्ता इस दृष्टि से है कि तन्तु

---

१. स (सम्बन्धः) ततोऽर्थान्तरं चेत् सम्बन्धिनौ केवलौ कथं सम्बन्धौ स्याताम्।
(तत्वार्थ श्लो० वा०)

२. द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्सम्बंधो यदि तद्वयोः।
कः सम्बंधोनवस्था च न सम्बंधमतिस्तथा॥ (सम्बंध प० श्लो० ४ प्र० क० मा०
से उद्धृत)

३. कार्यकारणभावोपि तयोरसहभावतः। प्रसिद्धयति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम्
(सम्बंध प० श्लो० ७ प्र० क० मा० से उद्धृत)

और पट समवाय के **सम्बन्धी मात्र है उनको उत्पन्न नहीं करते**। समवाय अकृतक है इसलिए उसकी स्वतंत्र सत्ता है। इस पर बाद में विस्तार से विचार किया जाएगा।

समवाय अपने असमवायियों से स्वरूप सम्बंध से सम्बंधित होता है इसलिए समवायान्तर के कल्पना की आवश्यकता नहीं होती और न ही अनवस्था दोष का प्रश्न उठता है।

धर्मकीर्ति ने समवाय के खण्डन के लिए चौथा तर्क यह दिया है कि कार्य के काल में कारण का रहना सर्वथा असंभव है, कारण और कार्य दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते अतः, दोनों के बीच सम्बंध नहीं बनता। यह शंका क्षणभंगवाद की दृष्टि से ही की जा सकती है, न्याय की दृष्टि से नहीं। क्षणभंगवाद के अनुसार पदार्थ क्षणिक है अतः, कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति होती है, उनके अनुसार कार्यकाल में कारण नहीं रह सकता, परन्तु न्याय के अनुसार पदार्थ क्षणिक नहीं है, कारण, कार्य की उत्पत्ति के बाद भी उसके साथ-साथ रहता है अतः, दोनों में समवाय सम्बंध संभव है।

प्राचीन नैयायिक समवाय को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध करते हैं। इसके विपरीत नव्य नैयायिक तथा वैशेषिक समवाय का प्रत्यक्ष नहीं मानते, उन्होंने समवाय को मात्र अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है।

समवाय के विषय में दिए गए प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन करते हुए तत्वप्रदीपिकाकार ने यह तर्क दिया है कि समवाय न तो आधार बुद्धि का जनक है, न आधेय बुद्धि का और न उभय बुद्धि का। यदि समवाय आधार बुद्धि का जनक है तो तन्तु और पट दोनों में आधारता की प्रतीति होनी चाहिए। यदि समवाय आधेय बुद्धि का जनक है तो तन्तु और पट दोनों में आधेयता की प्रतीति होनी चाहिए और यदि समवाय उभय बुद्धि का जनक है तो तन्तु और पट दोनों में उभय बुद्धि की प्रतीति होनी चाहिए।[1]

पूर्वपक्षी की उपर्युक्त शंका का न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिया जा सकता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जिस वस्तु की हमें यथार्थ प्रतीति होती है उसकी बाह्य वस्तु जगत् में सत्ता मान लेनी चाहिए। जिसका जैसा स्वरूप हैं, समवाय संबंध उसका उसी रूप में बोध कराता है। समवाय का ऐसा स्वभाव है कि वह तन्तु का आधार रूप में और पट का आधेय रूप में बोध कराता है। समवाय को तन्तु और

---

१. (क) समवायो ह्याधारबुद्धि कुर्याद् ? आधेयबुद्धि वा ? उभयबुद्धि वा ? सर्वथापि नोपपद्यते। तन्तुपटयोरूभयोरप्याधारबुद्धेराधेयबुद्धेरूभयबुद्धेश्चाविशेषेण प्रसङ्गात्।
(तत्त्व प्रदीपिका)

(ख) द्रष्टव्य० न्याय कुसुमाञ्जलि चन्द्रिका

(ग) प्रमेय कमल मार्तण्ड

पट दोनों में आधारता या आधेयता या उभय बुद्धि की प्रतीति कराने का प्रश्न नहीं उठता।

'इन तन्तुओं में यह पट है' यह प्रतीति संबंध पूर्वक है, 'इस कुण्ड में दधि है इस प्रतीति के समान' श्रीधर का यह तर्क आश्रयासिद्ध है। प्रभाचन्द्र के अनुसार 'इन तन्तुओं में पट है' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। अतः धर्मी के असिद्ध होने से समवाय का अनुमान नहीं किया जा सकता।[1]

अनुमान प्रमाण में दिए गए 'इह प्रत्यय प्रतीति' के खण्डन के लिए दूसरा तर्क प्रभाचन्द्र ने यह दिया है कि 'इस तन्तु में यह पट है' इस प्रकार की प्रतीति लोक में नहीं देखी जाती है। हमें 'तन्तु है' 'पट है' ऐसी प्रतीति ही होती है तथा ऐसा ही हम प्रयोग करते हैं। पूर्वपक्षी की ये सभी शंकायें उनके सैद्धान्तिक भेद के कारण हैं। बौद्ध, जैन तथा अद्वैत वेदान्त तीनों दर्शन के अनुसार 'इह प्रत्यय' प्रतीति की आवश्यकता नहीं है, परन्तु न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार 'इह प्रत्यय' प्रतीति की अत्यन्त आवश्यकता है। सर्वास्तिवादियों के अनुसार कारण और कार्य क्षणिक क्रमबद्ध घटना मात्र है। दो असम्बद्ध पदार्थों में 'इसमें यह है' इस प्रकार का कथन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जैन दार्शनिक तन्तु और पट में भेद तथा अभेद दोनों मानते हैं अतः, इनके अनुसार भी 'इस तन्तु में यह पट है' इस प्रतीति की कोई आवश्यकता नहीं होती। अद्वैत वेदान्ती तन्तु और पट में तादात्म्य मानते हैं अतः, उनके सिद्धान्त के अनुसार भी 'इस तन्तु में यह पट है' इस कथन की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार 'इह प्रत्यय' प्रतीति की अत्यन्त आवश्यकता हो जाती है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तु और पट दोनों भिन्न-भिन्न हैं तथा दोनों अयुतसिद्ध भी हैं। दोनों में से एक आधार है तथा दूसरा आधेय। अतः, 'इस तन्तु में यह पट है' इस कथन में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। व्यवहार में इसका प्रयोग न हो परन्तु न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'तन्तु में पट है' इस कथन के द्वारा ही न्याय-वैशेषिक यह स्पष्ट करते हैं कि तन्तु आधार है और पट आधेय अर्थात् तन्तु में पट की उत्पत्ति होती है, तन्तु के द्वारा पट की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् तन्तु पट को उत्पन्न करके नष्ट नहीं हो जाता जैसा कि बौद्ध दार्शनिकों ने माना है, पट को उत्पन्न करने के बाद भी तन्तु पट के साथ-साथ रहता है।

इन उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भेदवादी और वस्तुवादी दार्शनिक न्याय-वैशेषिक के लिए समवाय सम्बन्ध की कितनी आवश्यकता है।

---

१. ....हेतोराश्रयासिद्धत्वात्। तदसिद्धत्वं च 'इह तन्तुषुपटः' इत्यादिप्रत्ययस्य धर्मिणोऽसिद्धेः। (प्रमेय कमल मार्तण्ड)

समवाय सम्बन्ध

प्रशस्तवाद ने समवाय का लक्षण किया है 'आधार और आधेय रूप अयुतसिद्धो के इह प्रत्यय 'अर्थात् इस आधार में यह आधेय है, इस बुद्धि का जो कारण है वह समवाय है।'[1] उनके उस लक्षण के अनुसार समवाय के तीन विशेषण होते हैं।

(१) अयुतसिद्धो के बीच के संबंध को समवाय संबंध कहते हैं। केशव मिश्र ने समवाय की यही परिभाषा स्वीकार की है।[2] अब प्रश्न उठता है कि अयुतसिद्ध किसे कहते हैं ? 'अयुत सिद्ध' यह पद 'युतसिद्ध' का विलोम है। अतः, पहले युत सिद्ध का अर्थ करना आवश्यक है। युत सिद्ध ऐसे दो वस्तुओं को कहते हैं जो एक दूसरे के बिना पृथक्-पृथक् रह सकती हैं।[3] जैसे, मेज और पुस्तक। मेज की अपनी सत्ता है, जो पुस्तक से पृथक् होकर रहती है तथा पुस्तक की अपनी सत्ता है जो मेज से पृथक् होकर रहती है। इन दोनों वस्तुओं के संबंध को संयोग संबंध कहते हैं। इसके विपरीत ऐसी दो वस्तुयें जो युत सिद्ध न हों, दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता न हो उनको अयुतसिद्ध कहते हैं। ऐसी दो वस्तुओं के संबंध को समवाय संबंध कहते हैं। इन दोनों वस्तुओं में से एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता है। जैसे, तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं क्योंकि पट तन्तु के बिना नहीं रह सकता। अयुतसिद्ध का अर्थ तादात्म्य नहीं समझना चाहिए।

(२) समवाय की दूसरी विशेषता यह है कि इसके संबंधी आधाराधेय भाव या आश्रयाश्रयी भाव से रहते हैं। जैसे, तन्तु, पट का आश्रय या आधार है और पट तन्तु का आश्रयी या आधेय है। यद्यपि दोनों का आश्रय पृथक्-पृथक् है, पट तन्तु में रहता है और तन्तु अपने अवयव रेशों में फिर भी परस्पर एक दूसरे को छोड़कर वे न कहीं आश्रित है और न उनमें कोई आश्रित है। तन्तु पट को छोड़कर अन्य का आश्रय नहीं बनता। न ही पट तन्तु को छोड़कर किसी अन्य के आश्रय से रहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कुण्ड और बदर में भी आधाराधेयभाव है, इनके बीच हम समवाय संबध क्यों नहीं मान लेते ? कुण्ड और बदर के बीच हम समवाय सबंध नहीं मान सकते क्योंकि इन दोनों में आधाराधेयभाव तो है परन्तु ये दोनों अयुतसिद्ध नहीं हैं। कुण्ड बदर के बिना और बदर कुण्ड के बिना रह सकता है। अतः, दोनों के बीच

---

१. अयुतसिद्धानामाधार्य्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः।
(प्रशस्तपाद भाष्य)

२. तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। (तर्क भाषा)

३. युतसिद्धिः पृथक्सिद्धिः, पृथगवस्थितिरूभयोरपि सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्, सा ययोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ, तयोः सम्बन्धः समवायः।
(न्याय कन्दली)

समवाय संबंध नहीं हो सकता। परिभाषा में 'अयुतसिद्धत्व' पद संयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है।[1]

परिभाषा में प्रयुक्त आधाराधेयभाव यह पद भी आवश्यक है। यदि अयुतसिद्धों के बीच संबंध को ही समवाय कहते तो धर्म और सुख जिनमें कारणकार्य भाव है उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। धर्म और सुख दोनों अयुतसिद्ध हैं पर धर्म और सुख के बीच भी समवाय संबंध नहीं हो सकता क्योंकि इनमें आधाराधेयभाव नहीं है, आत्मा में ये आधाराधेयभाव से नहीं रहते, धर्म और सुख दोनों ही आधेय हैं और आत्मा इनका आधार।[2]

केशव मिश्र ने समवाय की परिभाषा में 'आधारधेयभाव' पद का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने अयुतसिद्धों के संबंध को ही समवाय संबंध बताया है, जिसके अनुसार कारण और कार्य दोनों आश्रयाश्रयी भाव से रहते हैं। समवाय की इस परिभाषा को लेकर शंका उठती है कि गुण सदा गुणी के आश्रित होकर नहीं रहते; ऐसा भी देखा जाता हैं कि गुणी आश्रय के न रहने पर भीं गुण आश्रयी रहता है। जैसे, घट के नाश के साथ ही घटगत रूप तथा क्रिया का नाश नहीं हो जाता। यदि ऐसा हो तो कारण–कार्य का पौर्वापर्य भाव हो नहीं रह जाता। अतः, प्रथम क्षण घट का नाश होता है तथा दूसरे क्षण घटगत रूप और क्रिया का नाश होता है। इस एक क्षण का काल जो घट नाश के पश्चात् तथा घटगत रूप और क्रिया के नाश के पूर्व का काल है, उस क्षण घटगतरूप और क्रिया निराश्रित रहते हैं। तब इन दोनों का आश्रय-आश्रयी भाव कैसे बनता है ? इस शंका के समाधान के लिए केशव मिश्र ने अयुत सिद्ध को स्पष्ट करते हुए उसमें 'अविनश्यत्' पद जोड़ दिया है अर्थात् विनाश के पूर्वकाल तक ही घटगत रूप, और क्रिया घट के आश्रय से रहते हैं, विनाश के बाद नहीं। विनाश के बाद उनके निराश्रित रहने से हमें कोई आपत्ति नहीं होतो।

हम देखते हैं कि न्याय के आरम्भवाद के सिद्धान्त के लिए जिस प्रकार उत्पत्ति में कारण और कार्य में पौर्वापर्य का क्रम आवश्यक है, उसी प्रकार विनाश में भी पौर्वापर्य क्रम आवश्यक है।

(३) समवाय की तीसरी विशेषता हैं 'इह प्रत्यय हेतु' 'इस तन्तु में यह पट है' इस प्रतीति का हेतु समवाय है। इस विशिष्ट प्रतीति का हेतु कोई सम्बन्ध ही हो सकता है। इस प्रतीति का हेतु संयोग-संबंध नहीं हो सकता क्योंकि संयोग दो द्रव्यों के बीच

---

१. आधार्य्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुरिति कुण्डबदरसम्बन्धो न व्यवच्छिद्यते, तदर्थमयुतसिद्धमिति। (न्याय कन्दली)

२. अयुतसिद्धयोः सम्बन्ध इत्युच्यमाने धर्मस्य सुखस्य च यः कार्य्यकारणभावलक्षणः सम्बन्धः, सोऽपि समवायः प्राप्नोति, तयोरात्मैकाश्रितयोर्युतसिद्ध्यभावात्। (न्याय कन्दली)

होता है, तन्तु और पट, अवयव और अवयवी के बीच नहीं। इस प्रतीति का हेतु तादात्म्य नहीं हो सकता क्योंकि तादात्म्य दो अभिन्न वस्तुओं के बीच होता है, तन्तु और पट दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बीच नहीं। इस प्रकार, वैशेषिक परिशेषानुमान से तह सिद्ध करते हैं कि 'इह प्रत्यय' का हेतु 'समवाय' ही ही सकता है।

'इह प्रत्यय हेंतु' यह पद परिभाषा में आकाश पद और आकाश रूप अर्थ इन दोनों के वाच्य-वाचक संबंध में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है। आकाश पद और आकाशरूप अर्थ दोनों अयुत सिद्ध हैं तथा दोनों में आधाराधेय भाव भी है लेकिन इनके बीच के संबंध को हम समवाय संबंध नहीं कह सकते क्योंकि आकाश पद और आकाश रूप अर्थ 'इह प्रत्यय' इस प्रतीति के आधार नहीं हैं अर्थात् 'आकाश पद में आकाश अर्थ है' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती।[1]

'इह प्रत्यय हेतु' यह कहने से एक बात और स्पष्ट होती है। 'इसमें यह है', 'इस तन्तु में यह पट है' इससे यह ज्ञात होता है कि न्याय–वैशेषिक तन्तु में पट की उत्पत्ति मानते हैं, तन्तु से पट की उत्पत्ति नहीं मानते। अर्थात् तन्तु में समवेत होकर पट की उत्पत्ति होती है, पट के उत्पन्न होने के बाद भी तन्तु पट के साथ-साथ अपनी सत्ता से रहता है। बौद्ध दार्शनिक की तरह न्याय–वैशेषिक नहीं मानते कि तन्तु के नष्ट हो जाने पर पट उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन की तरह न्याय–वैशेषिक यह भी नहीं मानते कि तन्तु ही अभिव्यक्त होकर पट हो जाता है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार तन्तु और पट साथ-साथ रहते है, यही उनके भेदवाद का मापदण्ड है।[2]

---

१. एवमस्याकाशस्याकाशपदस्य च वाच्यवाचकभावः समवायः स्यात्, तन्निवृत्यर्थमिह-प्रत्ययहेतुरिति। वाच्यवाचकभावे हि तस्माच्छब्दात्तदर्थो ज्ञायते न त्विहेदमिति।

(न्याय कन्दली)

२. 'न्याय–सिद्धि' तथा 'न्याय कन्दली' में विषय भेद से अयुत सिद्धि के दो भेद किए हैं। अनित्यों की अयुतसिद्धि और नित्यों की अयुतसिद्धि। अनित्य अयुतसिद्धों के लिए अपृथगाश्रयत्व ही आवश्यक है। अवयव और अवयवी की पृथग् गति होती है इसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि दोनों युतसिद्ध है क्योंकि दोनों में अपृथगाश्रयत्व है जो अनित्यों की अयुतसिद्धि के लिए आवश्यक है। अवयवी, अवयव को छोड़कर अन्य किसी आश्रय से नहीं रहता।

नित्यों की अयुतसिद्धि के लिए अपृथग्गतिमत्व आवश्यक है, अपृथगाश्रयत्व नहीं। आकाशादि विभु पदार्थ तथा महत्व, दोनों एक दूसरे के आश्रय से नहीं रहते लेकिन दोनों में एक साथ गति होती है, इसलिए उनके बीच समवाय संबंध है।

(क) न्याय कन्दली

(ख) विषयभेदेन पृथग् लक्षणमिदं अपृथगाश्रयाश्रयित्वमनित्येऽयुतसिद्धिः। अपृथग्गति-मत्वं नित्येष्विति वेदितव्यम्। (न्याय सिद्धान्त)

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान, जाति-व्यक्ति तथ' विशेष-नित्य-द्रव्य इन पाँच अयुतसिद्धों के बीच ही समवाय संबंध होता है। इन पाँच के अतिरिक्त अन्य किन्हीं दो के बीच न तो अयुतसिद्धत्व होता है और न ही समवाय संबंध होता है।

अब हम समवाय की परिभाषा के आधार पर उसके स्वरूप का निर्धारण करेंगे। न्याय-वैशेषिक के अनुसार समवाय नित्य और एक है। वस्तुतः, समवाय का यह स्वरूप उसकी स्वतंत्र सत्ता को दृढ़ करता है। समवाय नित्य है, इसका अर्थ होता है कि वह अकृतक है उसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। ऐसा हम नहीं देखते कि संयोग की तरह यह संबंध कभी रहता हो और कभी नहीं रहता हो। मेज और पुस्तक का संबंध कभी रहता है और कभी नहीं रहता है। हम ऐसा नहीं देखते कि तन्तु और पट का संबंध कभी रहता है और कभी नहीं रहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि न्याय-वैशेषिक समवाय को अनुत्पाद क्यों मानते हैं? वस्तुतः, न्याय-वैशेषिक के अनुसार भाव रूप कार्य के लिए समवायि, असमवायि और निमित्त तीनों कारण मानना पड़ता है जो समवाय के पक्ष में सर्वथा असंभव है।[1] समवाय की उत्पत्ति के लिए, उसके बाद समवायिकारण की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। समवायिकारण के लिए समवाय और समवाय के लिए समवायिकारण की आवश्यकता पड़ती है अतः, सत्ता जाति की तरह समवाय का कोई उत्पादक नहीं है। समवाय को उत्पन्न मानने से यह प्रश्न उठता है कि समवाय कार्य के साथ या कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व या उसके पश्चात् उत्पन्न होता है? कार्य के साथ समवाय उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य को अनाश्रित मानना पड़ेगा।[2] समवाय की कार्य से पूर्व उत्पत्ति मानते हैं तो उस उत्पत्ति का कारण खोजना पड़ेगा।[3] सम-वायि, असमवायि और निमित्त तीनों ही कारण समवाय के पक्ष में सर्वथा असंभव है। कार्य की उत्पत्ति के बाद समवाय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिसप्रकार, तुरी-तन्तु संयोग से तुरी-पट संयोग उत्पन्न होता है अर्थात् संयोगज संयोग होता है उसी प्रकार समवायज-समवाय नहीं हो सकता। संयोगजसंयोग के लिए समवायि, असमवायि, निमित्त तीनों कारण है परन्तु समवायज समवाय के ऐसे कारण की कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१. त्रिभ्यो हि कारणेभ्यः कार्यं भावरूपं जायते। कार्यकारणसमवायस्य च कार्यकारणे समवायिकारणे वक्तव्ये। (न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका)

२. यद्ययं कृतकः स्यात् कार्येण सहोपादानादनाश्रितं कार्यं स्यात्।

(न्याय बार्तिक)

३. कार्यात् प्राग्जातस्य च समवायस्य न कार्य्यं कारणम्।

(न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका)

न्याय-वैशेषिक ने समवाय को अनुत्पाद और नित्य माना है क्योंकि तन्तु और पट उसके कारण नहीं उसके संबंधी मात्र है। यहीं कारण है कि अनुयोगी और प्रतियोगी के नष्ट हो जाने पर भी समवाय का नाश नहीं होता। इसके विपरीत संयोग संबंध अपने संबंधियों के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है क्योंकि संयोग की उत्पत्ति, उन संबंधियों में समवेत होकर होती हैं। मेज और पुस्तक का संयोग, मेज और पुस्तक से उत्पन्न होता है अतः, पुस्तक को मेज से अलग कर देने पर तज्जन्य संयोग भी नष्ट हो जाता है। परन्तु तन्तु और पट के नाश से समवाय का नाश नहीं होता क्योंकि समवाय तज्जन्य नहीं है।[1]

अब प्रश्न उठता है कि जब समवाय के अनुयोगी और प्रतियोगी भी उसके सम्बन्धी मात्र है, कारण नहीं, तो समवाय अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध कैसे होता है? समवाय क्यों नहीं सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करता है? समवाय क्यों स्वतंत्र है? इसका समाधान उदयन तथा प्रशस्तपाद ने स्पष्ट ढंग से किया है। समवाय अपने अनुयोगी तथा प्रतियोगी में संयोग सम्बंध से सम्बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि संयोग दो द्रव्यों के बीच होता है, एवं समवाय अवयव-अवयवी आदि पाँच अयुतसिद्धों के बीच। समवाय संबंध के द्वारा भी समवाय अपने साम्बन्धियों से सम्बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि समवाय एक है, समवायान्तर की कल्पना करने से अनवस्था दोष होता है। उस अवस्था में उस दूसरे समवाय को अपने समवायियों से संबंधित होने के लिए तीसरे समवाय की कल्पना करनी पड़ेगी।[2] इससे यह नहीं समझना चाहिए कि समवाय के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं है। समवाय अपने संबंधियों से स्वरूप से संबंधित रहता है। एक बात यहां ध्यान देने योग्य है कि वाचस्पतिमिश्र तथा उद्योतकर ने समवाय की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है लेकिन समवाय की वृत्ति नहीं स्वीकार की है।[3] बाद में श्रीधर ने समवाय को स्वात्मवृत

---

१. युक्तो हि सम्बन्धिविनाशे संयोगस्य विनाशः, तदुत्पादे सम्बन्धिनोः समवायिकारणत्वात्। समवायस्य तु सम्बन्धिनो न कारणम्, सम्बन्धिमात्रत्वात्।

(न्याय कन्दली)

नोट—समवाय नित्य है, परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि यह नित्यता परमाणु की तरह कूटस्थ नित्यता नहीं है। जब तक कार्य की उत्पत्ति और नाश नहीं होता तब तक समवाय का नाश नहीं होता, इसलिए समवाय नित्य है, अतः समवाय की नित्यता सापेक्षिक है।

२. कया पुनर्वृत्या द्रव्यादिषु समवायो वर्तते? न संयोगः सम्भवति, तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। नापि समवायः, तस्यैकत्वात्। न चान्यावृत्तिरस्तीति। न, तादात्म्यात्। (प्रशस्त पाद भाष्य)

३. न च समवायस्य वृत्तिरस्ति। (न्याय वार्तिक)

कहा अर्थात् उनके अनुसार समवाय अन्य किसी पदार्थ में भले ही न रहता हो लेकिन अपने में अपने स्वरूप से रहता है।[1] उद्योतकर तथा वाचस्पति ने समवाय की स्वात्मवृत्ति भी स्वीकार नहीं की है।

न्याय-वैशेषिक ने स्वतंत्र सत्ता रखने वाले समवाय को एक माना है, वह संयोग की तरह अनेक नहीं है, समवायान्तर की कल्पना नहीं कर सकते जैसा कि पहले बताया जा चुका है।[2]

कणाद तथा प्रशस्तपाद ने समवाय को सत्ता के समान एक माना है। इसको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि किस दृष्टि से सत्ता की समवाय से तुलना की गई है। जिस प्रकार, द्रव्य सत् है, गुण सत् हैं, कर्म सत् है, सत्ता की एकाकार प्रतीति तीनों में होती है, उसी प्रकार पाँच द्रव्यों में, जिसमें समवाय रहता है उसमें 'इह प्रत्यय' की प्रतीति एक सी होती है। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया क्रियावान, व्यक्ति-जाति, नित्य द्रव्य–विशेष, इन पाँचों अयुत सिद्धों में 'इसमें यह समवाय है' इस प्रकार की प्रतीति सामान्य रूप से होती है। अतः, सत्ता की तरह समवाय को एक मानते हैं।[3] जिस प्रकार सत्ता के नानात्व के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता उसी प्रकार समवाय के नानात्व के विषय में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता।[4]

समवाय को एक और नित्य मानने से यह स्पष्ट होता है कि समवाय तन्तु और पट के स्वरूप का नहीं है तथा तन्तु और पट में भेद है। समवाय अकृत है, नित्य है, कारण–कार्य का सम्बन्धी मात्र है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि क्या कारण है कि नैयायिकों ने समवाय की एकता और नित्यत्व पर इतने विस्तार से विचार किया है तथा हेतु देकर उसको प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है? वस्तुतः, इन हेतुओं के द्वारा न्याय–वैशेषिक ने मीमांसक (प्रभाकर) तथा नव्य नैयायिकों की शंका का समाधान किया है। प्रभाकर मतानुयायी समवाय मानते हैं परन्तु उनके अनुसार समवाय एक और अनेक, नित्य और अनित्य दोनों हैं। नव्य नैयायिक भी समवाय को अनेक तथा अनित्य मानते हैं।

---

१. समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति तस्मात् स्वात्मवृत्तिः। (प्रशस्त पाद भाष्य)

२. (क) तत्वम्भावेन। (वैशेषिक सूत्र ७।२२८

(ख) न च संयोगवन्नानात्वम्, भावल्लिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च। तस्माद्भाववत्सर्वत्रैकः, समवाय इति। (प्रशस्त पाद भाष्य)

३. यथा भावस्य द्रव्यत्वादीनां स्वाधारेषु आत्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् स्वाश्रयादिभ्यः परस्परतश्चार्थान्तिरभावः, तथा समवायस्यापि पञ्चसु पदार्थष्विहेतिप्रत्ययदर्शनात् तेभ्यः पदार्थान्तरत्वमिति। (प्रशस्तपाद भाष्य)

४. विशेषलिङ्गाभावाच्च। (प्र० पा० भा०)

मीमांसकों के अनुसार समवाय के एक मानने पर यह शंका उठती है कि यदि सारे विश्व में एक ही समवाय हैं तो वायु में जिस प्रकार स्पर्श का समवाय होता है, उसी प्रकार रूप का समवाय होता है क्योंकि स्पर्श समवाय और रूप समवाय एक ही वस्तु है। अतः, वायु में भी रूपवत्ता बुद्धि मान लेना चाहिए। इसके उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि वायु में रूववत्ता की प्रतीति के लिए रूप और रूप समवाय दोनों आवश्यक हैं। वायु में रूप समवाय है परन्तु रूप नहीं है इसलिए उसकी प्रतीति नहीं होती है। इस स्थिति में सांकर्य का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।[1] किन्तु समवाय को अनेक मानने पर कल्पना गौरव होता है। साथ ही समवाय को अनेक मानने पर उसे अनित्य और अकृतक भी मानना पड़ता है और इस अवस्था में अनेक समस्यायें भी उत्पन्न होती हैं, इस पर पहले विचार किया जा चुका है।

१. न च समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसङ्गः, तत्र रूपसमवायसत्वेऽपि रूपाभावात्। (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लो० ११)

पाश्चात्य दर्शन में कारणता संबंध पर विचार

पाश्चात्य दार्शनिकों के कारणता सिद्धान्त को ध्यान से देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि पाश्चात्य दर्शन में भी ग्रीककाल से लेकर आधुनिक काल तक संबध की समस्या पर ही विशेष रूप से विचार किया गया। संबंध की व्याख्या न होने के कारण ही दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन तथा अन्य दार्शनिकों की मान्यताओ का विकास होता है।

वस्तुतः, कारणता सिद्धान्त की ज्ञानमीमांसा का प्रारंभ प्रसिद्ध अनुभववादी दार्शनिक ह्यूम से होता है। ह्यूम ने ही सर्वप्रथम इन समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया कि कारण क्या है और कारणता संबंध का स्वरूप क्या है ? उनके अनुसार कारण-वाद की यही दो समस्यायें हैं। कारणता संबंध नियत अवश्य है, परन्तु इस संबंध की हमें आवश्यकता क्यों पड़ती है ? इसका श्रोत ज्ञात किया जा सकता है। ह्यूम के अनुसार समस्त पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध है। कभी भी हमें दो पदार्थों में संबंध नहीं दिखाई पड़ता। जब हम एक घटना के बाद दूसरी घटना को घटते हुए देखते हैं तो मस्तिष्क में उनका ऐसा साहचर्य बन जाता है कि मस्तिष्क को एक आदत सी पड़ जाती है, एक अभ्यास सा हो जाता है और वह एक की उपस्थिति में दूसरे के उपस्थिति की अपेक्षा करता है। 'अ' के बाद 'ब' सदैव आता है अतः, मस्तिष्क को दोनों को एक दूसरे के बाद देखने की आदत पड़ जाती है और वह 'अ' की उपस्थिति में 'ब' की उप-स्थिति की अपेक्षा करता है। परन्तु उससे यह नहीं समझना चाहिए कि 'अ' और 'ब' एक दूसरे से संबंधित अनिवार्य रूप से हैं। इसी प्रकार चीनी और मिठास को हम सदैव साथ-साथ देखते हैं अतः, भविष्य में चीनी को देखकर हम मिठास की ही अपेक्षा करते हैं, कड़वाहट की नहीं। इसप्रकार, हमारे अनुभव में एक क्रम का निर्माण हो जाता है जिसे हम संबंध समझ बैठते हैं। अतः, हम यह कह सकते हैं कि संबंध हमारे विचार का एक अभ्यास जन्य रूप है। इन क्रमिक घटनाओं में से ही पूर्ववर्ती को हम कारण और परवर्ती को कार्य कहते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि ह्यूम कार्य-कारण संबंध को अस्वीकार करता है। वस्तुतः, ह्यूम संबंध की अनिवार्यता को तो मानता है परन्तु उसे अनुभव के आधार पर प्रमाणित मानने के लिए तैयार नहीं है। उसके अनुसार अनुभव के आधार पर संबंध को सिद्ध नहीं किया जा सकता हैं। 'अ' के बाद 'ब' बार-बार आता है। अतः, हम यह कह सकते हैं कि 'अ' के बाद 'ब' के आने की संभावना है

परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि 'अ' के बाद 'ब' अवश्य आएगा अर्थात् अनुभव के आधार पर हम उसकी अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं कर सकते ।[1]

ह्यूम ने संश्लेषणों को स्वीकार किया तथा यह भी स्वीकार किया कि ये संवेदन इन्द्रियानुभव से परे नहीं है परन्तु इस संवेदन का आधार क्या है ? इस बात को ह्यूम ने स्पष्ट नहीं किया । ये संवेदन हमारी इच्छा से तो नहीं उत्पन्न होते तो आखिर इनका श्रोत क्या है ? काण्ट ने इस समस्या का समाधान किया । उनके अनुसार ये संवेदन आकस्मिक नहीं हैं अतः, उनकी वाह्य वस्तु जगत् में सत्ता मानना आवश्यक है जिन पर हमारा संवेदन निर्भर है । वस्तुएँ स्वयं में क्या हैं, इसका ज्ञान हमें नहीं होता । इनका अस्तित्व मात्र इतना है कि उनकी सत्ता के कारण हमें संवेदन होता है । संवेदन प्रारम्भ में असम्बद्ध और अस्पष्ट होते हैं परन्तु इनका ज्ञान हमें सम्बद्ध रूप में ही होता है । मस्तिष्क का ऐसा स्वभाव है कि हमें असम्बद्ध ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता । अपने मस्तिष्क में एकत्रित पूर्वानुभव और विचार के आधार पर ही संविद् स्पष्ट होता है । यह संश्लेषण ज्ञाता की सहज प्रक्रिया है जिसे वह अस्वीकार नहीं कर सकता है । ह्यूम ने जो विश्लेषण की प्रक्रिया बतलाई है, वह भी संश्लेषण के बिना संभव नहीं है संश्लेषण की यह प्रक्रिया ही एकत्व का निश्चित नियम है, इसे काण्ट बुद्धि की कोटि कहता है । ये अनुभव से प्राप्त नहीं किए जाते । ये ज्ञान की पूर्वनिहित मान्यतायें हैं । इसके लिए व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती । कारण भी इन्हीं बुद्धि की कोटियों में से एक कोटि है ।[2]

ध्यान से देखा जाय तो काण्ट अनुभव से परे चला जाता है । बुद्धि की वृत्ति और पूर्वनिहित मान्यतायें ये दोनों ही अनुभव से परे की बात है । संवेदन आकस्मिक नहीं हैं, उनका कारण अवश्य है । कहने का अर्थ होता कि काण्ट ने कारण को सिद्ध करने के पहले ही उसे पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया । यही कारण है कि बाद में मिल इस मान्यता को कि संबंध विश्लेषणात्मक न होकर संश्लेषणात्मक होता है, अस्वीकार कर दिया । मिल के अनुसार कारणता नियत पौर्वापर्य क्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, कारणता कालिक धर्म है । यहां ह्यूम ने भी कारण और कार्य में नियतपौर्वापर्य क्रम माना है । परन्तु दोनों के सिद्धान्तों में बहुत अन्तर है । ह्यूम कारण-कार्य भाव का नियतत्व मात्र इसलिए सिद्ध करता है कि इसके विपरीत उदाहरण नहीं मिलता परन्तु वह उसकी अनिवार्यता को अनुभव द्वारा प्रामाणिक नहीं मानता । इसके विपरीत मिल कारण-कार्य के नियत पौर्वापर्य क्रम की अनिवार्यता को प्रामाणिक मानता है ।

1. Hume D. : Enquiry Concerning Human Understanding, pp. 61–64
2. The Critique of Pure Reason A, All references original correspond to prof. N. K. Smiths ' Translation.

मिल ने कारण-कार्य भाव को यांत्रिक बना दिया। उसने इस बात पर कभी भी ध्यान नहीं दिया कि वस्तुतः कार्य उत्पन्न क्यों होता है ? मिल ने कारण और कार्य के बीच कोई आन्तरिक संबंध भी नहीं माना। मिल का सिद्धान्त पाश्चात्य दर्शन में बड़े आलोचना का विषय रहा है जिस पर पहले ही विचार किया जा चुका है।

रसेल ने भी कारण-कार्य भाव को पौर्वापर्य का नियत क्रम कहा हैं। परन्तु उसके अनुसार इस पौर्वापर्य क्रम की अनिवार्यता का हम प्रतिपादन नहीं कर सकते। हम बार-बार यह देखते हैं कि 'अ' के बाद 'ब' आता है अतः, हम यह कह सकते हैं कि 'अ' के बाद 'ब' के आने की संभावना है। 'अ' के बाद 'ब' अवश्य आएगा ऐसा हम नहीं कह सकते। इस दृष्टि से मिल से अधिक रसेल का सिद्धान्त ह्यूम के सिद्धान्त से साम्य रखता हैं। ह्यूम के अनुसार भी कारण-कार्य संबंध को अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

रसेल का नियत पौर्वापर्य क्रम का सिद्धान्त भी कारण-कार्य भाव को नहीं स्पष्ट कर सका। यदि कारण-कार्य भाव मात्र नियत-पौर्वापर्य क्रम है तो जितने भी ऐसे संबंध है उनमें कारण-कार्य भाव मानना होगा। जैसे, रात और दिन में नियत पौर्वापर्य क्रम है अतः, रात को दिन का और दिन को रात का कारण मानना होगा।[1]

ब्रैडले के अनुसार संसार की समस्त वस्तुओं का ज्ञान हमें सम्बद्ध रूप में या सापेक्ष रूप में होता है। इसके अनुसार कारणता संबंध की व्याख्या नहीं की जा सकती है। कारण और कार्य में हम भेद नहीं मान सकते क्योंकि भेद मानने पर अलग से संबंध की कल्पना करनी पड़ती हैं और उस संबंध के लिए किसी अन्य संबंध की कल्पना करनी पड़ती है और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है और यदि हम कारण और कार्य में अभेद मानते हैं तो कारणता का अर्थ नहीं रह जाता है। भेद और तादात्म्य दोनों ही तरह से कारणता की व्याख्या नही हो पाती, इसी से ब्रैडले कारणता संबंध को अयथार्थ कल्पना मात्र मानता है।[2] ब्रैडले की कारणता की यह व्याख्या भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्त और माध्यमिकों से साम्य रखती है। ब्रैडले के अनुसार हम परिवर्तनशील की व्याख्या नहीं कर सकते परन्तु उसे हम मिथ्या या विवर्त नहीं कह सकते जैसा कि शंकर ने माना है। ब्रेडले के अनुसार यह परिवर्तन और यह विरोध बुद्धिगत ही नहीं है, वह वस्तुगत भी है। अतः, उसको हम मिथ्या नहीं कर सकते। इसके विपरीत शंकर ने तथा माध्यमिकों ने परिवर्तन को बुद्धिगत मानकर उसे मिथ्या सिद्ध किया है।

1. Russell's Article, 'On the Notion of Cause' in Proceedings of the Aristotelian Society, 1912.
2. Bradley : Appearance and Reality,

निष्कर्ष

भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दर्श कारणता–संबंध के सिद्धान्त पर विचार करते हैं तथा दोनों ही दर्शनों में कारणता संबंध का विचार इस प्रकार छाया हुआ है कि कारणता की समस्या संबंध की समस्या बन गई है।

पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम ने कारणता संयंध की प्रामाणिकता पर विचार किया। ह्यूम ने यह प्रतिपादित किया कि कारणता संबंध की अनिवार्यता अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं की जा सकती। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय दर्शन में भी कारता कारणता संबंध की प्रामाणिकता के विषय में ऐसा कोई प्रश्न उठाया गया है ? न्याय दर्शन में कारणता संबंध की अनिवार्यता के विषय में न तो ऐसा कोई प्रश्न उठाया गया है और न ही उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है। एक अन्य प्रसंग में इस प्रकार का प्रश्न उठाया गया है। न्याय ने प्रमाणों में अनुमान प्रमाण को प्रमुख माना है तथा उसके आधार पर अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता सिद्ध की है। उसने अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति को हेतु बताया हैं। इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठता है कि यह व्याप्ति प्रमाणित है या नहीं। हम बार-बार देखते हैं कि अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं उत्पन्न होता है। परन्तु सभी देश और सभी काल में स्थित धूम और वह्नि के कार्य कारण भाव को हम नहीं देख पाते तब व्याप्ति कैसे बन सकती है ? इसके उत्तर में नैयायिकों का यह कहना है कि 'सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति' इस अलौकिक सन्निकर्ष से हम सब देश और सब काल में स्थित धूम और वह्नि के कार्य-कारण भाव का ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् वस्तुओं में रहने वाले सामान्य धर्म के द्वारा एक वस्तु के ज्ञान से ही सजातोय समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, इसलिए लौकिक सन्निकर्ष न होने पर भी अलौकिक सन्निकर्ष हो जाने से उन सबका ज्ञान हो सकता है। जैसे, महानस में धूम और वह्नि को देखते हैं तो धूमत्व सामान्य से समस्त धूम का और वह्नित्व सामान्य से समस्त वह्नियों का प्रत्यक्ष हो जाता है।[1]

उपर्युक्त व्याप्ति की प्र माणिकता के आधार पर ही हम नैयायिकों की कार्य-कारण संबंध की प्रमाणिकता पर विचार करते हैं। अन्य भारतीय दार्शनिक 'सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति' की प्रामाणिकता को नहीं स्वीकार करते। अतः, इस दृष्टि से कारणता संबंध की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।

१. (क) आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते। (भाषा परि०)

(ख) ननु चक्षुः संयोगादिकं विनाऽपि सामान्यज्ञानं यत्र वर्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात्। (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लो० ६४)

माध्यमिकों ने कारणता संबंध को केवल सांवृतिक सत्य माना है। उनके अनुसार कारणता संबंध वासना जन्य है अतः, उसकी प्रामाणिकता प्रतिपादित नहीं की जा सकती। अद्वैत वेदान्ती व्यवहार में कारण-कार्य भाव के भूयः सहचार दर्शन एवं अव्यभिचरितत्व के आधार पर कारणता संबंध को प्रमाणित करते हैं। उनके अनुसार सब देश और सब काल में विद्यमान धूम और वह्नि के कार्य-कारण भाव को न देखने पर भी व्यवहार में कोई आपत्ति नहीं आती। व्यवहार में हम धूम और वह्नि को सदैव साथ-साथ देखते हैं वहनि के अभाव में धूप को नहीं देखते अतः, उसके आधार पर कार्य-कारण भाव का निर्धारण कर लेते हैं। परन्तु शंकर ने भी परमार्थ में कारणता संबंध को तथा उसके आधार पर कार्य-कारण भाव को मिथ्या माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध और अद्वैत वेदान्त दोनों ही दर्शन कारणता संबंध की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं करते।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने ह्यूम के द्वारा उठाई गई समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया। परन्तु कोई भी दार्शनिक ह्यूम का उत्तर देने में समर्थ नहीं रहा। काण्ट ने कारणता संबंध को 'बुद्धि की कोटि' कहा। परन्तु ऐसा कह देने से इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि कारणता संबंध की अनिवार्यता अनुभव द्वारा प्रमाणित है या नहीं ? जिस प्रकार भारतीय दर्शन में माध्यमिकों ने कारणता संबंध को बुद्धि जन्य या वासना जन्य मानकर उसे मिथ्या सिद्ध किया उसी प्रकार काण्ट द्वारा स्वीकृत इन बुद्धि की कोटियों को भी हम काल्पनिक या मिथ्या कह सकते हैं।

अनुभववादी दार्शनिक मिल और रसेल ने कारण-कार्य भाव को नियत क्रम माना है। रसेल ने यह सिद्ध किया कि नियत क्रम को हम अनिवार्य नहीं कह सकते। 'कारण से कार्य की उत्पत्ति होने की सम्भावना है' ऐसा हम कह सकते हैं परन्तु 'कारण की उपस्थिति में कार्य अवश्य होगा' इस अनिवार्यता का प्रतिपादन हम नहीं कर सकते। इस प्रकार अन्ततोगत्वा रसेल भी ह्यूम के ही निष्कर्ष का समर्थन करते हैं।

निष्कर्षतः, हम यही कह सकते हैं कि कारण और कार्य के बीच संबंध अवश्य है परन्तु उस संबंध की अनिवार्यता को हम अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं कर सकते। हमारा अनुभव सीमित है, समस्त संसार के धूम और वह्नि के कार्य-कारण भाव की अनिवार्यता एक विश्वास मात्र है। परन्तु व्यवहार के लिए अनिवार्यता का प्रमाणित होना आवश्यक नहीं है। अनुभव में हम देखते हैं कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, तिल से तेल निकलता है। इसमें किसी भी प्रकार का व्यभिचार नहीं देखते। कारण और कार्य में पौर्वापर्य क्रम को अनेक बार देखते हैं। अतः, व्यवहार के लिए इस भूयः सहचार दर्शन के आधार पर कारणता संबंध को मान लेना चाहिए।

पञ्चम अध्याय

अवयव-अवयवी का विचार

हमने समवाय सम्बन्ध के विषय में विचार किया जिससे यह स्पष्ट होता है कि भेदवादी और वस्तुवादी दार्शनिक न्याय को समवाय संबंध मानना आवश्यक है। अब प्रश्न यह उठता है कि न्याय भेदवादी दर्शन कैसे हैं ? न्याय के भेदवाद की मान्यता के लिए तर्क क्या है ? विचार करेंगे।

कारण और कार्य अवयव और अवयवी का उदाहरण लेकर भेदवाद की समस्या पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। न्याय भेदवाद के सिद्धान्त की सुरक्षा के लिए ही अवयवी को अवयवों का समुच्चय मात्र नहीं मानता, अवयवी की पृथक् सत्ता मानता है। अवयवी अवयवों से निर्मित अवश्य है परन्तु अवयवों से सर्वथा पृथक् है। प्राचीन न्याय में सूत्रकार, वार्तिककार और तात्पर्यटीकाकार ने अवयव और अवयवी को लेकर ही सर्वप्रथम इस समस्या पर विचार किया। उन लोगों ने बौद्ध के सिद्धान्त की आलोचना की है। लगता है बौद्धों की आलोचना ने ही न्याय का ध्यान इस समस्या की ओर अधिक आकृष्ट किया है।

बौद्ध दर्शन में क्षणिक अवयवों के अतिरिक्त अवयवी नाम की कोई सत्ता नहीं है। परन्तु न्याय दर्शन में पट तन्तुओं का समूह मात्र नहीं है, वह तन्तुओं से निमित्त एक नई वस्तु है।

यही नहीं सांख्य, वेदान्त तथा जैन भी न्याय के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। सांख्य भी यथार्थवादी दर्शन है। वह भी धर्म-धर्मी अवयव और अवयवा की यथार्थ सत्ता मानता है। परन्तु दोनों में भेद नहीं स्वीकार करता। अवयवी, अवयवों से पृथक् कोई नई वस्तु नहीं है अपितु, अवयवों का रूपान्तर मात्र ही है। यह धर्म-धर्मी तादात्म्य का सिद्धान्त कारणतावाद में सत्कार्यवाद का रूप लेता है।

वेदान्त के अनुसार धर्मी ही केवल यथार्थ है। धर्म मिथ्या कल्पना मात्र। अवयवी की अवयवों से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। कारणवाद में धर्मीमात्र सद्भाव का यह सिद्धान्त कारणवाद में विवर्तवाद का रूप लेता है।

बौद्ध मत में धर्म ही केवल सत् है धर्मी मिथ्या कल्पना मात्र। आकार, प्रकार लम्बाई, चौड़ाई को छोड़कर घट का कोई अपना स्वरूप नहीं है। धर्म मात्र सद्भाव का यह सिद्धान्त कारणवाद में प्रतीत्य समुत्पाद का रूप धारण करता है।

जैन भेदाभेदवादी दर्शन है। उसके अनुसार कुछ दृष्टि से धर्म और धर्मी में अभेद भी है तथा कुछ दृष्टि से भेद भी हैं। द्रव्य की दृष्टि से धर्म और धर्मी में अभेद है परन्तु

पर्याय की दृष्टि से दोनों में भेद है। भेदाभेद का यह सिद्धान्त कारणवाद में अनेकान्तवाद का रूप धारण करता है।

इसप्रकार, वेदान्त और सांख्य अभेद मानकर अवयवी को प्रधान और अवयव को गौण स्थान देते हैं। वेदान्त में ब्रह्म अवयवीं प्रधान है, जगत् उसका अवयव गौण है। सांख्य में मूल प्रकृति अवयवी प्रधान है तथा शेष सभी अवयव गौण हैं। इसके विपरीत न्याय में अवयव प्रधान है और अवयवो गौण। मूल कारण अवयव भूत परमाणु प्रधान है। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि अवयवों को प्रधान मानते हैं तो उनका भेद मानना आवश्यक हो जाता है, अवयव को गौण मानते हैं तो अभेद मानना आवश्यक हो जाता हैं।

न्याय और बौद्ध का विवाद

बौद्ध दर्शन में प्रत्येक वस्तु क्षणिक तथा एक क्रमबद्ध घटना मात्र है। अवयवी या सम्पूर्ण सम्बद्ध रूप ईकाई की कोई अलग सत्ता नहीं है। अवयवी अवयवपुंज मात्र ही है, इसकी कोई पृथक् भौतिक जगत् में सत्ता नहीं है। तन्तु आदि अवयवों से भिन्न पट की पृथक् सत्ता नहीं है। बौद्धों के अनुसार अवयवी मान लेने पर कुछ समस्यायें उत्पन्न हौती है। बौद्धों द्वारा उठाई गई वे समस्यायें और उनका समाधान अधोलिखित है।

१. अवयवी के प्रत्यक्ष की समस्या[1]

प्रथम शंका बौद्धों ने अवयवी के प्रत्यक्ष के विषय में की हैं। अवयवी का प्रत्यक्ष संभव नहीं। उसका अनुमान हो किया जा सकता है। जैसे, एक वृक्ष के आगे का भाग ही दिखाई देता हैं उसके बीच का या पीछे का भाग दिखाई नहीं देता। अर्वाक् भाग के प्रत्यक्ष के आधार पर ही मध्य भाग और पर भाग का हम अनुमान कर लेते हैं। जैसे, धूम साधन का प्रत्यक्ष करके पर्वतीय वह्नि का अनुमान कर लेते हैं। अतः, वृक्ष का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। इसका अनुमान ही हो सकता हैं। वृक्ष को अनुमान प्रमाण सिद्ध मानने का तात्पर्य होता है कि वृक्ष अवयवीं का समूह मात्र है। जिसके कुछ भाग का ती प्रत्यक्ष होता हैं कुछ भाग का अनुमान।[2]

वात्सायान तथा उद्योतकर ने इस समस्या का समाधान किया है। उनके अनुसार अवयवी को अवयवों का समुच्चय मात्र मान लेने से प्रत्यक्ष और अनुमान दानों नहीं हो

---

१. इस पूर्वपक्ष का उल्लेख न्याय तथा जैन के ग्रन्थों में किया गया है।
 (क) न्या० सू० १।२।३१
 (ख) प्रमेय कमल मार्तण्ड

२. (क) मूलस्कन्धशाखापलाशादीनामशेषता वा समुदायो वृक्ष इति स्यात् प्रासिर्वा समुदायिनामिति, उभयथा समुदायभूतस्य वृक्षस्य ग्रहणं नोपपद्यते इति।
 (न्याय भाष्य)

सकता है। वृक्ष यदि शाखा, तना, पत्र आदि का समूह मात्र है, उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है, तब उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं हो सकता; सभी अवयवों का प्रत्यक्ष होना असंभव है। वृक्ष न तो वह भाग है जो प्रत्यक्ष होता है, न वह भाग है जो प्रत्यक्ष नहीं होता है। अवयवी को अवयवों का समूह मात्र मान लेने पर अनुमान भी संभव नहीं है। वृक्ष के अर्वाक् भाग के प्रत्यक्ष के आधार पर मध्य और पर भाग का अनुमान नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष के बिना अनुमान असंभव है। अनुमान उसी का होता है जिसके साध्य और हेतु का अनेक बार साथ-साथ दर्शन हो चुका है, जिसकी व्याप्ति स्थापित हो चुकी है। धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान भी प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। धूम और वह्नि अर्थात् हेतु और साध्य का भूयः सहचार दर्शन करके व्याप्ति स्थापित हो जाने के बाद ही हम धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान करते हैं। बौद्धों के द्वारा अभिमत अवयवों के समुच्चय में अर्वाक् भाग के साथ मध्य और पर भाग का प्रत्यक्ष कभी भी नहीं होता। वृक्ष के सभी अवयवों का प्रत्यक्ष कभी एक साथ नहीं होता अतः, व्याप्ति नहीं बन सकती और व्याप्ति के बिना अनुमान नहीं हो सकता।[1]

(ख) न्याय वार्तिक

वृक्ष एक अवयवी रूप है। अतः, वृक्ष के एक देश का ग्रहण होता है या सम्पूर्ण का, यह प्रश्न नहीं उठना चाहिए। अनेक पदार्थ होने पर ही एक देश एवं सम्पूर्ण देश के ग्रहण का प्रश्न उठता हैं। यहां इस प्रसंग में कुछ अवयवों के ग्रहण से ही सम्पूर्ण अवयवी का ग्रहण हो जाता है क्योंकि सभी अवयवों में अवयवी एक ही है।[2]

उद्योतकर ने इसका समाधान दूसरे ढंग से किया है। उनके अनुसार अवयवी अवयवों से पृथक् है, अतः, उसके ग्रहण और अग्रहण पर अवयवी का ग्रहण और अग्रहण निर्भर नहीं करता। अवयवी मध्य भाग या पर भाग मात्र नहीं हैं। अतः, मध्य या पर भाग के अप्रत्यक्ष होने पर भी अवयवी का प्रत्यक्ष हो सकता है।[3]

न्याय-वैशेषिक ने अवयवी के प्रत्यक्ष के विषय में उठाई गई एक अन्य शंका पर भी विचार किया है। बौद्धों की यह शंका है कि जिस तर्क से कुछ भाग के प्रत्यक्ष के

---

१. न तर्हि वृक्षबुद्धिरनुमानमेवं सति भवितुमर्हतीति। द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे नावयव्यनुमेयः अस्यैकदेशसम्बद्धस्याग्रहणात्, ग्रहणे चाविशेषादनुमेयत्वाभावः। तस्माद् वृक्षबुद्धिरनुमानं न भवति। (न्याय भाष्य)

२. न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात्। (न्याय सूत्र १।२।३२)

३. मध्यभागपरभागौ न गृहीताविति चेत्, न, तयोरवयविनोऽन्यत्वात् अन्योऽवयवी अन्यौ मध्यपरभागाविति अवयविनोऽन्यत्वादवयविनो मध्यभागपरभागौ न गृह्येते इति। (न्याय वार्तिक ४७)

आधार पर सम्पूर्ण अवयवी का प्रत्यक्ष मान लेते हैं उसी तर्क से मध्य भाग और परभाग के अप्रत्यक्ष के आधार पर सम्पूर्ण अवयवी का अप्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते ?[१]

इसका समाधान उद्योतकर तथा वाचस्पति दोनों ने किया है। उनके अनुसार संपूर्ण भाग का प्रत्यक्ष कभी किसी वस्तु का नहीं हो सकता क्योंकि मध्य भाग और पर भाग हमेशा ही छिपा रहता है। अतः, कुछ भाग के प्रत्यक्ष से ही संपूर्ण का प्रत्यक्ष मान लेना चाहिए। कुछ अवयवों के प्रत्यक्ष से अवयवी का प्रत्यक्ष इसलिए भी मान लेना आवश्यक हो जाता है कि अवयव के साथ-साथ अवयवी भी रहता है; उसमें प्रत्यक्ष की विशेषतायें भी है अर्थात् वह महत् परिमाण वाला और अनेक द्रव्य वाला है।[२]

श्रीधर ने इसका समाधान दूसरे ढंग से किया है। उनके अनुसार अवयवी के अधिकांश अवयवों का प्रत्यक्ष होता है तथा कुछ अवयवों का प्रत्यक्ष नहीं होता तब वहां अवयवी का प्रत्यक्ष मान लेना चाहिए। परन्तु जिस अवयवी के अधिक अंशों का प्रत्यक्ष नहीं होता, कुछ ही अंशो का प्रत्यक्ष होता है वहाँ अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिए। जैसे, हाँथी पानी में डूब गया है, उसका सिर मात्र ही दिखाई दे रहा है तो हाँथी अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं होता।[3]

हमारी दृष्टि में श्रीधर द्वारा किया गया यह समाधान एक समस्या ही उत्पन्न कर देता है। प्रस्तुत प्रसंग में हाँथी का सिर मात्र देखने से हमे पूरे अवयवी का भान होता है किसी अन्य जानवर का नहीं। हाँथी का ही सिर है ऐसा हमें ज्ञान होता है। यहाँ कुछ भाग के प्रत्यक्ष से संपूर्ण का प्रत्यक्ष होता है। अतः, अवयवी के प्रत्यक्ष के विषय में यह मान लेना चाहिए कि जब किसी अवयवी का प्रमुख अंग जो उसे अन्य अवयवी से पृथक् कर देता है, दिखाई तो सम्पूर्ण अवयवी का प्रत्यक्ष मान लेना चाहिए। उसके आधार पर संपूर्ण का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु गौण अंग जो अन्य अवयवी में भी समान रूप से रहते हैं, वहां कुछ भाग के प्रत्यक्ष के आधार पर सम्पूर्ण अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिए। जैसे, पानी में हाँथी का सारा शरीर डूब गया हो, केवल थोड़ी पूंछ मात्र दिखाई देती हो, तो उसके आधार पर हाँथी का अनुमान नहीं हो सकता है। यहां कुछ भाग के प्रत्यक्ष के आधार पर संपूर्ण का प्रत्यक्ष नहीं होता।

---

१. स्थूलस्यैकस्वभावत्वे मक्षिकापदमात्रतः।
पिधानेपिहितं सर्वमासज्येताविभागतः॥ (तत्व० सं० भाग० १ श्लो० ५९२)

२. (क) किं सर्वावयवदर्शनद्वारेणावयविनः प्रतिपत्तिरूप कतिपयावयवदर्शनद्वारेण ? पूर्वस्मिन् कल्पनावयवी कदाचिद् अपि दृश्यते। न हि असर्ववित् सर्वावयवोपलम्भक्षमः अर्वाग्भागेन मध्यपरभागयोर्व्यवधानात् (न्याय वार्तिक तात्पर्यटीका)
(ख) न्याय वार्तिक

३. यत्र तु भूयसामवयवानामावरणमल्पतरावयवग्रहणञ्च तत्रावयविनो न ग्रहणम्, यथा जलनिमग्नस्य शिरोमात्रदर्शनात्। (न्याय कन्दली)

बौद्ध के अनुसार सामान्य या अवयवी की मानसिक जगत् में सत्ता है भौतिक जगत् में नहीं। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयवों से भिन्न अवयवी की भौतिक जगत् में सत्ता है अतः, उसका प्रत्यक्ष मानना आवश्यक हो जाता है।

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि भौतिक और मानसिक जगत् को विभक्त करने वाली रेखा बहुत अस्पष्ट है। दोनों में बहुत कम भेद है। यही कारण है कि न्याय दार्शनिक कभी-कभी अवयवी की मानसिक सत्ता मानने की भूल करते हैं। जयन्त भट्ट ने न्याय मंजरी में यही प्रवृत्ति दिखाई। एक शंका यह उठाई गई है कि किसी वस्त्र को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर क्यों केवल तन्तु ही दिखाई देते हैं पूरा पट क्यों नहीं दिखाई देता ? इस शंका का समाधान जयन्त भट्ट ने किया है—जब हम अवयवों को पास से देखते हैं तब अवयवी का अप्रत्यक्ष होना स्वाभाविक है। उस समय अवयवी का विभाग ही मस्तिष्क में रहता है। अवयवी का विभाग, अवयवी के विनाश का कारण है। जब पास से वस्त्र को देखते हैं तो अवयवी का विभाग ही दिमाग में रहता है, अर्थात् अवयवी का विनाश भी दिमाग में रहता है। यही कारण है कि उस समय अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं होता।[1] इससे ऐसा लगता है कि अवयवी विभाग और अवयवी विनाश की मानसिक अनुभूति हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक दो अपवाद को छोड़कर न्याय वैशेषिक अवयवी की भौतिक सत्ता तथा उसका प्रत्यक्ष मानते हैं। इसके विपरीत बौद्ध दार्शनिक अवयवी की मानसिक अनुभूति मात्र मानते हैं। परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि न्याय-वैशेषिक को अवयवों से भिन्न अवयवी मानने की क्यों आवश्यकता पड़ गई और बौद्ध को इसकी आवश्यकता क्यों नहीं पड़ी ? वस्तुतः, इसका समाधान भी दोनों के मूलभूत सैद्धान्तिक भेद के आधार पर ही किया जा सकता है। नैयायिक अतीन्द्रिय परमाणुओं को जगत् का समवायिकारण मानते हैं। परन्तु इन अतीन्द्रिय परमाणुओं से इन्द्रियगोचर जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस समस्या के समाधान के लिए ही न्याय वैशेषिक अवयवी की अवयवों से पृथक् सत्ता मानते हैं। अतः, परमाणु से उत्पन्न द्वयणुक का प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु द्वयणुक से उत्पन्न त्र्यणुक का प्रत्यक्ष होता है। अवयव के प्रत्यक्ष न होने पर भी अवयवी का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि अवयवी की अवयवों से पृथक्

---

1. (क) Critique of Indian Realism, pp. 24–5.
   (ख) विविच्यमानेष्वंशेषु युक्तस्तदनुपग्रहः।
   तदावयविनाश हि बुद्धौ विपरिवर्तते ॥ (न्याय मंजरी भाग १)
   (ग) अवयविभागो ह्यवयविनो विभागहेतुस्तस्मिन् बुद्ध्या समुल्लिख्यमानेऽवयविनाशोऽपि नानुल्लिखितो भवेदिति कथमवयवी तदानीं गम्यते।
   (न्या० मं० व्या० भाग २)

सत्ता है। द्वयणुक महत् परिमाण वाले नहीं हैं, परन्तु उनसे उद्भूत त्रयणुक महत् परिमाण वाला एवं अनेक द्रव्य वाला है अतः, उसका प्रत्यक्ष होता है।

न्याय सूत्र, भाष्य, सिद्धान्त मुक्तावली आदि न्याय के सभी प्रमुख ग्रन्थों में परमाणु के विषय में उठाई गई पूर्वपक्षी का निम्न शंका पर विचार किया गया है—

बौद्ध के अनुसार परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता है लेकिन उनके समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है। अवयवो से पृथक् अवयवी को मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसे, दूर से देखने पर प्रत्येक केश का प्रत्यक्ष भले न हो परन्तु केश-समूह का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार, दूर से सेना के प्रत्येक सिपाही का प्रत्यक्ष न हो पर 'सेना' इस समूह का प्रत्यक्ष होता है।[1]

इसका समाधान 'न्यायसूत्र' 'भाष्य' तथा 'सिद्धान्तमुक्तावली' तीनों ग्रन्थों में मिलता है। पूर्वपक्षी का केश तथा सेना का उदाहरण अतीन्द्रिय नहीं है, दूर होने के कारण या कुछ व्यवधान होने के कारण चक्षु इन्द्रिय प्रत्येक केश या सेना के प्रत्येक सिपाही का प्रत्यक्ष न कर सके, परन्तु पास आने पर प्रत्येक केश या सेना के प्रत्येक सिपाही का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। अतः, हम इन उदाहरणों से अतीन्द्रिय परमाणु के प्रत्यक्ष गोचरत्व की सिद्धि नहीं कर सकते। जो चक्षु-इन्द्रिय के विषय नहीं, उनका प्रत्यक्ष, प्रयत्न करने पर भी नहीं हो सकता। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी चक्षुरिन्द्रिय गन्ध का ग्रहण नहीं कर सकती। अतः, यह कथन कि पास आने पर अतीन्द्रिय परमाणु दृष्टिगोचर हो जाते हैं, सर्वथा असंगत है। अतीन्द्रिय को इन्द्रिय कैसे ग्रहण कर सकती है?[2] समुदाय का अर्थ यहाँ भाष्यकार ने अनेक का संयोग संबंध किया है। परमाणुओं के समुदाय का अर्थ होता है परमाणुओं का संयोग संबंध। इस संयोग-संबंध का ग्रहण संबंधियों के ग्रहण करने पर ही हो सकता है। परन्तु परमाणु अतीन्द्रिय हैं उनके संयोग का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।[3]

उद्योतकर के अनुसार परमाणु की सत्ता मानने पर अवयवी की सत्ता मानना आवश्यक हो जाता है। परमाणु की सत्ता की सिद्धि के लिए नैयायिक जो प्रमाण देते हैं वह इस प्रकार है—'महत् परिमाण के अधिकतर और अधिकतम होने की विश्रान्ति जिस प्रकार आकाश में होती है उसी प्रकार न्यूनतर और न्यूनतम की विश्रान्ति जहाँ होती है

---

१. न्याय सूत्र १।२।३७, ४।२।१३,१४

२. (क) न्याय सूत्र ४।१।१४

(ख) चक्षुःखलु प्रकृष्यमाणं नाविषयां गन्धं गृह्णाति, निकृष्यमाणं च न स्वविषयात् प्रच्यवते। (न्याय भाष्य)

३. सञ्चयः खल्वनेकस्य संयोगः स च गृह्यमाणाश्रयो गृह्यते नातीन्द्रियाश्रयः।

(न्याय भाष्य)

उसे परमाणु कहते हैं ।' यह अनुमान अवयवी की सत्ता स्वीकार करने पर ही संभव है। महत् परिमाण वाला कोई अवयवी स्वीकार नहीं करेगें तो उसकी तुलना में न्यून, न्यूनतर और न्यूनतम की कल्पना नहीं हो सकती ।[१]

न्याय–वैशेषिक के विरुद्ध एक यह शंका उठाई जाती है कि अदृश्य परमाणुओं से दृश्य अवयवी की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि अदृश्य से दृश्य की उत्पत्ति होतो तो कढ़ाई में गर्म तेल में विद्यमान अदृश्य अग्नि से भी दृश्य अग्नि की उत्पत्ति हो जाती और किसी वस्तु के सम्पर्क में आने पर उसमें लपट उत्पन्न हो जाती । विश्वनाथ ने इसका समाधान किया है कि वस्तु के दृश्यत्व और अदृश्यत्व का नियामक उस वस्तु को उत्पन्न करने वाला कारण नहीं होता है । दृश्यत्व तथा अदृश्यत्व का नियामक उद्भूत रूप और महत् परिमाण का होना और न होना है । द्वयणुक अतीन्द्रिय है तथापि उससे उत्पन्न त्र्यणुक का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि वह उद्भूत रूप वाला तथा महत् परिमाण वाला है । कारण के अतीन्द्रिय होने से उसके प्रत्यक्षत्व में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती ।[२]

२. अवयवी एक धर्मी में दो धर्मो के समावेश की समस्या

बौद्धों की यह शंका है कि जब शरीर के सभी अवयव हाथ, पैरादि मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं तब एक अवयव हाथ में गति होने पर संपूर्ण शरीर अवयवी में गति होनी चाहिए । एक ही शरीर में हाथ कांप रहा है, पूरा शरीर नहीं कांप रहा है, इसका तात्पर्य यह होता है कि एक शरीर धर्मी में कम्प और अकम्प दो धर्मो का समावेश है । अवयवी मानने पर एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के समावेश की आपत्ति आ जाती है ।[3]

'तात्पर्यटीका', तथा 'कन्दली' दोनों ग्रन्थों में इस शंका का समाधान मिलता है । न्याय–वैशेषिक ने इसका समाधान किया है कि अवयव के चलने पर अवयवी के चलने का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि अवयव और अवयवो दोनों अभिन्न नहीं हैं । अवयव

---

१. परमाणुशब्दस्य परमापकर्षवाचित्वात् न ह्यसति महति न चासत्यणौ परमाणुरिति विशेषणं युक्तम् ।.........स चायं परिमाणप्रकर्षयोगः सत्यवयविनि सिद्धयतीति ।
(न्याय वा०)

२. न चाऽदृश्येन द्वयणुकेन कथं दृश्यत्रसरेणोरूत्पत्तिरिति वाच्यम् । यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्य चित् स्वभावादाचक्ष्महे, किन्तु महत्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवतो दृश्यत्वं, तदभावे चाऽदृश्यत्वम् । (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लो० ३६)

३. (क) पण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः ।
एकस्मिन् कर्मणो योगात् स्यात्पृथक्सिद्धिरन्यथा ॥ (प्रमाण वार्तिक १।८६)

और अवयवी की अपनी अलग-अलग सत्ता है।[1] यह कोई आवश्यक नहीं कि द्रव्य के साथ गुण चले।[2] हाथ इसलिए कांपता है कि हाथ के कांपने का कारण है। परन्तु पूरे शरीर के कांपने का कारण न होने से पूरा शरीर नहीं कांपता है। अतः, यहाँ किसी प्रकार का सन्देह करने की आवश्यकता ही नहीं है।[3]

यदि कोई यह शंका करे कि न्याय–वैशेषिक एक तरफ अवयव और अवयवी को अयुतसिद्ध मानते हैं और दूसरी तरफ अवयव में कम्प तथा अवयवी में अकम्प का भेद मानते हैं। यह विरोधी बातें एक साथ कैसे संगत हो सकती हैं? इसका समाधान वाचस्पति मिश्र तथा श्रीधर ने किया है। अनित्य पदार्थों की अयुत सिद्धि के लिए अपृथगाश्रयत्व आवश्यक है अपृथग्गातिमत्व नहीं। अवयव और अवयवी की पृथग्गति हो सकती है लेकिन पृथगाश्रय नहीं हो सकता। हाथ अवयव और शरीर अवयवी का उदाहरण अनित्य अयुतसिद्ध का उदाहरण है। यहाँ शरीर में अकम्प और हाथ में कम्प है, दोनों की पृथग्गति है परन्तु इससे इनके अयुतसिद्धत्व का खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि अनित्यों की अयुतसिद्धि के लिए अपृथगाश्रयत्व आवश्यक है अपृथग्गतिमत्व नहीं। हाथ शरीर को छोड़कर अन्य किसी अवयवी में नहीं रहता अतः, अवयव और अवयवी अयुतसिद्ध है।[4]

एक अन्य उदाहरण देकर बौद्ध यह तर्क देते हैं कि अवयवी मानने पर एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के समावेश का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। अवयवों से निर्मित अवयवी है तो वस्त्र का एक कोना रक्तिम हो जाने से पूरा वस्त्र रक्तिम हो जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो एक ही वस्त्र में रक्तारक्तत्व दो विरुद्ध धर्मों का समावेश मानना पड़ेगा।[5]

---

१. न वाऽवयवकम्पेप्यवयविनः कम्पो येनावयवान्तरेऽपि कम्पप्रसङ्गः, भिन्नत्वादवयवावयविनोः। (न्याय वा० ता० टी०)

२. न चलाचलत्वम्, द्रव्ये चलति गुणस्याचलनेऽपि तयोर्युतसिद्ध्यभावात्।
(न्याय कन्दली)

३. यदा पाणिमात्रं चालयितुं कारणं भवति तदा तन्मात्रं चलति न शरीरम्, कारणाभावात्। (न्याय कं०)

४. (क) पृथगाश्रयाश्रयित्वं चावयविनोर्भिन्नत्वेऽपि नास्तीति न युतसिद्धता।
(न्याय कन्दली)

(ख) न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका

५. (क) रक्ते च भागे एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत्।
विरूद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुषज्यते॥ (तत्व० सं० भाग १ श्लो० ५९३)

(ख) एकस्य चावृत्तौ सर्वस्यावृत्तिः स्यादनावृत्तौ।
दृश्यते रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः॥ (प्रमाण वार्तिक १।८७)

श्रीधर तथा वाचस्पति मिश्र दोनों ने ही इस शंका का समाधान किया है। उनके अनुसार पट का रक्तत्व और अरक्तत्व उनके असमवायिकारण पर निर्भर करता है क्योंकि कारण गुण से कार्यगुण की उत्पत्ति होती है। रक्तिम तन्तुओं के संयोग से ही रक्तिम पट उत्पन्न होता है, श्वेत पट में भी जहाँ लाल द्रव्य का संयोग होगा उतने ही भाग में पट को लाल मानना पड़ेगा। अन्य भाग में लाल द्रव्य का संयोग नहीं होता अतः, उन्हें हम लाल नहीं मान सकते। संयोग अव्याप्य वृत्ति वाला है, एक ही समय में अपने आश्रय के किसी अंश में रहता है और किसी अंश में नहीं रहता है। अतः, रक्तत्व और अरक्तत्व दोनों एक ही समय में एक अवयवी में रह सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।[1]

३. चित्ररूप की समस्या

अवयवी के सम्बन्ध में चित्ररूप की भी समस्या उपस्थित होती है। न्यायवैशेषिक के अनुसार कारण रूप से कार्यरूप उत्पन्न होता है। जैसे, पटरूप का समवायिकारण तन्तु है, परन्तु उसका असमवायिकारण तन्तुरूप है। कार्य अवयवी की जिस प्रकार कारण अवयवों से पृथक् सत्ता है उसी प्रकार अवयवी के रूप की भी अवयवों के रूप से पृथक्सत्ता है। न्याय-वैशेषिक की इस मान्यता से समस्या उत्पन्न हो जाती है। जब अनेक रंग के तन्तु पट का निर्माण करते हैं अर्थात् लाल, पीला, नीला आदि अनेक रंग के तन्तुओं से पट का निर्माण किया जाये तो उस समय पट के एक स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। नाना प्रकार के तन्तु के रंग पट के रंग का निर्माण नहीं कर सकते हैं। तन्तु पट में दो ही प्रकार से रह सकता है, या तो एकदेशेन या सर्वात्मना। दोनों ही विकल्प नहीं हो सकते। यदि तन्तुरूप पट में एकदेशेन रहता है अर्थात् पट के प्रत्येक भाग में रहता है इसका अर्थ होता है कि तन्तु ही तन्तु में रहता है। परन्तु तन्तु के अतिरिक्त पट का कोई अन्य भाग नहीं है। पहला विकल्प मानने पर पट अवयवी की कल्पना ही सम्भव नहीं है। दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है अर्थात् तन्तु के रंग में पट सर्वात्मना नहीं रह सकते। अनेक रंग के तन्तु एक अवयवी को व्याप्त नहीं कर सकते। नाना रंग के तन्तुओं से निर्मित पट का रंग भिन्न-भिन्न होता है। इन समस्याओं के समाधान के लिए न्याय-वैशेषिक नाना रंगों से निर्मित पट के रंग चित्ररूप को 'एक' मानते हैं।

बौद्धों के अनुसार पट को तन्तुओं का समुच्चय मात्र मान लेने से यह समस्या ही नहीं उत्पन्न होती। अनेक रंगों से अनेक रंगों के पट का निर्माण होता है। बौद्धों ने अनेक रंगों से एक रंग की उत्पत्ति का खण्डन किया है। उपहास में बौद्धों ने यह आक्षेप

---

१. (क) रागद्रव्यसंयोगो रक्तत्वम्, अरक्तत्वञ्च तदभावः। उभयं चैकत्र भवत्येव, संयोगस्याव्याप्यवृत्तिभावात्। (न्याय कन्दली)
(ख) न्याय वा० ता० टी०

किया है कि 'इससे चित्र (विचित्र) कल्पना क्या हो सकती है कि चित्ररूप को हम एक रंग माने ।[१]

श्रीधर ने इसका समाधान किया है कि नीलादि एक रूप का निर्माण कर सकते हैं क्योंकि ये नाना प्रकार के रंग परस्पर अभाव रूप नहीं हैं । उनमें से प्रत्येक में भावत्व की प्रतीति होती है । परस्पर अभाव रूप मानने में अन्योन्याश्रय दोष भी होगा । पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं कि इन रंगों में स्वरूप भिन्नता मानने पर परस्पर विरोध होगा । क्योंकि विलक्षण कारणों से उत्पन्न चित्ररूप सर्वलोक प्रसिद्ध है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है ।[२]

दूसरी समस्या चित्ररूप के विषय में यह है कि ऐसी साड़ी जिसका किनारा सफेद रंग का है तथा पूरी साड़ी चित्ररूप की है वहाँ साड़ी का रंग क्या होगा ? अवयवी अपने अवयव साड़ी के किनारे में भी होगा अतः, साड़ी के किनारे का रंग भी चित्र क्यों नहीं होता ? श्रीधर ने इसका समाधान किया है कि चित्र रूप के प्रत्यक्ष में उन अनेक अवयव के रंगों का प्रत्यक्ष होना भी आवश्यक है । साड़ी के किनारे में विभिन्न रंग के अवयवों का प्रत्यक्ष नहीं होता अतः, वहाँ चित्र रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।[३]

बौद्धों ने चित्र रूप की समस्या का अत्यन्त विरोध किया है । यही कारण है कि नव्य नैयायिकों ने इस समस्या का समाधान संयोग के अव्याप्य वृत्तित्व के आधार पर किया । 'चित्र रूप एक है, प्राचीन नैयायिकों के इस सिद्धान्त को त्याग दिया । उसके अनुसार अनेक रंगों के तन्तुओ के संयोग से उत्पन्न पट अनेक रंग का होता है । जिस अंश में पीले रंग का संयोग होता उस अंश को पीला कहते हैं ।[४] परन्तु नव्य नैयायिकों के इस समाधान से न्याय-वैशेषिक के मूल सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है । न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयव के गुण रूपादि अवयवी में सर्वात्मना रहते हैं । परन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार अवयव अपने अवयवी में एकदेशेन रहता है । एकदेशेन

१. न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका ।

२. को विरोधी नीलादीनाम् न तावदितरेतराभावात्मकः, भावस्वभावानुगमनादन्योन्यसंश्रयापत्तेश्च । स्वरूपान्यत्वं विरोध इति चेत् ? सत्यमस्त्येव । तथापि चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता, विचित्र कारणसामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षणैवोपादितत्वात् । (न्याय कन्दली) ।

३. अचि पार्श्वे पटस्येव तदाश्रयस्य चित्ररूपस्य ग्रहणप्रसङ्गस्तस्यैकत्वारिति चेन्न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां समधिगतसामर्थ्यस्यावयवनानारूपदर्शनस्यापि चित्ररूपग्रहणहेतुत्वात् तस्य च पार्श्वान्तरेऽभावात् । (न्याय कन्दली)

४. नव्यास्तु तत्रापि अव्याप्यवृत्येव नानारूपम् । (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लो० १००) ।

वृत्ति मानने का अर्थ होता है कि अवयवी एक सम्पूर्ण ईकाई नहीं है वह अवयवों का समुच्चय मात्र है (जैसा कि बौद्धों ने माना है)। बाद में बौद्धों के साथ विवाद समाप्त हो जाने पर नव्य नैयायिकों ने उस सिद्धान्त पर टिके रहना कोई आवश्यक नहीं समझा ।[1]

परन्तु हमारी दृष्टि में नव्य नैयायिकों की चित्तरूप की समस्या का समाधान इस तरह नहीं करना चाहिए। इससे न्याय-वैशेषिक के मूल भूत सिद्धान्त, 'अवयवों से पृथक् अवयवी की अपनी सत्ता है' का खण्डन हो जाता है। इसके खण्डन से अतीन्द्रिय परमाणुओ से सृष्ट जगत् की व्याख्या नहीं हो पाती। चित्ररूप को नानारूप माने बिना भी समस्या का समाधान हो जाता है। जब अनेक अवयव मिल कर एक अवयवी का निर्माण जर सकते है, तब अवयव के अनेक रूप एक रूप का निर्माण क्यों नहीं कर सकते ? जिस प्रकार अवयवी अपने अवयवों में संबंध से रहता है उसी प्रकार चित्र रूप भी अनेक रंगों में समवाय संबंध से रह सकता है।

४. अवयवी की अवयवों में वृत्ति की समस्या

अवयवी के विषय में एक अन्य शंका यह भी है कि एक अवयवी अपने अनेक अवयवों में किस रूप से रहता है ? अवयवी अपने अवयवों में दो ही प्रकार से रह सकता है। या तो एक देशेन या सर्वात्मना। यहाँ यह दोनों ही विकल्प सम्भव नहीं हैं। अवयवी एकदेशेन अपने अवयवों में रहता है, कहने का अर्थ होता है, वह अपने अवयवों में रहता है क्योंकि अवयवों को छोड़कर उसका अन्य कोई देश नहीं है। दूसरा विकल्प भी संभव नहीं है। अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना नहीं रह सकता। यदि ऐसा होता तो सींग से भी दूध निकाला जा सकता था क्योंकि सींग अवयव में गाय अवयवी है। एक दूसरी समस्या यह उपस्थित हो जायेगी कि एक अवयव में ही अवयवी सर्वात्मना व्याप्त हो जायेगा तब अन्य अवयवों में उसकी वृत्ति कैसी होगी ? ये दो ही प्रकार की वृत्तियाँ हैं, प्रकारान्तर वृत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः, अवयवी को अवयवों का समुच्चय मात्र मानना चाहिए।[2]

'न्याय सूत्र', 'वार्तिक', 'तात्पर्यटीका', 'न्यायमंजरी', 'कन्दली' आदि न्याय-वैशेषिक के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थो में इस समस्या पर विचार किया गया है। उनके अनुसार अवयवी एक है उसके विषय में एकदेशेन या सर्वात्मना का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। एकदेशेन और सर्वात्मना का प्रश्न वहीं उठता है जहाँ वस्तुएँ अनेक हों।

1. D. N. Sbastri : Critique of Indian Realism.

२. यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते।
एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः ॥
(तत्त्वदर्शन संग्रह भाग १ श्लो० ६ १३)

एक देश तभी होगा जब अनेकदेश हो। इसी प्रकार सर्वात्मना पद सम्पूर्ण या अशेष का बोध कराता है। एक के लिए हम इस पद का प्रयोग नहीं कर सकते। अनेक के लिए ही हम सम्पूर्ण, अशेष आदि का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसा हम नहीं कह सकते हैं कि न्याय-वैशेषिक मत में एक देश और सर्वात्मना के अतिरिक्त कोई प्रकारान्तर वृत्ति नहीं है। न्याय-वैशेषिक ने कारण-कार्य के प्रसङ्ग में प्रकारान्तर वृत्ति स्वीकार की है, वह है—'आश्रय-आश्रयी भाव'। अवयवी अपने अवयवों में रहता है, या कार्य अपने कारण में रहता है, कहने का अर्थ होता है कि आश्रयी अपने आश्रय में रहता है। इस प्रकार, अवयव और परस्पर आश्रय-आश्रयीभाव से सम्बन्धित हैं। जैसे, एक धागा मणियों में संयोग सम्बन्ध से सर्वात्मना रहता है, उसी प्रकार एक अवयवी अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से सर्वात्मना रहता है।[1] यह उदयन और श्रीधर का तर्क है। वाचस्पति मिश्र ने इसका समाधान करने हुए कहा है कि वस्तुतः एक सूत्र की अनेक कुसुमों में न तो एकदेशेन वृत्ति है न सर्वात्मना। सूत्र कुसुमों में स्वरूपतः रहता है। उसी प्रकार अवयवी अपने अवयवों में न तो एकदेशेन रहता है न सर्वात्मना अपितु स्वरूपतः रहता है।[2] जयन्तभट्ट का कहना है कि एक अनेक में रहता है यह अनुभव सिद्ध है। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। जैसे सामान्य अपने सभी विशेषों में रहता है उसी प्रकार अवयवी भी अपने सभी अवयवों में रहता है।[3] एक अनेक में रहता है इसका अन्य कोई उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। यदि न्याय-वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष सिद्ध सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं होती।[4]

श्रीधर ने बौद्ध मत में भी समान दोष दिखलाकर समस्या का समाधान किया है। बौद्धों के मत में भी एक ही विज्ञान अपने उत्पत्तिरूप सम्बन्ध से और अपने स्वरूप

---

१. (क) आश्रयाश्रयिभावेन—आश्रयोऽवयवी अवयवा इति। (न्याय वार्तिक)
यद् यथाभूतं तत्तथा निर्दिश्यते इत्येषैव वाचोयुक्तिः।
(ख) यद् वर्त्तते तत् स्वरूपेणाश्रयाश्रितभावलक्षणया वृत्त्या वर्त्तते।
(न्याय कन्दली)

२. तत्रसूत्रस्य वृत्ति कुसुमेषु नैकदेशेन वा नापि कात्स्र्न्येन किं तु स्वरूपतः, एवमवयवेष्ववयविनः स्वरूपत एव। (न्याय वा० ता० टीका)

३. वृत्तिश्चावयवेष्वस्य व्यासज्यैवेति गम्यते।
न प्रत्यवयवं तस्य समाप्तिर्व्यक्तिजातिवत्॥
व्यासज्य वर्तमानोऽपि न खल्ववयवान्तरैः।
वर्तते तदसंवित्तेः किन्तु वर्तत एव सः॥ (न्याय मञ्जरी भाग २)

४. वृत्तिरेवम्विधाऽन्यत्र क्व दृष्टेति यदुच्यते।
प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थं दृष्टान्तान्वेषणेन किम्॥ (न्याय मञ्जरी भाग २)

अभेद से विषय, इन्द्रिय और मनोवृत्ति अनेक बस्तुओं में रहता है। इसी प्रकार, एक अवयवी समवाय वृत्ति से अपने अवयवों में रहता है।[1] इसलिए नाना अवयवरूप मानने की आवश्यकता नहीं है।

न्यायभूषणकार ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि बौद्ध मत में भी ठीक इसी प्रकार की शंका की जा सकती है, ज्ञान रूप से सर्वात्मना उत्पन्न होता है या एक-देशेन ? यदि ज्ञान रूप से सर्वात्मना उत्पन्न होता है तो ज्ञानान्तर को उत्पत्ति नहीं हो सकती और यदि एकदेशेन उत्पन्न होता है तो रूप के भी अवयव की कल्पना करनी पड़ेगी। जो आक्षेप बौद्धों ने न्याय के अवयवी के विषय में किया है वही आक्षेप नैया-यिकों के विज्ञान के विषय में किया है। दोनों दर्शनों में समान दोष हैं अतः, समान रीति से उनका परिहार कर लेना चाहिए।[2]

यह भेद भी न्याय-वैशेषिक और बौद्धों के सैद्धान्तिक भेद के कारण है। बौद्धों के अनुसार एक वस्तु दो स्थान में नहीं रह सकती। एक स्थान पर उसकी उपस्थिति का अर्थ होता है दूसरे स्थान पर उसका अभाव। परन्तु न्याय-वैशेषिक में एक वस्तु अनेक में स्वरूप सम्बन्ध से, समवाय सम्बन्ध से या संयोग सम्बन्ध से रह सकती है। बौद्ध के अनुसार कारण और कार्य अवयव और अवयवी कभी साथ-साथ नहीं रह सकते। कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य उत्पन्न होता है। परन्तु न्याय-वैशेषिक में कारण-कार्य को उत्पन्न करके नष्ट नहीं हो जाता, उसकी उत्पत्ति के बाद भी समवाय सम्बन्ध से उसके साथ-साथ रहता है।

१, स्वतस्तावदेकं विज्ञानमनेकेषु विषयेन्द्रियमनस्कारेषु स्वरूपाभेदेन तदुत्पत्या वर्त्तते, परस्याप्येकं सूत्रमभेदेनानेकेषु मणिषु संयोगवृत्या वर्त्तते, तथाऽवयव्यवयवेषु समवाय-वृत्या वर्त्तिष्यते नाना च न भविष्यति। (न्याय कं०)

२. ज्ञानमपि किं सर्वात्मना रूपादुत्पन्नं, उतैकदेशेनेति ? सर्वात्मना चेद्रूपादुत्पन्नं ज्ञानान्त-रादुत्पन्नं, तर्हि न प्राप्नोति। नाप्येकदेशेन तस्य देशाभावात्। (न्याय भूषण)

न्याय और सांख्य का अवयव-अवयवी सम्बन्धी विवाद

अभी तक हमने अवयवी सम्बन्धी बौद्धों की शंकाओं पर विचार किया जिनके मत में अवयवी की कोई सत्ता ही नहीं है, पट तन्तुओं का समुच्चय मात्र है। अब हम अवयवी संबंधी सांख्य की समस्याओं पर विचार करेंगे जिनके मत में अवयवी है, परन्तु उसकी अवयवों से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। पट की तन्तुओं से पृथक् सत्ता नहीं है, पट तन्तुओं की ही स्थूलावस्था है। पट तन्तुओं का ही रूपान्तर है, उससे भिन्न नहीं है। कार्य कारणात्मक है, दोनों का स्वरूप एक है। जो स्वरूप कारण का है वही स्वरूप कार्य का भी है, दोनों में तादात्म्य है।[1]

तत्वकौमुदीकार ने अवयव और अवयवी के तादात्म्य या अभेद स्थापन के लिए पाँच हेतु दिए हैं।[2]

(१) पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं का ही धर्म है उसी की विशेष अवस्था है। दृष्ट जगत् में जो जिससे भिन्न होता है वह उसका धर्म नहीं होता जैसे, गो, अश्व से भिन्न है, वह उसका धर्म नहीं है। पट तन्तुओं का धर्म है अतः, वह उससे भिन्न नहीं हो सकता।

(२) तन्तु और पट में उपादान-उपादेय भाव है इसलिए भी पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है। जो पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं उनमें उपादान-उपादेय भाव नहीं होता है। जैसे घट और पट भिन्न है अतः, दोनों में उपादान-उपादेय भाव नहीं है। तन्तु और पट में उपादान-उपादेय भाव है इसलिए दोनों में भेद नहीं है।

(३) तन्तु और पट में परस्पर संयोग नहीं है इसलिए दोनों अभिन्न है। जिसमें संयोग होता है वह पदार्थ परस्पर भिन्न होते हैं। जैसे; पात्र और बेर, दोनों में संयोग संबंध अतः, दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। परन्तु तन्तु और पट में ऐसा संयोग नहीं है। अतः, तन्तु और पट अभिन्न हैं।

(४) तन्तु और पट में विभाग नहीं होता इसलिए भी दोनों अभिन्न हैं। जिनका परस्पर विभाग होता है अर्थात् जब दो पदार्थ दो स्थान पर पाये जाते हैं तब दोनों पदार्थ में भेद मानना चाहिए। जैसे, हिमालय पर्वत और विन्ध्य दोनों को दो जगह प्राप्ति होती है अतः, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु तन्तु और पट की प्राप्ति दो जगह न होकर एक साथ ही होती है अतः तन्तु और पट अभिन्न हैं।

---

१. सांख्य कारिका ९

२. सांख्य तत्त्व कौमुदी का० ९

(५) तन्तु और पट का भार भिन्न-भिन्न नहीं है, दोनों का भार एक है अतः, तन्तु और पट अभिन्न हैं। जिनके भार में भेद होता है, वे पदार्थ परस्पर भिन्न होते हैं। जैसे, एक पल सोने से बने कुण्डल तथा दो पल सोने से बने कुण्डल के भार में भेद है, जो भार तन्तुओं का है वही पट का, अतः, दोनों अभिन्न हैं।

इस प्रकार, अभेद की सिद्धि करके सांख्य यह स्पष्ट करते हैं कि तन्तु ही आतान वितान रूप विशिष्ट अवयव सन्निवेश द्वारा भिन्न अवस्था को प्राप्त होने पर पट हो जाते हैं, उनसे भिन्न पट नाम की कोई वस्तु नहीं है।

न्याय-वैशेषिक ने भेदवाद के विषय में उठायी गयी सांख्य की इन सभी शंकाओं का बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से समाधान किया है। इस समाधान में न्याय-वैशेषिक अभेदवाद का खण्डन कर भेदवाद की स्थापना करते हैं। जिन हेतुओं से तत्वकौमुदीकार अवयव और अवयवी में अभेद सिद्ध करते हैं वार्तिककार उन्हीं हेतुओं से अवयव और अवयवी में भेद सिद्ध कर देते हैं।

१—तन्तु पट का ही धर्म है, ऐसा कहने से दोनों का अभेद नहीं, भेद ही सिद्ध होता है। अवयवी, अवयवों का ही धर्म है या पट तन्तु का ही धर्म है ऐसा कहने से यह स्पष्ट होता है कि पट धर्म है और तन्तु धर्मी, दोनों दो पदार्थ हैं। 'पटस्य अवयवाः' यह जो षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है वह भी पट और तन्तु के भेद को ही प्रगट करता है। पट और तन्तु दोनों एक होते तो इस प्रकार का प्रयोग सम्भव नहीं।[1]

२—अवयव और अवयवी, तन्तु और पट में परस्पर उदादान-उपादेय भाव है इसलिए दोनों में अभेद है ऐसा न कहकर यह कहना चाहिए कि दोनो में उपादान-उपादेय भाव होने से ही दोनों में भेद हैं। तन्तु और पट में एक उपादान है दूसरा उापदेय यह कहने का अर्थ ही होता है कि दोनों दो है, दोनों में भेद है। यदि उपादान-उपादेय भाव के कारण तन्तु और पट में अभेद मानते हैं तो तुरी, वेमा, तन्तुवाय आदि जो पट के कारण है उनको भी पट से अभिन्न मानना पड़ेगा।

३—पट को अवयवी रूप तन्तुओं से पृथक् नहीं मानेंगे तो उत्पत्ति का कोई अर्थ हो नहीं रह जाएगा। तन्तु से तन्तु की उत्पत्ति होती है ऐसा मानना पड़ेगा। सांख्य ने यह शंका उठाई कि जिसमें संयोग होता है, वे वस्तुएँ परस्पर भिन्न होती है जैसे, कुण्ड और बदर। तन्तु और पट में संयोग नहीं है इसलिए दोनों अभिन्न हैं। परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि संयोग सम्बन्ध होने पर दो वस्तुएँ परस्पर भिन्न हों और संयोग सम्बन्ध न होने पर दोनों वस्तुएँ परस्पर अभिन्न हों। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ संयोग होने पर भी अभेद और संयोग न होने पर भेद होता है। जैसे, सांख्य मत में सत्त्व, रजस् और तमस् में संयोग सम्बन्ध नहीं है फिर भी तीनों में भेद

१. न ह्यनर्थान्तराभावे अवयवोऽस्ति न च षष्ठी। (न्याय वार्तिक)

हैं। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष में संयोग सम्बन्ध न होने पर भी भेद है। ऐसे दो उदाहरण सांख्य मत में है जहाँ दो पदार्थों में संयोग न होने पर भी अभेद नहीं हैं। इसी प्रकार एक तीसरा उदाहरण कारण-कार्य का भी मान लेना चाहिए जहाँ संयोग नहीं है फिर भी दोनों भिन्न-भिन्न है।[1]

४—ऐसा भी कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि जिन दो वस्तुओं की दो स्थान पर प्राप्ति होती है, वे भिन्न-भिन्न है तथा जिन दो वस्तुओं की प्राप्ति साथ-साथ होती है वे दोनों वस्तुएँ अभिन्न हैं। साथ-साथ रहने वाली दो वस्तुओं में भेद का उदाहरण भी मिलता है। जैसे, सांख्य मत में प्रकृति और पुरुष सदा साथ-साथ रहते हैं फिर भी दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार, अवयव और अवयवी दोनों सदा साथ-साथ रहकर भी एक दूसरे से भिन्न हैं, ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

५——वाचस्पति मिश्र ने तन्तु और पट में अभेद स्थापित करने के लिए पाँचवा हेतु दिया है कि 'तन्तु और पट का भार एक है, जो भार तन्तु का है वही भार पट का इसलिए, दोनों अभिन्न हैं। वस्तुतः, न्याय वैशेषिक के समक्ष एक बहुत बड़ी समस्या है। कारण और कार्य भिन्न-भिन्न हैं तो दोनों का भार भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए। कार्य के भार के उत्पन्न होने पर भी कारण का भार नष्ट नहीं होता, वह कार्य के भार के साथ-साथ रहता है, तो कार्य का भार और कारण का भार मिलकर दुगुना हो जाना चाहिए।

'न्यायवार्तिक', 'न्याय सार', 'न्याय कन्दली' आदि न्याय-वैशेषिक से सभी प्रमुख ग्रन्थों में इस समस्या पर विचार किया गया है। वार्तिककार ने इसका समाधान किया है कि लोक में ऐसा प्रयोग कभी नहीं किया जाता कि कार्य का भार इतना है और कारण का भार उतना। दोनों के भार का अलग-अलग ग्रहण नहीं किया जाता। अतः, दोनों का भार मिलकर दुगुना हो जाने का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। जब कभी भी हम भार का कथन करते हैं वह सम्पूर्ण की दृष्टि से ही करते हैं। कार्य और कारण के भार को अलग-अलग नहीं मापा जा सकता। कार्य पट के भार के अन्तर्गत द्वयणुक, त्र्यणुक से लेकर तन्तु के अवयव, तन्तु आदि सभी पट में सम्मिलित रहते हैं। कार्य के भार को अलग से मापना असम्भव है।[2]

---

१. अर्थान्तरभावे च दर्शनाद्विरुद्धः—सत्वरजस्तमांसि भवतां पक्षे मिथोऽर्थान्तरभूतानि, तेषां न संयोगो नाप्राप्तिरिति—प्रधानपुरुषयोर्न संयोगो नाप्राप्तिरुभयोर्व्यापकत्वाद-विरुद्धः। (न्याय वार्तिक)

२. न, कार्यकारणगुरूत्वेयत्तानवधारणात्——यद्येतद्वधारितं स्यात् एतावत् कारणगुरूत्व-मेतावत् कार्यगुरूत्वमिति..........यदिदं भवता मन्यते द्विपलं पञ्चपलमिति नात्रकार्य-कारणगुरूत्वे अवधार्येते, किं त्वा चरमादाय च परिमाणोर्द्रव्यसमाहार उन्मीयते।
(न्याय वार्तिक)

कौमुदीकार की युक्ति है कि तन्तु और पट के भार में भेद न होने के कारण तथा तुला जिससे तन्तु और पट तौला जाता है उसमें अवनमन विशेष न होने के कारण तन्तु और पट में अभेद है। वार्तिककार ने इसका खण्डन किया है कि 'अवनमनविशेषाभावात्' इस हेतु में व्यधिकरण दोष है। अनुमान के हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है। परन्तु उपर्युक्त अनुमान में अवनमनविशेषाभाव हेतु पक्ष तुला में नहीं रहता। अवनमनविशेषाभाव तुला का धर्म नहीं है। अतः, अवनमनविशेषाभाव के आधार पर हम तन्तु और पट में अभेद नहीं स्थापित कर सकते।

श्रीधर ने इस समस्या का समाधान दूसरे ढंग से किया है। अवयव के भार और अवयवी के भार में भेद तो है परन्तु यह अन्तर इतना कम होता है कि इसका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। जैसे, किसी भारी द्रव्य को दूसरी बार तौलने पर उसके कुछ छड़ों के झड़ जाने के बाद भी उसके गुरुत्व में कोई अन्तर नहीं आता।[1]

अपरार्कदेव ने एक दूसरा उदाहरण देकर इसी बात को स्पष्ट किया है कि कारण और कार्य के भार में इतना अल्प अन्तर होता है कि वह गृहीत नहीं होता। जैसे, तुला के किसी एक पलड़े पर मक्षिका के बैठ जाने से भार में भेद नहीं आता, न ही पलड़े में अवनमन होता है।[2]

कौमुदीकार के अनुसार 'इस तन्तु में यह पट है' या 'इन तन्तुओं से यह पट निर्मित है' इस आधार पर तन्तु और पट में भेद नहीं स्थापित किया जा सकता 'इस वन में ये तिलक के वृक्ष है, यह प्रयोग जिस प्रकार औपचारिक है उसी प्रकार इस तन्तु में यह पट है यह प्रयोग भी औपचारिक है।[3] परन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'इह तन्तुषु पटः' इस प्रयोग को औपचारिक मानना उचित नहीं। यदि इसको औपचारिक मानते हैं तो 'यह तन्तु है' या 'यह पट है' इन प्रयोगों को भी औपचारिक मानना पड़ेगा। वस्तुतः, कारण-कार्य में तादात्म्य मानने वाले सांख्य के लिए यह प्रयोग औपचारिक हो, परन्तु कारण और कार्य में भेद स्वीकार करने वाले न्याय-वैशेषिक के लिए यह प्रयोग औपचारिक नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः, अवयव और अवयवी, कारण और कार्य का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है

---

१. यत् पुनरवयविगुरूत्वस्य कार्यातिरेको न गृह्यते, तदवयवावयविगुरूत्वभेदस्याल्पान्तरत्वात्। यथा महति द्रव्ये उन्मीयमाने तत्पतितसूक्ष्मद्रवायन्तरगुरूत्वकार्याग्रहणम्।
(न्या० कं०)

२. तुलादीयमानदण्डपिण्डविनिष्ट मक्षिकादेरिव सतोऽपि तदातिरेकस्या लक्षणोयत्वात्।
(न्याय सार व्या० भाग २)

३. एवञ्च, 'इह तन्तुषु पट' इति व्यपदेशो यथा 'इह वने तिलका' इत्युपपन्नः।
(तत्व कौ०)

अतः, दोनों में भेद मान लेना चाहिए। तन्तु से रस्सी आदि बनायी जाती है, जबकि पट से शरीर ढकने का काम लिया जाता है। परन्तु कौमुदीकार के अनुसार उपर्युक्त तर्क से कारण और कार्य में अभेद नहीं स्थापित किया जा सकता क्योंकि एक ही पदार्थ के अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे, एक ही अग्नि, जलाने, भोजन पकाने, और वस्तु को प्रकाशित करने का कार्य करती है।[1]

कौमुदीकार के उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर कारण और कार्य में अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता। हमारी दृष्टि से न्याय-वैशेषिक के अनुसार इस समस्या का समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है—अग्नि की दाह क्रिया एक ही है, भले ही उसका प्रयोग हम विभिन्न ढंग से करें। यहाँ एक पदार्थ का वस्तुतः एक ही कार्य है। परन्तु यहाँ तन्तु और पट दोनों का भिन्न प्रयोजन है, भिन्न-भिन्न कार्य है अतः, दोनों को भिन्न-भिन्न मान लेना चाहिए।

'प्रयोजन भेद होने पर भी अभेद होता है' इसको सिद्ध करने के लिए कौमुदीकार ने एक अन्य तर्क भी दिया है। उनके अनुसार जैसे कई ढोने वाले नौकर पृथक्-पृथक्, अपना-अपना मार्ग देखने भर का कार्य करते हैं, पालकी ढोने का नहीं परन्तु मिलकर वे सब पालकी ढोते हैं, उसी प्रकार तन्तु पृथक्-पृथक् शरीर ढकने का कार्य न करते हुए भी मिलकर पट उत्पन्न होने पर शरीर ढकने का कार्य करते हैं।[2] परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि तन्तुओं का संस्थान विशेष तन्तुओं से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो नवीन संस्थान का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। और यदि यह नवीन संस्थान तन्तुओं से भिन्न है तो उसे अवयवों से भिन्न अवयवी के रूप में क्यों नहीं सांख्य दार्शनिक स्वीकार कर लेते हैं ? न्याय-वैशेषिक मत में संस्थान-विशेष को भी अर्थान्तर मानते हैं जैसे, संयोग।[3]

तन्तु तथा पट दोनों के उत्पाद-विनाश के संबंध से होने वाली बुद्धि में भेद है अतः, तन्तु और पट में भेद है। ऐसा नहीं देखा जाता कि पट के नष्ट हो जाने पर तन्तु

---

१. न चार्थक्रियाभेदोऽपि भेदमापादयति, एकस्यापि नानार्थपायादर्शनात्। यथैक एव वह्निर्दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति। (तत्व कौमुदी)

२. यथाप्रत्येकं विष्टयो वर्त्मदर्शनलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति, न तु शिविकावहनम्, मिलितास्तु शिविकामुद्वहन्ति, एवं तन्तवः प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपि मिलिता आविर्भूतपटभावाः प्रावरिष्यन्ति। (तत्त्व कौमुदी)

३. यच्चेदमुच्यते संस्थानविशेषावस्थानमिति किं तदर्थान्तरभूतमाहो नेति ? यद्यर्थान्तरभूतम्, किं तदिति वक्तव्यम्। अथ नोच्यते ? शून्यं तर्हि इदं वाक्यं 'संस्थानविशेषावस्थान' मिति। अस्माकं तु संस्थानविशेषः संयोगः स चार्थान्तरम्।
(न्याय वार्तिक)

भी नष्ट हो जाते हैं। पट के नष्ट हो जाने पर तन्तु नहीं नष्ट होते। तन्तु और पट के उत्पत्ति-विनाश के कारण भी भिन्न-भिन्न हैं। पट तन्तुओं से उत्पन्न होता है तथा तन्तु-संयोग के नष्ट हो जाने पर पट नष्ट होता है। इसके विपरीत तन्तु अपने अवयव अंशुओं से उत्पन्न होता है तथा उन अंशुओं के नष्ट हो जाने से नष्ट हो जाता है। अतः, शश और कुश की तरह तन्तु और पट में भेद मानना चाहिए।[1]

नैयायिकों के अनुसार कारण और कार्य का भेद प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः, इसको सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है।[2]

१. (न्याय सार व्याख्या भाग २)

२. तदा स्पष्टैव हेत्वसिद्धिः, कार्यकारणयोर्वसनसूत्रयोरवयवरचनास्वरूपसंस्थानादिभेदेन भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। (न्याय सा व्या० भाग० २)

निष्कर्ष

अवयवी की अपने अवयवों से पृथक् सत्ता है या नहीं, अवयवी अपने अवयवों से भिन्न है या अभिन्न ? इस समस्या पर विचार करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी दार्शनिक अपनी-अपनी मूल मान्यता का समर्थन करते हैं ।

क्षणभंगवादी बौद्धों के अनुसार क्षणों की ही सत्ता है प्रत्येक वस्तु क्षणिक, एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध, विच्छिन्न, क्रमबद्ध घटना मात्र है । अतः, उनके यहाँ परस्पर सम्बद्ध स्थायीभूत अवयवी या ईकाई का कोई स्थान नहीं है । उनके अनुसार बुद्धि के अनुसार बुद्धि के विकल्प के द्वारा क्षण ही संघात रूप में दीखते हैं और ये संघात यथार्थ नहीं हैं ।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार सत् क्षणिक नहीं है, वे अवयवों से भिन्न अवयवी को एक सम्पूर्ण ईकाई के रूप में मानते हैं । यदि न्याय-वैशेषिक अवयवों से पृथक् अवयवी की एक सम्पूर्ण ईकाई भूत सत्ता नहीं स्वीकार करते तो अतीन्द्रिय परमाणुओं से सृष्ट जगत् अतीन्द्रिय हो जाता । अवयव द्वयणुक के प्रत्यक्ष न होने पर भी उससे उद्भूत त्र्यणुक का प्रत्यक्ष सम्भव है क्योंकि अवयवी की अवयव से पृथक् सत्ता है । द्वयणुक के महत् परिमाण तथा उद्भूत रूप वाला नहीं है परन्तु त्र्यणुक महत् परिमाण वाला तथा उद्भूत रूप वाला है अतः, उसका प्रत्यक्ष सम्भव हैं । बौद्धों का स्वलक्षण अतीन्द्रिय नहीं है अतः, उनको अवयवी मानने की आवश्यकता नहीं है । क्षणिक स्वलक्षणों से अवयवी की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है किन्तु नित्य परमाणुओं से अवयवी की उत्पत्ति सम्भव है ।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि अवयवी की सत्ता को स्वीकार न करने वाले बौद्धों ने अवयवी के विषय में शंका क्यों की है ? वस्तुतः, यह शंका इसलिए उठती है कि बौद्ध दर्शन में भी सामान्य लक्षण वाले पदार्थ स्वीकार किये जाते हैं । उनके अनुसार सामान्य लक्षण वाले पदार्थों का केवल अनुमान ही किया जा सकता है, प्रत्यक्ष नहीं । यह समस्या न्याय-वैशेषिक और बौद्धों के सैद्धान्तिक भेद के कारण है । बौद्धों के अनुसार सामान्य मानसिक जगत् की वस्तु है, भौतिक जगत् की नहीं । हमारा प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही हो सकता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जितना कुछ वाह्य हैं, वह सविकल्पक है अर्थात् कल्पना पर आधारित है उनकी वाह्य सत्ता नहीं है, उनका अनुमान मात्र ही किया जा सकता है । सामान्य या अवयवी सविकल्पक है, अतः, उनका अनुमान ही हो सकता है । स्वलक्षण पदार्थ ही निर्विकल्पक हैं अतः, उनका ही प्रत्यक्ष हो सकता है । इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक के अनुसार सभी वाह्य वस्तुएँ यथार्थ हैं अतः, उनका ही प्रत्यक्ष हो सकता है ।

न्याय-वैशेषिक अवयवी को एक सम्पूर्ण ईकाई न मानकर उसको अवयवों का समुच्चय मात्र मानते तो उनके द्वारा अभिमत जाति की सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। न्याय-वैशेषिक जाति की नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं तथा उसका प्रत्यक्ष भी मानते हैं। इस प्रकार, हमने न्याय के साथ हुए बौद्धों के विवाद पर विचार किया है जो अवयवी की सत्ता ही नहीं मानता।

सांख्य अवयवी की सत्ता स्वीकार करते हैं, परन्तु उसकी अवयवों से पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार करते। उसके अनुसार कार्य कारणात्मक है, कार्य कारण के ही स्वरूप का है उससे भिन्न नहीं है, इस प्रकार, सांख्य अभेदवादी दृष्टि से अवयव और अवयवी की समस्या पर विचार करते हैं। इसके विपरीत नैयायिक भेदवादी दृष्टि अवयव और अवयवी की समस्या पर विचार करते हैं। उनके अनुसार तन्तुओं से निर्मित पट की तन्तुओं से पृथक् सत्ता है तथा पट तन्तुओं से सर्वथा भिन्न है। निःसन्देह, न्याय-वैशेषिक सांख्य द्वारा उठायी गयी भेदवाद सम्बन्धी सभी शंकाओं का समाधान करते हैं, एवं जिन हेतुओं से सांख्य अभेदवाद की स्थापना करते हैं उन्हीं हेतुओं से नैयायिक भेदवाद की स्थापना कर देते हैं। वस्तुतः भेद प्रमुख है या अभेद यह प्रत्येक दर्शन के सत् के स्वरूप पर निर्भर करता है।

नैयायिकों ने अभेदवाद के खण्डन के लिए तर्क दिया है कि तन्तु और पट में अव्यक्तावस्था एवं व्यक्तावस्था के भेद को भी भेद ही मान लेना चाहिए। यदि सांख्य इस भेद को नहीं स्वीकार करते तो व्यक्त कार्य जगत् के आधार पर अव्यक्त कारण प्रकृति की सत्ता नहीं सिद्ध कर सकता। कारण और कार्य में अभेद मानते हैं तो प्रकृति और उससे सृष्ट जगत् में अभेद मानना पड़ेगा। इस अवस्था में सम्पूर्ण जगत् को प्रकृति की तरह अतीन्द्रिय मानना पड़ेगा या प्रकृति को जगत् की तरह स्थूल औद दृष्टिगोचर मानना पड़ेगा। भेदवाद और अभेदवाद के विवाद के सन्दर्भ में न्याय-वैशेषिक के समक्ष एक सबसे बड़ी समस्या यह थी कि उनके अनुसार कारण और कार्य भिन्न-भिन्न हैं तो दोनों का भार भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए। उद्योतकर तथा श्रीधर दोनों ने इस समस्या का समाधान किया है। श्रीधर ने यह तर्क दिया है कि वस्तुतः कारण और कार्य के भार में भेद होता है परन्तु वह अत्यन्त अल्प होने के कारण दृष्टिगत नहीं होता। जैसे, किसी भारी द्रव्य को दूसरी बार तौलने पर उसके कुछ छड़ों के झड़ जाने पर भी उसके गुरुत्व में कोई अन्तर नहीं आता। श्रीधर की यह कल्पना सर्वथा विचित्र प्रतीत होती है। इस प्रकार के अत्यन्त अल्प भेद का तुला के द्वारा न ग्रहण हो परन्तु अन्य मशीन आदि से उसका भेद ज्ञात किया जा सकता है।

हमारी दृष्टि में न्याय-वैशेषिक की इस समस्या का समाधान दूसरे ढंग से किया जा सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि दो वस्तुओं का भार एक हो तो दोनों वस्तुओं का स्वरूप एक हो या दोनों में अभेद हो जैसा कि सांख्य मानते हैं। दो भिन्न-

भिन्न स्वरूप वाली वस्तुओं का भार भी एक हो सकता है। दो घट का भार एक हैं तो हम दोनों को अभिन्न नहीं कह सकते।

पूर्वपक्षी की यह भी शंका है कि तन्तु का अपना भार है और पट का अपना भार है तो साथ-साथ रहने पर दोनों का भार दूना हो जाना चाहिए। परन्तु हमारी दृष्टि में न्याय-वैशेषिक मत में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। न्याय-वैशेषिक मत में दो वस्तुओं के युतसिद्ध होने पर तथा दोनों में संयोग सम्बन्ध होने पर दोनों भार दुगना हो जाता हैं। परन्तु अयुतसिद्ध वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध होने से भार के द्विगुणत्व का प्रश्न नहीं उठता।

निष्कर्षतः हम यही कह सकते हैं कि न्याय-वैशेषिक के भेदवाद के निर्वाह के लिए अबयवी को अवयवों से पृथक् एक सम्पूर्ण ईकाई के रूप में स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यदि न्याय-वैशेषिक अवयवी की मान्यता को छोड़ दें तो उसे अपनी अनेक मान्यताओं को अस्वीकार करना पड़ेगा। जैसे, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष को भी अस्वीकार करना पड़ेगा। पूर्वपक्षी जिन तर्कों से अवयवी का खण्डन करते हैं उन्हीं तर्कों से द्रव्य, गुणादि का भी खण्डन कर सकते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार द्रव्य की गुण से, क्रिया की क्रियावान से, जाति की सामान्य से और नित्य की विशेष द्रव्य से पृथक् सत्ता है। न्याय-वैशेषिक जिन तर्कों से अवयवी की अवयवों से पृथक् सत्ता सिद्ध करते हैं उन्हीं तर्कों से सामान्य विशेषादि का पृथक् अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

न्याय-वैशेषिक अवयवी कार्य की नवीन सत्ता मानते हैं उनकी यह भेदवादी दृष्टि कारणवाद में आरम्भवाद का रूप धारण करती है।

षष्ठ अध्याय

अन्य भारतीय दर्शन में कारणवाद

आरम्भवाद

कारण, अन्यथासिद्ध, कार्य, करण समवाय आदि की परिभाषा से तथा कारण के भेद की व्याख्या से न्याय के कारणवाद का स्वरूप प्रायः स्पष्ट हो जाता है तथापि यहां विस्तार से आरम्भवाद पर विचार किया जाएगा।

न्याय के कारणवाद के सिद्धान्त को आरम्भवाद कहते हैं क्योंकि न्याय के अनुसार कारण में कार्य पहले से नहीं रहता है कारक व्यापार के द्वारा कार्य की नवीन उत्पत्ति होती है, उसका नया आरम्भ होता है। न्याय के कारणवाद के सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहते है इसका यह अर्थ नहीं कि न्याय कार्य को असत् मानता है या असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है। असत्कार्यवाद का अर्थ है जो पहले असत् था या जिसका प्रागभाव था उसकी उत्पत्ति हुई। जैसे, मृत्तिका में घट पहले से नहीं रहता है। कुम्भकार दण्ड, चक्रादि की सहायता से घट की नवीन उत्पत्ति करता है।

न्याय के अनुसार कारण में समवेत होकर कार्य की उत्पत्ति होती है जैसे, तन्तु में समवेत होकर पट की उत्पत्ति होती है। परन्तु तन्तु पट को उत्पन्न करके नष्ट नहीं हो जाता जैसा कि बौद्ध दार्शनिक मानते हैं। पट को उत्पन्न करने के बाद भी तन्तु पट के साथ-साथ रहता है। बौद्ध के क्षणभंगवाद के अनुसार कारण और कार्य एक साथ नहीं रह सकते। कारण को कार्य काल में रहना सर्वथा असंभव है क्योंकि प्रथम क्षण में उपस्थित कारण दूसरे क्षण में नहीं रह सकता, दूसरे क्षण में उसका विनाश हो जाता है। इसके विपरीत नैयायिक काल को स्थायी नित्य मानते हैं। अतः, न्याय-सिद्धान्त के अनुसार कारण और कार्य एक साथ रह सकते हैं। न्याय-वैशेषिक ने निमित्त कारण पर अधिक बल दिया है। घट की उत्पत्ति में कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि सभी निमित्त कारण है। दिक्, काल आदि आठ साधारण कारणों का अन्तर्भाव भी निमित्त कारण के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार, सजीव और निर्जीव, नित्य और विभु सभी निमित्त कारण के अन्तर्गत आ जाते हैं। इससे यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाती है कि न्याय-वैशेषिक कार्य की नवीन उत्पत्ति पर बल देते हैं।

न्याय के अनुसार कारण से उद्भूत यह नवीन कार्य सत् होता है। इस प्रकार, कारण और कार्य दोनों सत् है तथा दोनों में अयुतसिद्ध संबंध है। यद्यपि तन्तु पट से

भिन्न अपने अंशुओं में रहता है तथा पट तन्तु में रहता है, दोनों का आश्रय पृथक्-पृथक् है फिर भी एक दूसरे को छोड़कर वे न कहीं आश्रित हैं और न उनका कोई आश्रय है। पट सदैव तन्तु के ही आश्रय से रहता हैं अतः, ये इस दृष्टि से अयुतसिद्ध हैं।

एक तरफ न्याय-वैशेषिक कारण और कार्य में भेद मानते हैं तथा दूसरी ओर दोनों को अयुतसिद्ध मानते हैं। इन दो विरोधी बातों को एक साथ संभव करने के लिए वे कारण और कार्य के बीच समवाय संबंध मानते हैं। न्याय-वैशेषिक द्वारा अभिमत यह समवाय संबंध अयुतसिद्धत्व और भेदवाद दोनों को एक साथ संभव कर देता है।

न्याय-वैशेषिक तन्तुओं से निर्मित पट को तन्तुओं का समुच्चय मात्र नही मानते जैसा कि बौद्ध दार्शनिक मानते हैं। उनके अनुसार तन्तुओं से निर्मित्त पट तन्तुओं से सर्वथा भिन्न एक सम्पूर्ण ईकाई है अर्थात् वे अवयवों से पृथक् अवयवी की सत्ता स्वीकार करते हैं।

न्याय-वैशेषिक अवयवों से अवयवी की उत्पत्ति मानते हैं इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि सभी अवयव अवयवी को उत्पन्न कर सकते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए ही न्याय-वैशेषिक ने आरम्भक तथा अनारम्भक दो प्रकार के अवयव स्वीकार किए हैं। 'जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है उसे आरम्भक कहते हैं'। जैसे, तन्तु पट की उत्पत्ति करते हैं अतः, इनको हम आरम्भक अवयव कहते हैं। इसके विपरीत कार्य की उत्पत्ति न करने वाले अवयवों को अनारम्भक अवयव करते हैं। जैसे, घट के टुकड़ों में विभक्त हो जाने पर वे टुकड़े भी अवयव हैं किन्तु उनसे कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

न्याय-वैशेषिक मत में अवयवों के संयोग से अवयवी कार्य की उत्पत्ति होती है। यह संयोग, कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण बनता है। जैसे, तन्तुओं के संयोग से पट की उत्पत्ति होती है, कपाल द्वय संयोग से घट की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं कि उन अवयवों के संयोग से सदैव ही कार्य की उत्पत्ति हो। जैसे, तन्तुओं को हम एक साथ लपेट देते हैं तब उस अवस्था में नवीन कार्य की उत्पत्ति नहीं होती अपितु, तन्तुओं का समुदाय मात्र ही होती है। कर्त्ता के द्वारा अन्य साधनों की सहायता से कारक-व्यापार होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। तन्तुवाय, तुरी, वेमादि की सहायता से जब ताना-बाना बुनता है तभी पट की उत्पत्ति होती है।

नैयायिक अन्त्यावयवी की भी कल्पना करते हैं। उनके अनुसार जैसे परमाणु अन्त्यावयव हैं उसी प्रकार कुछ अन्त्यावयवी कार्य भी हैं जिनसे पुनः किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् वे किसी के अवयव नहीं हो सकते। जैसे, परमाणु से लेकर द्वयणुक, त्रयणुक आदि क्रम से कपाल और कपाल से घट तक द्रव्य उत्पन्न होते जाते हैं परन्तु घट को अन्त्यावयवी कहते हैं, ये किसी भी अगले द्रव्य के अवयव नहीं

होते ।[1] उसी प्रकार तन्तु के रेशों से तन्तु उत्पन्न होता है पुनः, तन्तु से पट उत्पन्न होता है यह तन्तु अपने रेशों का अवयवी तथा पट का अवयव है। परन्तु पट से किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, पट अन्त्यावयवी है।

कुछ आधुनिक आलोचकों के अनुसार उपर्युक्त अन्त्यावयवी की कल्पना से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कौन से कार्य को अन्त्यावयवी कहा जाय और कौन से कार्य को नहीं। नैयायिक घट को अन्त्यावयवी कहते हैं परन्तु कई घटों के मिलने से घटनौका का निर्माण होता है वह भी तो एक कार्य हो है क्योंकि घट से नदी नहीं पार की जा सकती परन्तु घट नौका से पार की जा सकती है। घट और घट नौका का कार्य भी पृथक्-पृथक् है। यहाँ घट घटनौका का अवयव है।[2] वस्तुतः, न्याय वैशेषिक के विषय में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनके अनुसार कारण में समवेत होकर कार्य की उत्पत्ति होती है तथा कारण और कार्य में समवाय सम्बन्ध हैं, कारण में संयुक्त होकर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अवयवो का संयोग कार्य का असमवायिकारण अवश्य बनता है परन्तु उसे भी कार्य के समवायिकारण में रहना आवश्यक है। घट नौका और घट में मात्र संयोग सम्बन्ध है, समवाय सम्बन्ध नहीं है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार समवाय सम्बन्ध से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, संयोग सम्बन्ध से नहीं।

---

१. तत्र परमाणुद्वयसंयोगात् द्वयणुकमुत्पद्यते, संयुक्तद्वयणुकत्रयात्रसरेणुः। एवं चतुरणुकादि कपालान्तं कपालद्वयसंयोगेन घटो जायते; घटस्त्वन्त्यावयवी।
(तर्कामृत)

२. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री : न्याय सिद्धान्त मुक्तावली अनु०

सत्कार्यवाद

सांख्य ने सत्कार्यवाद को स्वीकार किया है। उसके अनुसार कार्य अपने कारण में पहले से ही अव्यक्तरूप में विद्यमान रहता है; कारण व्यापार के पश्चात् उसका अव्यक्त रूप व्यक्त हो जाता है। जो अनभिव्यक्ति है वह अभिव्यक्त हो जाता है, कार्य की नवीन उत्पत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार कार्य की नवीन उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार कार्य का विनाश भी नहीं होता है। व्यक्त कार्य का पुनः अव्यक्त रूप में तिरोहित हो जाना ही यहाँ विनाश हैं। जैसे, मृत्तिका से घट आविर्भूत होता है तो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह उत्पन्न होता है तथा घट टूटकर अपने अवयवों में तिरोभूत हो जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह नष्ट होता है।

सांख्य ने उपनिषद् तथा गीता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि असत् की कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे, शशश्रृंग की कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार, सत् का कभी भी नाश नहीं हो सकता जैसे, आकाश सत् है उसका कभी भी नाश नहीं होता।[1]

सांख्य कार्य की नवीन उत्पत्ति नहीं मानता। कुम्भकार के प्रयत्नों के बाद मृत्तिका में अव्यक्त रूप से स्थित घट उद्भूत हो जाता हैं। वस्तुतः, कारण और कार्य दो भिन्न अवस्थायें हैं, एक अविकसित अवस्था है और दूसरी विकसित। इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। यह भेद केवल व्यावहारिक दृष्टि से है क्योंकि इनसे भिन्न-भिन्न प्रयोजन सिद्ध होता है। मौलिक दृष्टि से कारण और कार्य में तादात्म्य है। तत्वतः दोनों में अभेद है, दोनों का स्वरूप एक है। जैसे, कछुआ कभी अपने अंगों को सिकोड़ लेता है तो उसके अंग शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं दिखाई नहीं देते तथा जब वह अपने शरीर को फैलाता है तब वह अंग बाहर निकल आते हैं। परन्तु कछुआ अपने सिकोड़ने और फैलने वाले अंगों से कोई भिन्न वस्तु नहीं है उसी प्रकार मिट्टी और सोने से उत्पन्न घट, मुकुटादि मिट्टी और सोने से भिन्न नहीं हैं।[2] अवस्था या प्रयोजन भेद से भेद मानना उचित नहीं है। यदि अवस्था भेद से भेद माना जाय तो बाल्यावस्था, किशोरावस्था या वृद्धावस्था, इस अवस्थाभेद से व्यक्ति में भी भेद मानना पड़ेगा।

अब प्रश्न उठता हैं कि कारण में अव्यक्त रूप से स्थित कार्य व्यक्त रूप में कैसे परिणत हो जाता है? व्यास ने योग-भाष्य में इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। उनके

---

१. (क) नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः। (गीता २।१)
 (ख) न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः। (तत्त्व कौमुदी)

२. यथा कूर्मः स्वावयवेभ्यः संकोचविकासिभ्यो न भिन्नः, एवं घटमुकुटादयोऽपि मृत्सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः। (तत्त्व कौमुदी)

अनुसार कुछ बाधक तत्व ऐसे हैं जो कारण में अव्यक्त रूप से स्थित कार्य को व्यक्त रूप में नहीं आने देते। कारण–सामग्री जब बाधक तत्वों को दूर कर देती है तब कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे, किसी खेत में ऊपर तक पानी भर जाने पर क्षेत्रपति उस पानी को अन्य खेतों तक पहुँचाने के लिए एक बाँध खोल देता है।[२] जिस प्रकार पानी को अन्य खेतों तक जाने के लिए केवल बाधक तत्वों को दूर करने को आवश्यकता होती है उसी प्रकार मृत्तिका में स्थित अव्यक्त घट को उद्भूत रूप में लाने के लिए बाधक तत्वों को दूर करने की आवश्यकता होती है। कारण–व्यापार ही बाधक तत्वों को दूर करता है। जैसे, घट की उत्पत्ति में कुम्भकार मिट्टी को सानता है, उसको चाक पर रखकर दण्ड से चाक चलाता है; इस प्रकार वह उसके बाधक तत्व को दूर करता है। तिल से तेल निकालने के लिए उसको पेरना पड़ता है। पेरने से उसका बाधक तत्व दूर हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति को धान से चावल प्राप्त करना हैं तो कूटने से उसका बाधक तत्व दूर होता है। स्वभाव से यह नियत है कि बाधक तत्व हटाकर हम सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं कर सकते।[१] परन्तु योगियों में यह शक्ति है, अपनी शक्ति के द्वारा वे इन बाधक तत्वों को दूर कर देते हैं। सांख्य दर्शन में सभी कार्य प्रकृतिरूप हैं, बाधा दूर करने पर किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। विज्ञान भिक्षु का यह मत है कि यदि पत्थर के अन्दर कणों की वह व्यवस्था जो उसके भीतर गुप्तशक्तिमत्ता को विकसित होकर अंकुर के रूप में फूटने से रोकता है, ईश्वर की इच्छा से दूर हो जाए तो पत्थर से भी एक पौधा आ सकता है।[२] इस दृष्टि से प्रकृति को साम्यावस्था से विषमावस्था में लाने के लिए पुरुष का सान्निध्य बाधक तत्व को दूर करने का कार्य करता है।

कार्य की अभिव्यक्ति के लिए बाधक तत्वों को दूर करने के अतिरिक्त कुछ अन्य सहायक कारणों की भी आवश्यकता होती है। जैसे, देश, काल और आकार। उक्त देशकालादि की प्राप्ति होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है और उक्त देशकालादि की प्राप्ति न होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे, केसर की खेती सभी देशों में नहीं होती। उसकी उत्पत्ति के लिए कश्मीर की भूमि की आवश्यकता होती है। आम को उत्पत्ति शीतकाल में नहीं हो सकती। मृगी अपने आकार वाले मृगसावक को ही पैदा करती है। फलतः, सांख्य देश, काल और आकार तीनों को कारण मानता है।

सांख्य ने कारण के दो भेद किए हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। उपादान कारण आविर्भूत होकर कार्य का रूप धारण कर लेता है परन्तु निमित्त कारण बाहर रहते हुए अपना प्रभाव डालता है। कार्य के उत्पन्न होते ही निमित्त कारण कार्य

२ योग भाष्य ४।३

१. योग भाष्य ३।१४

२. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन भाग २

से अलग हो जाता है। जैसे, पट की उत्पत्ति में तन्तु उपादान कारण है और तुरी, वेमादि निमित्त कारण। तन्तु पट रूप में परिणत हो जाता है परन्तु तुरी, वेमादि पट के उत्पन्न होते ही पृथक् हो जाते हैं।

सांख्य ने परिणाम की दृष्टि से कार्य के भी तीन भेद किए हैं—अवस्थापरिणाम, धर्मपरिणाम और लक्षण परिकाम, जिसका विवेचन 'कार्य की परिभाषा' के परिच्छेद में में किया जा चुका है।

न्याय और सांख्य

न्याय के असत्कार्यवाद के खण्डन करने से ही सांख्य के सत्कार्यवाद का स्वरूप स्पष्ट होता है। सांख्य और न्याय दोनों ही दर्शन कार्य को दृष्टि में रखकर अपने कारण-वाद पर विचार करते हैं। दोनों ही दर्शनों में कार्य सत् है, अन्तर केवल इतना है कि सांख्य में कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी सत् है तथा बाद में भी, न्याय में कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् है, उत्पत्ति के बाद सत् है। ईश्वरकृष्ण ने पांच हेतु देकर व्यतिरेकानुमान से असत्कार्यवाद का खण्डन किया है।[१]

(१) कारण में जो असत् है अर्थात् कारण में जो पहले से नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार हजारों शिल्पी मिलकर भी नीला रंग को पीला नहीं कर सकते उसी प्रकार असत् को हम सत् नहीं कर सकते।[२] कारण में कार्य पहले से नहीं था इसका अर्थ होता है कि कारण सत् आधार में असत् आधेय कार्य था। परन्तु सत् में असत् किस संबंध से रहता है? अभाव और भाव में किसी प्रकार का संबंध नहीं हो सकता अतः, सांख्य के अनुसार असत्कार्यवाद नहीं मानना चाहिए।[३] आधार और आधेय संबंध की व्याख्या के लिए कार्य को कारण व्यापार के पूर्व भी सत् मान लेना चाहिए।

सत् की अभिव्यक्ति अनुभवसिद्ध है तथा उसके अनेक दृष्टान्त भी मिलते हैं। परन्तु असत् की उत्पत्ति न अनुभव सिद्ध है न इसका कोई दृष्टान्त मिलता है। तिल के पेरे जाने पर उसमें अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान तेल अभिव्यक्त हो जाता हैं, परन्तु बालू जिसमें तेल नहीं है उससे तेल की उत्पत्ति नहीं होती।[४]

---

१. सांख्य कारिका ९

२. असत् चेत् कारणव्यापारात् पूर्व कार्यम्, नास्य सत्वं कर्त्तु केनापि शक्यम्। न हि नीलं शिल्पिसहस्त्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। (तत्त्व० कौमुदी)

३. 'सदसत्वे घटस्य धर्मो' इति चेत, तथापि असति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्वं तदवस्थमेव, तथा च नासत्वम्। (तत्त्व० कौमुदी)

४. तत्त्व कौमुदी

(२) कार्य की उत्पत्ति कारण से सम्बद्ध होकर ही होती है। सत् कारण का सत् कार्य के साथ ही सम्बन्ध हो जाता है। असत् कार्य का सत् कारण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता एवं असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किसी कार्य विशेष को उत्पन्न करने के लिए हम तद्विषयक कारण विशेष का ही उपादान करते हैं। जैसे, दही की आवश्यकता होती है तो हम दूध का ही उपादान करते हैं, पानी का नहीं। तेल को आवश्यकता होती है तो हम तिल का ही उपादान करते हैं, बालू का नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में रहता है तथा सम्बद्ध कार्य की ही उत्पत्ति होती है।[1]

(३) यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को कारण में सत् नहीं मानते हैं तो कारण और कार्य को असम्बद्ध मानना पड़ेगा। इस अवस्था में 'अमुक कारण से अमुक कार्य की उत्पत्ति हाती है' ऐसी व्यवस्था लोक में नहीं रह जायगी। किसी भी कारण से किसी भी कार्य को उत्पत्ति हो जायेगी। मिट्टी से कपड़ा, जल से घड़ा और ईख से नमक पैदा होने लगेंगे।[2]

(४) नैयायिक असम्बद्ध होने पर भी कारण कार्य की व्यवस्था मानते हैं। जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, उसी कारण से उस कार्य की उत्पत्ति होती है। सांख्य ने नैयायिकों के इस मत की आलोचना की है। वाचस्पतिमिश्र का कथन है कि नैयायिकों की शक्ति की कल्पना भी कारण-कार्य सम्बन्ध को बतलाती है। शक्ति कार्य विशेष को उत्पन्न करती है, इसका अर्थ होता है कि वह शक्ति कारण से सम्बद्ध है। शक्ति यदि कारण से असम्बद्ध है, कार्य सामान्य को उत्पन्न करती है तो अव्यवस्था वैसे ही बनी रह जाएगी। यह निश्चित है कि कारण से सम्बद्ध होकर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः, कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी सत् है, ऐसा मान लेना चाहिएं, क्योंकि सत् कार्य का ही सत् कारण के साथ सम्बन्ध हो सकता।[3]

(५) सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए ईश्वरकृष्ण पांचवा हेतु यह देते हैं कि कार्य कारणात्मक होता है, कार्य कारण के स्वरूप का होता है। कारण सत् है अतः, कार्य अवश्य सत् होगा।

वाचस्पतिमिश्र ईश्वरकृष्ण की ही भांति पांच व्यतिरेकानुमान के हेतु देकर कारण

---

१. उपादानानि कारणानि; तेषां ग्रहणं कार्येण सम्बन्धः। कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवति, तस्मादिति। (तत्त्व कौमुदी)

२. असत्वे नास्ति सम्बन्धः कारणै सत्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति (तत्त्व० कौमुदी)

३. शक्तिविशेषः कार्यसबम्बद्धो वा सम्बद्धो वा ? सम्बद्धत्वे नासता सम्बन्धः इति सत् कार्यम्। (तत्त्व कौमुदी)

और कार्य के स्वरूप की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हैं। इसका विवेचन अवयव और अवयवी के प्रसंग में किया जा चुका है।

ईश्वर कृष्ण के उपर्युक्त पांच हेतुओं से सत्कार्यवाद का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि कार्य की नवीन उत्पत्ति नहीं होती है। तन्तु ही कारण व्यापार के पश्चात् अपने आतान-वितान से पट रूप धारण कर लेता है। तन्तु और पट अभिन्न है अर्थात् दोनों में तादात्म्य है।

सत्कार्यवाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सांख्य ने न्याय के असत्कार्यवाद का खण्डन किया है। परन्तु जिन हेतुओं से सांख्य असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं उन्हीं हेतुओं से नैयायिक सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन कर देते हैं। अब हम उन सभी हेतुओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे जो नैयायिक सत्कार्यवाद के खण्डन और असत्कार्यवाद के विरुद्ध उठी शंकाओं के समाधान के लिए देते हैं।

(१) सांख्य ने न्याय के असत्कार्यवाद की तुलना शशशृंग से की है। जैसे, शशशृङ्ग से किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। लेकिन न्याय के लिए ऐसी आपत्ति नहीं करनी चाहिए। न्याय ने ऐसा कभी नहीं कहा हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। न्याय ने मात्र इतना ही कहा है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् है। शशशृंग या आकाश कुसुम की तरह कारण में कार्य का आत्यन्तिक अभाव नहीं है, कार्य का प्रागभाव मात्र है। सांख्य ने नैयायिकों के खण्डन के लिए जो असत् की कल्पना की है वह उनकी अभाव की कल्पना है। आत्यन्तिक अभाव रूप असत् का खण्डन नैयायिकों ने भी किया है।[1] अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे, नष्ट हुए अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। शशशृंग की तथा कार्य के प्रागभाव की तुलना इसलिए भी नहीं की जा सकती है कि कार्य को उत्पन्न करने के लिए दण्ड, चक्रादि निमित्त कारणों का प्रयोग देखा जाता है। परन्तु शशशृंग के लिए इन सहकारि-कारणों का प्रयोग नहीं देखा जाता।[2] अतः असत्कार्यवाद को इस प्रकार स्पष्ट करना चाहिए जो असत् है वह उत्पन्न होता है न कि जो उत्पन्न होता है वह असत् है।[3]

श्रीधर के अनुसार आकाश कुसुम और कार्य के कारण में असत्व का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। आकाश कुसुम का असत्व ही स्वभाव है, परन्तु घटादि वस्तुओं का सत्व

---

१. न्याय सूत्र ४।१।१७

२. स्वरूपसहकार्यादिहेतवो यद्विधायिनः।
दृश्यन्ते जन्यते तद्धि न व्योमकुसुमादिकम्॥ (न्याय मंजरी भाग २)

३. यदसत्तत्क्रियते इति नेयं वचनव्यक्तिरपितु यत्क्रियते तदसदिति।
(न्याय मं० न्या० भाग २)

और असत्व दोनों स्वभाव है। घट मृत्तिका में उत्पत्ति के पूर्व असत् है, परन्तु उत्पत्ति के बाद सत् है।[1] काल भेद से सत्व और असत्व दोनों एक ही आश्रय में रहते हैं। अतः, इनमें कोई विरोध भी नहीं है। पट अपनी उत्पत्ति के पूर्व नहीं रहता अतः, यहाँ यह शंका उठ सकती है कि इस पटाभाव में असत्व धर्म कैसे रह सकता है। श्रीधर ने इसका समाधान किया है कि उत्पत्ति के पूर्व पट भी असत् है और उसका धर्म भी असत् है, असत् धर्मी में असत् धर्म रहता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[2] यहाँ एक दूसरी शंका सांख्य यह भी करते हैं कि असत् घट सत् कैसे हो जाता है ? इसके समाधान में श्रीधर ने कहा है कि इन विरोधी बातों को संभव करने का सामर्थ्य सहकारि-कारणों में है। तुरी, वेमादि में सामर्थ्य है अतः, वे पट की उत्पत्ति कर देते हैं।

असत्कार्यवाद के खण्डन के लिए सांख्य दूसरा तर्क देते हैं, 'उपादानग्रहणात्'। यह तर्क उचित भी हैं, सर्वत्र सबका उपादान नहीं किया जा सकता। तेल की आवश्यकता होती है तो हम तिल का ही उपादान करते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व सत् रहता है तभी उपादान–उपादेय भाव सभव है। असत्कार्यवादी नैयायिक भी उपादान–उपादेय भाव मानते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार भी तेल की प्राप्ति के लिए तिल को ही ग्रहण करते हैं, बालू को नहीं। उपादान–उपादेय भाव को सिद्ध करने के लिए सांख्य प्रत्यक्ष न होने पर भी उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की उपस्थिति मानते हैं क्योंकि इसके उसके अभेदभाव का निर्वाह होता है। परन्तु न्याय की दृष्टि व्यावहारिक है वह अनुभवगम्य बातों पर अधिक बल देता है। जयन्तभट्ट के अनुसार कारण में कार्य की अव्यक्त रूप से उपस्थिति का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः, उसके आधार पर हम उपादान–उपादेय भाव नहीं बना सकते। वस्तुतः, यह उपादान–उपादेय भाव हमारे अनुभव, व्यवहार, वस्तु के स्वभाव तथा अन्वय–व्यतिरेकित्व संबंध पर निर्भर करता है। हम देखते हैं कि हमसे बड़े लोग तेल की प्राप्ति के लिए तिल का ही ग्रहण करते है बालू का नहीं। अतः, हम भी व्यवहार में उन्हीं का अनुकरण करते हैं। बार-बार देखते हैं कि तन्तु से पट उत्पन्न होता है, तन्तु के अभाव में पट नहीं उत्पन्न होता अतः, कारण और कार्य का एक नियत अन्वय व्यतिरेकित्व संबंध हमारे मस्तिष्क में स्थापित हो जाता है। यही कारण है कि कार्य

---

१. असदशक्यकरणं व्योमकुसुमवदिति, तत्र स्वभावभेदाद् असदेकस्वभावं गगनकुसुमम्, सदसत्स्वभावं तु घटादिकम् ? तत्पूर्वमसत् पश्चात्सद्भवति।

(न्याय कंदली)

२. यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः, सत्वमसतो धर्मो न स्यादसत्वं त्वसत एव युक्तम्।

(न्याय कन्दली)

विशेष के लिए हम कारण विशेष का ही उपादान करते हैं। अतः, उपादान–उपादेय भाव के लिए कार्य का सत् होना आवश्यक नहीं है।[1]

श्रीधर ने भी उपादान–उपादेय भाव की व्यवस्था अन्वय–व्यतिरेक के आधार पर ही की है। पटादि वस्तुओं के उत्पादन की शक्ति तन्तु आदि में ही है इसका निश्चय अन्वय–व्यतिरेक के द्वारा होता है।[2]

सांख्य ने असत्यकार्यवाद के विषय में तीसरी शंका यह की है कि 'कार्य को कारण में पूर्व असत् मानने से कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और इस अवस्था ने सबसे सबको उत्पत्ति माननी पड़ जायेगी क्योंकि अभाव सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार, संसार की सारी व्यवस्था नष्ट हो जायेगी।' इसके उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि कारण-कार्य की व्यवस्था इस बात पर निर्भर नहीं करती कि कार्य पूर्व सत् है या असत्, सन्बद्ध हैं या असम्बद्ध। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उसका स्वरूप किसी को दिखाई नहीं देता। अतः, कारण-कार्य की व्यवस्था वस्तुओं के स्वभाव पर निर्भर है। उत्पत्ति के बाद तिल और तेल को साथ देखते-देखते हम उनके सम्बन्ध का निर्धारण कर लेते हैं।

'सर्वसम्भवाभावात्' की आपत्ति सांख्य मत में भी उठ सकती है। जिस प्रकार असत् सबमें समान रूप से रहता है, उसी प्रकार सत् भी सब वस्तुओं में समान रूप से रहता है। अतः, सत्कार्यवाद के अनुसार भी सबसे सबकी उत्पत्ति माननी चाहिए। जिस प्रकार सांख्यमत में सभी वस्तुयें त्रिगुणात्मक हैं परन्तु सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती। उसी प्रकार न्याय मत में भी सभी कारणों में कार्य समान रूप से उत्पत्ति के पूर्व असत् है, लेकिन सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती। कारण-कार्य की अव्यवस्था दोनों मत में सम्भव है। यही कारण है कि हम व्यवहार में उत्पत्ति के बाद कारण और

१. उपादानं तु सर्वस्य यन्न सर्वत्र दृश्यते।
तन्न कार्यस्य सद्भावादपि त्वेवं निरीक्षणात्॥
असत्वे व्यवहारोऽपि नैवापूर्व प्रवर्त्यते।
यथोपलब्धं वृद्धेभ्यस्त तथैवानुगम्यते॥
तैलार्थी सिकताः कश्चिदाददानो न दृश्यते।
अदृष्ट्वा चाद्य नान्योऽपि तदर्थी तासु धावति॥
अन्वय–व्यतिरैकौ च गृह्येते व्यवहारतः।
अनादिश्चैष संसारः इति कस्यानुयोज्यता॥
(न्याय मंजरी भाग २)

२. (क) एतएव चोपादाननियमः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तज्जातीयनियमने तज्जातीयस्य शक्त्यवधारणात्। (न्याय कंदली)
(ख) तुलना के लिए द्रष्टव्य। (न्याय सासा०)

कार्य के सम्बन्ध का निर्धारण करते हैं। उत्पत्ति के पूर्व कार्य सत् है या असत्, इसका विचार हम नहीं करते।[1]

सांख्य असत्कार्यवाद के विरूद्ध चौथी शंका यह उठाते हैं कि कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, इसका अर्थ है कि कारण से सम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है एवं कारण में कार्य के सत् होने पर ही सत् कार्य का सत् कारण के साथ सम्बन्ध हो जाता है। ऐसा नैयायिक भी मानते हैं कि कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है उसी कार्य को वह उत्पन्न करता है, अन्य को नहीं परन्तु इस आधार पर यह कहना उचित नहीं कि कार्य को सत् मानने पर ही शक्ति और कार्य का सम्बन्ध हो सकता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह शक्ति कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। शक्ति कारण की जाति से अवच्छिन्न है। अतः, शक्ति के सम्बन्धित होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

सांख्य ने सत्कार्यवाद की स्थापना के लिए पांचवाँ हेतु अभेद के आधार पर दिया है। न्याय-वैशेषिक सांख्य के अभेदवाद का खण्डन कर भेदवाद की स्थापना करते हैं, इस पर विचार किया जा चुका है।

ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि 'उपादानग्रहणात्' 'सर्वसम्भवाभावात्' और 'शक्तस्यस्यशक्य कारणात्' इन तीन हेतुओं से जो सत्कार्यवाद की सिद्धि की जाती है, वे मात्र यही स्पष्ट करते हैं कि कारण से सम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है, सत् का सत् से सम्बन्ध होता है, सत् कारण असत् कार्य से सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध की समस्या जिस प्रकार असत्कार्यवाद के पक्ष में उठायी जाती है उसी प्रकार सत्कार्यवाद के पक्ष में भी उठायी जा सकती है। सांख्य कारण और कार्य में अभेद मानते है जिससे यह स्पष्ट होता है कि कारण और कार्य दोनों एक हैं। दोनों के एक हो जाने पर सम्बन्ध का प्रश्न नहीं उठता, सम्बन्ध दो पृथक्-पृथक् पदार्थों के बीच होता है एक में नहीं।

सत्कार्यवाद मान लेने पर कारक व्यापार सर्वथा व्यर्थ ही जाता है। मिट्टी में जब घट पहले से था तब वह दिखायी क्यों नहीं देता तथा पानी भरने का प्रयोजन क्यों नहीं सिद्ध करता? जब घट वहाँ है, तो कुम्भकार को चाकादि चलाने की क्या आवश्यकता? परन्तु न्याय के अनुसार असत्कार्यवाद मानने पर कारक-व्यापार व्यर्थ नहीं होता। यदि कारण में कार्य का आत्यन्तिक अभाव होता तब तो कारक व्यापार की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे, ध्वस्त बीज में धान का आत्यन्तिक अभाव है अतः, किसान उससे धान उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करता। न्याय के अनुसार कारण में

१. शान्तरक्षित ने भी सत्कार्यवाद के खण्डन के प्रसंग में सर्वसम्भवाभावात् का खण्डन इसी प्रकार के तर्क से किया है।
त्रैगुणस्याविभेदेऽपि न सर्वं सर्वकारकम्।
तद्वत्, तद्वदसत्वेऽपि न सर्वं सर्वकारकम्॥ (तत्व संग्रह भाग १ श्लोक २८)

कार्य का प्रागभाव मात्र है, मिट्टी में घट का प्रागभाव मात्र है अतः, कर्ता कुम्भकार चाकादि चलाकर प्रागभाव को दूर करता है और घट को उत्पन्न करता है।[१]

इसके उत्तर में सांख्य यह कहते हैं कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में अनभिव्यक्त रहता है, उसको अभिव्यक्त करने के लिए कर्ता के व्यापार की आवश्यकता होती है।[२] कार्य के सूक्ष्म होने के कारण ही उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, न ही उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है। साख्य का यह कथन भी विवादास्पद है। जैसे, कार्य के विषय में प्रश्न किया जाता है कि वह उत्पत्ति के पूर्व सत् है या असत्, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के विषय में भी प्रश्न किया जा सकता है कि वह सत् है या असत्। अभिव्यक्ति को असत् मानने पर सत्कार्यवाद का खण्डन हो जाता है। अभिव्यक्ति को सत् मानने पर अभिव्यक्ति की पुनः अभिव्यक्ति माननी होगी या कारक व्यापार व्यर्थ हो जायेगा। कुछ प्रतिबन्धक तत्व ऐसे हैं जो कार्य को अभिव्यक्त करने से रोकते हैं, ऐसा कहना सत्कार्यवाद के पक्ष में उचित नहीं है क्योंकि जो प्रतिबन्धक तत्व वहाँ उपस्थित हैं, वे कभी भी नष्ट नहीं हो सकते, जो सत् है वह कभी भी असत् नहीं हो सकता।[3]

अनभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मान लेने पर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि इस अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है ? रूपातिशय को अभिव्यक्ति मानना उचित नहीं है। ऐसा मान लेने पर पुनः वही प्रश्न उपस्थित होगा कि यह रूपातिशय कारण में पहले से था या नहीं ? यदि रूपातिशय कारण में पहले से था तो अनभिव्यक्ति किस बात की थी तथा उस अवस्था में कार्य का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? यदि रूपातिशत उसमें नहीं था तो यह मानना पड़ेगा कि जो असत् था उसकी उत्पत्ति हुई।[४]

सांख्य की सत्कार्यवाद की मान्यता स्वीकार कर लेने पर संसार का समस्त कार्य व्यापार बन्द हो जायेगा, भोग और मोक्ष असम्भव हो जायेगा। भोग एवं मोक्ष अज्ञान से होता है। अज्ञान पहले से सत् है तो सतत् बन्धन होगा क्योंकि सत् कभी असत् नहीं हो सकता। मोक्ष प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान से होता है। जब विवेक ज्ञान सत् है तो नित्य मुक्ति होगी, कभी भी बन्धन नहीं होगा। इस प्रकार, सत्कार्यवाद के मानने पर सतत् मुक्ति और सतत् बन्धन का प्रसंग उपस्थित होता है।[५]

---

१. (क) न्याय सार व्या० भाग २ (ख) न्याय भूषण
२. एवं सत एव पटादेशाविर्भावाय कारणापेक्षेत्युपपन्नम्। (तत्व कौमुदी)
३. सा यद्यसती क्रियते, ततोऽसत्कार्यं स्यात्। सति चेदभिव्यक्तिः तदवस्थं कारकानर्थक्यम्। सापि सती स्यादसती वेत्यपर्यवसानम्। (न्या० भूषण)
४. यह तर्क शान्तरक्षित के तत्वसंग्रह से लिया गया है—
'अव्यक्तो व्यक्तिभाक् तेभ्यः इति चेद्व्यक्तिरस्य का।
न रूपातिशयोत्पत्तिरविभागादसङ्गते ॥ (तत्व भाग १ श्लो० २६)
५. तत्त्व संग्रह पंजिका भाग १

अद्वैत वेदान्त में कारण

न्याय, सांख्य और जैन कार्य-कारण भाव की व्याख्या करते समय किसी न किसी रूप में कार्य को सत् मानते हैं। यही कारण है कि व्यावहारिक दृष्टि से कार्य–कारण भाव की व्याख्या करने के पश्चात् उनका तात्विक प्रयोजन पता लगता है। यहाँ हम वेदान्त दर्शन के कारणता के सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे जो कारण को दृष्टि में रखकर कार्य-कारण की व्याख्या करता हैं। परिवर्तनशील जगत् का आधार अवश्य अपरिवर्तनशील होगा। आधेय की अपेक्षा आधार, परिवर्तनशील की अपेक्षा अपरिवर्तन-शील प्रमुख है, यही कारण है कि वेदान्त कार्य-कारण की व्याख्या कारण को दृष्टि में रखकर करता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जो परिवर्तनशील है वह कभी सत् नहीं हो सकता। जो सत् है वह अपरिवर्तनशील और स्वात्मनिर्भर है अर्थात् अद्वय है। सत् का दूसरा नाम हैं, जो कभी भी परिवर्तित न हो। एक वस्तु यदि दूसरा रूप धारण कर लेती है तो उसकी तात्विक व्याख्या नहीं की जा सकती। वस्तु का तात्विक रूप तभी तक रहता है जब तक वह सतत् एक सी बनी रहती है। परिवर्तनशील की तात्विक व्याख्या नहीं की जा सकती और परिवर्तनशील का नाम ही कार्य है। इसका तात्पर्य यह होता है कि कार्य–कारण की तात्विक व्याख्या नहीं की जा सकती। नागार्जुन को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने कार्य–कारण की तात्विक व्याख्या की है।

व्यावहारिक दृष्टि से कार्य का स्वरूप

शंकर ने व्यावहार और परमार्थ में भेद किया है। व्यवहार के क्षेत्र में शंकर ने सांख्य के परिणामवाद को स्वीकार किया है। शंकर न्याय–वैशेषिक की तरह आरम्भवाद नहीं मानते। शंकर के सत्कार्यवाद की स्थापना और असत्कार्यवाद के खण्डन के लिए दिए गए तर्कों का विवेचन सत्कार्यवाद और आरम्भवाद के परिच्छेद में किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष महत्वपूर्ण तर्कों पर यहाँ विचार किया जाएगा। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है तो असत् के सर्वत्र समान रूप से विद्यमान होने के कारण सबसे सबकी उत्पत्ति माननी पड़ती। इस अवस्था में मृत्तिका से क्षीर की उत्पत्ति और क्षीर से मृत्तिका की उत्पत्ति माननी होगी। यदि ऐसा कहा जाय कि मृत्तिका में ही घट का अतिशय रहता है, क्षीर में नहीं, तो असत्कार्यवाद का खण्डन हो जाएगा। 'अतिशय रहता है' कहने का अर्थ होता है कि कार्य पूर्व में अतिशय रूप धर्म वाला है। कारण में कार्य विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति है ऐसा मानने पर भी सत्कार्यवाद को

ही स्थापना होती है ।[१] वेदान्त के इन शंकाओं के समाधान का विवेचन 'सत्कार्यवाद' के परिच्छेद में किया जा चुका है ।

शंकर, सांख्य की तरह कारण और कार्य में तादात्म्य मानते हैं । कारण और कार्य अभिन्न है । यदि कारण और कार्य में भेद मान लें और दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता मान लें तो दोनों के बीच संबंध की व्याख्या नहीं हो सकेगी । उन्होंने न्याय–वैशेषिक द्वारा स्वीकृत कारण–कार्य के बीच समवाय संबंध का खण्डन किया है । परन्तु न्याय–वैशेषिक के तत्वदर्शन के अनुसार यह भेद और उनके बीच समवाय संबंध मानना आवश्यक है, इसका विवेचन किया जा चुका है ।

शंकर ने कारण और कार्य के बीच अभेद स्थापित करने के लिए जो तर्क दिये हैं वे अधोलिखित हैं—

कारण और कार्य, द्रव्य और गुण में अभेद इसलिए है कि इनमें अश्व और महिषि जैसे भेद बुद्धि का अभाव है ।[२] शंकर इस अभिन्नता को स्पष्ट करने के लिए दूसरा उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार सवेष्टित लिपटा हुआ वस्त्र से यह ज्ञात नहीं होता कि यह वस्त्र ही है या अन्य कोई द्रव्य, परन्तु जब उसे हम खोलकर देखते हैं तब स्पष्ट ज्ञान होता है कि यह वस्त्र ही है । इसी प्रकार तन्तु में पट सूक्ष्म रूप से है, कारण व्यापार तुरी, वेमादि जब उसे स्थूल रूप दे देते हैं तब वह हमें दिखाई देता है । जिस प्रकार लिपटे हुए वस्त्र और खुले हुए वस्त्र में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार तन्तु और पट में कोई भेद नहीं है । एक ही वस्तु की दो अवस्थायें हैं ।[3]

परन्तु व्यवहार की दृष्टि से यह अवस्था भेद ही आवश्यक है इस पर भी विचार किया जा चुका है । जिस प्रकार भेद मानने पर संबंध की व्याख्या नहीं हो सकती उसी प्रकार अभेद मानने पर भी संबंध की ध्याख्या नहीं हो सकती, इस पर भी विचार किया जा चुका है, परमार्थ की दृष्टि से कारणता पर विचार करते समय इसे शंकर ने भी स्वीकार किया है । व्यवहार में शंकर ने सत्कार्यवाद का समर्थन किया है तथा अभेदवाद की स्थापना की है परन्तु जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है भेद और कार्य की नवीन उत्पत्ति मानना होगी जिसके लिए पहले ही तर्क दिया जा चुका है ।

शंकर ने बौद्धों के क्षणभंगवाद का भी खन्डन किया है । क्षणिकवादी कारण

१. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।१८

२. अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद्भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम् । (ब्र० सू० शा० भा० २।१।१८)

२. एवं तन्त्वादिकारणावस्थं पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादभिव्यक्तं स्पष्टं गृह्यते । अतः सवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवानन्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः । (ब्र० सू० शा० भा० २।१।१९)

और कार्य को एक प्रवाह की दो अवस्थायें मानते हैं। उनके अनुसार कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण का नाश होना आवश्यक है। शंकर ने इस मत की आलोचना करते हुए तर्क दिया है कि यदि विनष्ट बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती तो विनष्ट दूध से भी दही और विनष्ट मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होना चाहिए।[1] क्षणिकत्ववाद मान लेने पर हेतु–फल भाव भी नहीं बन पाता। हर क्षण विनष्ट होने वाली वस्तु में से कौन सा कारण है और कौन सा कार्य तथा कारण और कार्य का संबंध क्या है इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।[2]

परमार्थ की दृष्टि से कार्य का स्वरूप

शंकर न्याय के असत्कार्यवाद और बौद्ध के क्षणभंगवाद का खण्डन करके सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सत्कार्यवाद का समर्थन कर शंकर मात्र कारण और कार्य में अभेद स्थापित करते हैं। जहाँ तक कार्य को कारण की तरह सत् मानने का प्रश्न है, शंकर सत्कार्यवाद के विरुद्ध भी उतनी ही युक्तियाँ देते हैं जितनी कि असत्कार्यवाद के विरुद्ध। तन्तु में पट सूक्ष्म रूप से रहता है और कारण व्यापार के पश्चात् वह अभिव्यक्त होता है, यह सांख्य और वेदान्त दोनों मानते हैं, परन्तु अभिव्यक्ति के स्वरूप के विषय में दोनों में मतभेद है। सांख्य के अनुसार यह अभिव्यक्ति व्यावहारिक दृष्टि से सत् है एवं तात्विक दृष्टि से भी। शंकर के अनुसार इस अभिव्यक्ति को व्यावहारिक दृष्टि से हम भले ही सत् कह लें परन्तु तात्विक दृष्टि से इसे हम सत् नहीं कह सकते। कारण को सत् और उसकी अभिव्यक्ति को सत् मान लेने पर पुनः संबंध का प्रश्न उपस्थित होगा और ठीक वही समस्या उपस्थित होगी जो न्याय के समक्ष हुई थी। अतः, कार्य और कारण दोनों में से किसी एक को सत् तथा दूसरे को असत् मानना पड़ेगा, यदि हम दोनों को सत् मानेंगे तो कम से कम दोनों के बीच का संबंध अवश्य ही असत् होगा और संबंध असत् नहीं हो सकता क्योंकि उस अवस्था में संबध का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। असम्बद्ध दो सत्तायें नहीं रह सकती। असम्बद्ध दो सत्ताओं में से किसी एक को असत् होना ही होगा। कारण प्रमुख है, आधार है, कारण से ही कार्य की उत्पति होती है, कारण की निरपेक्ष सत्ता है, कार्य कारण के बिना नहीं रह सकता परन्तु कारण कार्य के बिना रह सकता है। पट तन्तु के बिना नहीं रहता परन्तु तन्तु पट के बिना रह सकता है। अतः, कारण ही प्रमुख है, कारण ही सत् है, कार्य, मिथ्या भ्रम मात्र है।

इस प्रकार, शंकर के अनुसार तादात्म्य तभी संभव है जब दो वस्तुओं में से एक अपनी सत्ता दूसरे में खो देता है। यदि दोनों ही सत् है तब तादात्म्य कभी भी

---

१. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।२६
२. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।२०

संभव नहीं हो सकता । कारण अपनी सत्ता कार्य में कभी नहीं खो सकता क्योंकि कारण की अपनी निरपेक्ष सत्ता है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, इसके विपरीत कार्य अपनी सत्ता कारण में खो सकता है क्योंकि कार्य की सत्ता कारण पर ही निर्भर है उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है । इस तादात्म्य के लिए कार्य को अपनी सत्ता कारण में खो देना आवश्यक है अर्थात् कार्य को मिथ्या होना आवश्यक है, सत् होने पर वह अपनी सत्ता किसी अन्य सत् कारण में नहीं खो सकता । शंकर पहले कारण और कार्य का तादात्म्य सिद्ध करते हैं और पुनः उस तादात्म्य के लिए कार्य का विवर्तमात्र होना आवश्यक सिद्ध करते हैं । इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैसे असत्कार्यवाद की अगली सीढ़ी क्षणभंगवाद है उसी प्रकार सत्कार्यवाद की अगली सीढ़ी विवर्तवाद है । व्यावहारिक जगत् में वेदान्त में स्वीकृत सत्कार्यवाद विवर्तवाद तक पहुँचने के लिए एक माध्यम का कार्य करता है । शंकर सत्कार्यवाद से अभेद की पुष्टि करते हैं और बाद में वह इस अभेद पर इतना अधिक बल देते हैं कि अभिव्यक्ति को भी अस्वीकार कर देते हैं ।

अन्ततः, शंकर यही सिद्ध करते हैं कि कार्य की तात्विक व्याख्या नहीं की जा सकती है । परिवर्तन की कोई अपनी सत्ता नहीं है । परिवर्तन की चेतना केवल हमको होती है । परिवर्तन हमारी बुद्धि की रचना मात्र है । इस प्रकार, शंकर कारणता को तत्वमीमांसा की कोटि में न रखकर ज्ञानमीमांसा की कोटि में रखते हैं । भारतीय दर्शन में इस प्रकार की क्रान्ति का श्रेय काण्ट को दिया जा सकता है । काण्ट ने यह बतलाया कि वाह्य वस्तु का कोई भी ज्ञान हमें शुद्ध सत् के रूप में नहीं होता, सत् की मात्र संविद् होती है जिसके अनुसार वस्तु का आकार-प्रकार, भेद कुछ भी स्पष्ट नहीं होता है । बुद्धि उस संविद् ज्ञान को सांचे में ढालता है तब हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है । वाह्य वस्तु के ज्ञान में बुद्धि की रचना का समावेश है इसलिए वह मिथ्या है । काण्ट ने इस बात को यहीं तक समझाया । शंकर इसके एक कदम और आगे बढ़ते हैं और इसकी तात्विक व्याख्या करते हैं । वह प्रथम संविद् जो शुद्ध ज्ञान देता है, जो ज्ञान का आधार है, वह क्या है ? जिसका ज्ञान हमें नहीं होता ।

अन्ततः शंकर के कारणता का सिद्धान्त हमें वहाँ ला देता है जहाँ कारणता अनिर्वचनीय हो जाती है । भेद और अभेद तथा भेदाभेद दोनों ही कारणता को स्पष्ट नहीं करते । अतः, कारणता या परिवर्तन नाम मात्र के लिए है । ब्रह्म ही सत् है, अद्वय है, वह नित्य सत् है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता । सम्पूर्ण जगत् उसका विवर्त-मात्र है ।

बौद्ध दर्शन में कारण

न्याय के कारणवाद को स्पष्ट ढंग से समझने के लिए बौद्ध दर्शन के कारणवाद का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। बौद्धों और नैयायिकों का परस्पर का विवाद ही उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की पुष्टि करता है। न्याय सूत्र पर लिखे गए 'भाष्य,' 'वार्तिक', 'तात्पर्यटीका' इस विवाद के ही परिणाम हैं।

बौद्ध ने नैयायिकों की ही तरह जगत् को कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधा हुआ बताया। बौद्ध दर्शन में दुःख के कारण के अन्वेषण में ही कारणता की अनिवार्यता प्रतिपादित हुई। बौद्धों की दार्शनिक भित्ति यही है कि बिना कारण के किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त नियतिवाद, यादृच्छवाद तथा स्वभाववाद के विरुद्ध है। कोई भी कार्य ईश्वर की इच्छा से या स्वभाव से नहीं होता। सभी कार्यों के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है। बौद्धों ने कारण-कार्य की श्रृंखला को इतना महत्व दिया कि उसे धर्म के एक अंश के रूप में स्वीकार किया—

जो प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है वह धर्म को समझता है और वह जो धर्म को समझता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है।[1] यहाँ धर्म से तात्पर्य तत्व से है, धार्मिक विचार से नहीं।

बौद्धों ने नैयायिकों के आत्मवाद और यथार्थवाद के विरुद्ध, अनात्मवाद और क्षणभंगवाद की स्थापना की, यहीं दोनों के विवाद की मुख्य जड़ है। बौद्ध दर्शन के अनुसार सत् क्षणिक है, यह सृष्टि मात्र एक प्रक्रिया है, प्रवाह है। वस्तु सतत् उत्पत्ति और विनाश का प्रवाह है। परिवर्तनशीलता ही सत् है अपरिवर्तनशीलता भ्रम। दीप के लव की तरह कोई वस्तु स्थिर नहीं है। दीप की लव में प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि हम उसे देख नहीं पाते। शाश्वत परिवर्तन का सिद्धान्त ही बौद्धों का केन्द्रभूत दर्शन है। ग्रीक दार्शनिक हिराक्लिट्स और फ्रांसीसी विद्वान वर्गसां ने भी परिवर्तन को सत् माना है।

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि बिना किसी अपरिवर्तनशील आधार के इस परिवर्तनशील जगत की व्याख्या कैसे की जा सकती है? यदि सम्पूर्ण जगत् क्रम बद्ध घटना मात्र है तो इन घटनाओं का सम्बन्ध क्या है? बौद्ध निरवच्छिन्न सतत् हो रहे परिवर्तन की व्याख्या कारणता के सिद्धान्त के द्वारा करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारणता का अर्थ है आधार भूत अपरिवर्तनशील के बिना परिवर्तन का होना। प्रत्येक

---

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादपस्यतीदं स पस्यति। दुखं समुदय चैव निरोधं मार्गमेव च॥
(मध्यमिक कारिका २०।८०)

वस्तु कारणता के नियम से बद्ध है। कारण और कार्य में नियतपौर्वापर्य क्रम है। प्रसिद्ध अनुभववादी पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम भी कारण और कार्य के बीच नियत पौर्वापर्य क्रम मानता है। परन्तु बौद्ध और ह्यूम के सिद्धान्त में अन्तर है। बौद्ध के अनुसार यह पौर्वापर्य क्रम आवश्यक है परन्तु ह्यूम के अनुसार यह पौर्वापर्य क्रम आवश्यक नहीं है। बौद्ध के अनुसार यह प्रवाह-क्रम बद्ध है परन्तु यान्त्रिक नहीं हैं। दोनों अवस्थाओं में कारण-कार्य भाव है। पूर्व अवस्था पश्चात् अवस्था का कारण है। पूर्व अवस्था पश्चादवस्था के सापेक्ष से है।[1] एक अवस्था दूसरी अवस्था को अपनी शक्ति प्रदान करती है। बौद्ध के अनुसार कारण और कार्य दोनों क्षणिक हैं, इस प्रवाह क्रम में पूर्व अवस्था को हम कारण तथा पश्चात् अवस्था को कार्य कहते हैं क्योंकि पश्चादवस्था की क्षणिक सत्ता पूर्व अवस्था के विनाश पर निर्भर है। इन परिवर्तनों के आधार स्वरूप कोई नित्य सत्ता नहीं है। पूर्व परिवर्तन, पश्चात् परिवर्तन का निर्णय करता है और यह निर्णय मात्र यही है कि इसके होने पर यह होता है।

क्षणभंगवाद, अर्थक्रियाकारित्व और कारणता

बौद्ध दार्शनिकों ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है 'अर्थक्रियाकारित्वं परमार्थं सत्' अर्थात् अर्थक्रियाकारी ही सत् है। सत्ता का अर्थ है, उत्पन्न करने की क्षमता रखना। बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने की क्षमता है इसलिए बीज सत् है। जिसमें उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है वह सत् नही है शश-विषाण की तरह। असत् वस्तु कभी भी किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती। सत्ता और अर्थक्रियाकारित्व दोनों पर्यायवाची है।

अर्थक्रियाकारित्व क्षणिक पदार्थों में ही संभव है, अक्षणिक या नित्य पदार्थ में नहीं। इसलिए जो कुछ भी सत् है वह क्षणिक है। आकाश, दिक्, काल, ईश्वर आदि नित्य पदार्थों में कार्योत्पादकत्व नहीं है इसलिए वे सत् नहीं है, काल्पनिक है। इसप्रकार, बौद्ध मत में सत् का अर्थ है 'कार्योत्पादकत्व' और कार्योत्पादकत्व का अर्थ है, क्षणिकत्व। बौद्ध दार्शनिकों ने नैयायिकों के आत्मवाद और यथार्थवाद के विरुद्ध बौद्धों ने अनात्मवाद और क्षणभंगवाद का प्रतिपादन किया।[2]

प्रतीत्य-समुत्पाद[3] सिद्धान्त

बौद्ध के कारणवाद को प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त कहते हैं। प्रतीत्य-समुत्पाद

---

१. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन भाग १

२. (क) स तमेवम्भूतं प्रतीत्यसमुत्पादं किमक्षणिकं जगाद ? नेत्याह-चलमिति। चलम्—अस्थिरम्, क्षणिकमिति यावत्। (तत्व संग्रह पंजिका)
(ख) तत्व संग्रह भाग० १ श्लो० ४२२, २३, २४। (ग) तत्व संग्रह पंजिका।

३. 'प्रतीत्य_समुत्पाद' शब्द प्रति उपसर्ग इण् गतौ धातु में ल्यप् प्रत्यय लगकर बना है।

का अर्थ है इसके होने पर ऐसा होता है। अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति होती है।[1] इससे यह नहीं समझना चाहिए कि एक वस्तु से दूसरे वस्तु की उत्पत्ति होती है। बौद्ध यह नहीं मानते कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है; वह मात्र इतना ही कहते हैं कि कारण के होने पर कार्य अवश्य होता है। कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य होता है, बीज के नष्ट हो जाने पर अंकुर होता है। कारण-कार्य के काल में नहीं रहता। कारण पूर्व क्षण में रहता है और कार्य पश्चात् क्षण में। कारण कार्य को अपनी सत्ता नहीं देता क्योंकि उसके नष्ट हो जाने पर कार्य होता है।

बौद्ध की शाखाओं के विकास के साथ-साथ प्रतीत्य-समुत्पाद के चार अर्थ कर सकते हैं। दो अर्थ हीनयान से सम्बद्ध है जो अनेकान्तवाद से सहमत है तथा दो महायान से सम्बद्ध है जो अद्वयवाद से सहमत हैं।[2]

सर्वप्रथम वैभाषिकों ने पुद्गल-नैरात्म्यवाद के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या की प्रमुखतः, इसका आधार नैतिक है। यहाँ बौद्ध दर्शन के कर्मवाद की स्थापना होती है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और भविष्य जीवन की उत्पत्ति का कारण। प्रत्येक कर्म का फल मिलता है, परन्तु इस नियम का कोई विषयी नहीं है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों श्रृंखला को बारह खण्डों के चक्र के रूप में व्यक्त किया और इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम बताया। बुद्ध ने दुःख के कारण की खोज करते हुए ही इन बारह निदानों का वर्णन किया है। इनके मूल कारण को अविद्या बताया। ये बारह चक्र इस प्रकार है—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण। इनमें पहले और दूसरे का संबंध भूत जीवन से है; तीसरे से लेकर दसवें तक का संबंध वर्तमान जीवन से है तथा ग्यारहवें और बारहवें का संबंध भविष्य जीवन से है। संक्षेप में, प्रतीत्यसमुत्पाद के इस अर्थ के अनुसार स्थायी धर्म को अस्वीकार किया गया। पृथक् अनित्य धर्मों के बीच कारण-कार्य भाव माना।[3] विच्छिन्न धर्मों का संघात ही वस्तु है, संघात के अतिरिक्त कोई ईकाई नहीं है। इन विभिन्न धर्मों में आन्तरिक कारण-कार्य संबंध नहीं है।

प्रतीत्य समुत्पाद के दूसरे अर्थ को सामान्य कारणवाद का सिद्धान्त भी कह सकते हैं। यहाँ भी नित्य स्थिर सत्ता को अस्वीकार किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी वस्तुएँ एक दूसरे पर निर्भर हैं। संसार के समस्त वस्तुओं की सापेक्ष सत्ता है।

---

१. 'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्य-समुत्पादार्थ इति।' (चन्द्रकीर्ति व्याख्या)
2. Stcberbatsky Th Buddhist Logic, Vol, I,
३. सः प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयार्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः॥ (अभिधर्म कोष ३।२०)

प्रत्येक क्षण हेतु प्रत्यय सामग्री के द्वारा निर्धारित होता है। सर्वास्तिवादियों ने चार अवस्थओं और छः प्रकार के कारणों का विभाजन किया। आलम्बन प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय, अधिपति और सहकारी प्रत्यय ये चार प्रकार के प्रत्यय हैं। कारण हेतु, सहभू हेतु, संभाग, संप्रयुक्त, सर्वत्रग और विपाक ये छः प्रकार के हेतु माने गये।[1]

महायानकाल में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ 'परस्परापेक्षत्व' किया गया। परस्परापेक्षत्व का अर्थ है 'सभी धर्मों की शून्यता।' प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ सामयिक, क्रम नहीं प्रत्युत् वस्तुओं का एक दूसरे पर निर्भर होना है। यहाँ कारणता का कोई मौलिक अर्थ नहीं प्रस्तुत किया गया अपितु, कारणता का द्वन्द्ववादी विश्लेषण करके यह सिद्ध करते हैं कि कारणता परमार्थ का लक्षण नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद यह स्पष्ट करता है कि अनुभव जगत् की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब सापेक्ष हैं, किसी की स्वतंत्र सत्ता नहीं। एक वस्तु की सत्ता दूसरे पर निर्भर है इसलिए किसी वस्तु को हम न तो आत्यन्तिक रूप से सत् कह सकते हैं और न आत्यन्तिक रूप से असत्, सभी, वस्तुएँ शून्य हैं। यहाँ शून्य का अर्थ अभाव न लेकर अनिर्वचनीय लेना चाहिए। इसी दृष्टि से बुद्ध ने उच्छेदवाद और शाश्वतवाद के विरूद्ध मध्यमाप्रतिपदा का प्रतिपादन किया। नागार्जुन ने तथा शान्तरक्षित ने प्रतीत्य समुत्पाद को धर्म कहा तथा उसे नानात्मक जगत् से मुक्ति और आनन्द प्राप्ति का एक मात्र साधन बताया।[2] सापेक्ष दृष्टि से कारणता का अर्थ है 'संसार' और सत् की दृष्टि से कारणता का अर्थ है 'निर्वाण'।[3]

महायान शाखा के विज्ञानवादियों ने एक बार पुनः प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ का परिष्कार किया और प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ 'सामयिक क्रम किया गया' विच्छिन्न धर्मों में कोई आन्तरिक कार्य-कारण संबंध नहीं है अपितु, सबमें एक सामयिक क्रम है। धर्म भी प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से संचालित है और प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है 'सामयिक क्रम का कठोर नियम'।

बौद्धों द्वारा की गई क्षणभंगवाद की स्थापना

बौद्धों के अनुसार कारण कार्योत्पत्ति क्षण में नहीं रह सकता, उसका तत्काल नाश हो जाता है। इसके विपरीत नैयायिकों के अनुसार कारण कार्योंत्पत्ति के बाद भी कार्य के साथ-साथ रहता है। बौद्ध दार्शनिक स्थिर पदार्थों के कारणत्व के खण्डन के लिए निम्न युक्ति देते हैं—

---

१. कारणं सहसंश्वैव भ्भागः संप्रयुक्तकः।
सर्वत्रगो विपाकाख्यः षड्विधो हेतुरिष्यते॥ (अभि० को० २।४९)

२. (क) माध्यमिक कारिका २५, ९
(ख) तत्व सं० भाग १ श्लो० ६

३. C. D. Sharma,

उत्पत्ति दो तरह से ही सम्भव है—क्रम और अक्रम। स्थायी पदार्थों में क्रम और अक्रम दोनों ही सम्भव नहीं है। क्षणिक पदार्थों में ही कार्योत्पादकत्व सम्भव है स्थिर पदार्थों में नहीं अतः, क्षणिक पदार्थ ही सत् है, स्थिर पदार्थ नहीं।[1]

यदि स्थिर पदार्थों में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है तो उससे सतत् कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए। यदि मुख्य कारण सहकारि-कारण की सहायता से, क्रम से कार्य की उत्पत्ति करते हैं तो इससे यह स्पष्ट होता है कि स्थिर पदार्थ सहकारिकारण को पाकर ही अर्थक्रियाकारी होते हैं, इस अवस्था में अन्वय-व्यतिरेकित्व से सहकारि की ही कारणता सिद्ध हो जाएगी।[2]

सहकारी को कारण मानने पर प्रश्न यह उठता है कि ये सहकारी कारण कार्य में अतिशय उत्पन्न करते हैं या नहीं, यदि ये अतिशय नहीं उत्पन्न करते तो इनकी सहायता व्यर्थ है। यदि अतिशय उत्पन्न करते हैं तो कारण के साथ उनके संबंध का प्रश्न उपस्थित होता है। दोनों के बीच तादात्म्य संबंध नहीं मान सकते क्योंकि दोनो में भेद है। दोनों के बीच तदुत्पत्ति संबंध भी नहीं मान सकते। इस अवस्था में सहकारी कारण और मुख्य कारण से सतत् साथ-साथ रहने से युगपद् कार्योत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा। दोनों के बीच समवाय संबंध मानने पर प्रश्न उठता है कि वह अपने सम्बधियों का उपकार करता है या नहीं? यदि वह सहायता नहीं देता तो सभी कारणों को सामान्य रूप से कार्य का समवायिकरण मानना पड़ेगा। यदि समवाय अपने समवायियों का उपकार करता है तो उसके सतत् उपस्थित रहने से युगपद् कार्योत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा। स्थायी को कारण मानने पर कारण और कार्य के बीच भेद था, अभेद या भेदाभेद किसी प्रकार का संबंध संभव नहीं है। अतः, स्थायी पदार्थ में कार्योत्पादकत्व सम्भव नहीं है।[3]

स्थिर पदार्थो में क्रमिक कार्योत्पत्ति का खण्डन करने के पश्चात् शान्तरक्षित उनमें युगपद् कार्योत्पत्ति का भी खण्डन करते हैं। यदि कारण एक साथ कार्योत्पत्ति कर देता है, दूसरे क्षण वह निवृत हो जाता है, तो क्षणभंगवाद की ही स्थापना हो जाती है। यदि कारण कार्योत्पत्ति के बाद भी निवृत नहीं होता तो उसे पुनः कार्योत्पत्ति करना

---

१. क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः।
न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्वास्ते ततोमताः। (तत्व सं० भाग १ श्लो० ३९४)

२. तस्मिन् सति हि कार्याणामुत्पादस्तदभावतः।
अनुत्पादात् स एवैवं हेतुत्वेन व्यवस्थितः। (तत्व सं० भाग १ श्लो० ४००)

३. तत्व सं० भाग १ श्लो० ४०१-७।

चाहिए। यदि वह पुनः कार्य नहीं उत्पन्न करते तो उसे गगन कुसुम की तरह मिथ्या मानना पड़ेगा।[1]

जिस प्रकार उत्पत्ति स्वतः चालित है, उसके पीछे आधार के रूप में कोई नित्य सत्ता नहीं है, उसी प्रकार विनाश भी स्वयं होता है। जब तक वस्तु में स्वयं विनाश के गुण नहीं हैं तब तक कोई वाह्य सत्ता आकार उसका विनाश नहीं कर सकती। यदि घट में नष्ट होने के गुण नहीं हैं तो दण्ड उसका कुछ भी नहीं कर सकता है।

बौद्ध दार्शनिकों के विरुद्ध पूर्वपक्षी यह शंका करते हैं कि वस्तुओं को क्षणिक मानने पर कृत प्रणाश और अकृताभ्यागम का दोष आ जाता है। अर्थात् वस्तुओं को क्षणिक मानने पर सक्रिय कर्त्ता का कोई महत्व नहीं रह जाता, कर्त्ता अपना कार्य करके उसी क्षण नष्ट हो जाता है, दूसरे क्षण उसके उपभोग के लिए दूसरा मनुष्य उत्पन्न होता है। कर्म कोई अन्य मनुष्य करता है और उसका उपभोग कोई अन्य मनुष्य करता है। पदार्थों को क्षणिक मानने पर कर्त्ता और उपभोक्ता का प्रतिसन्धान नहीं बनता।

शान्तरक्षित ने क्षणभगवाद के विरुद्ध उठाई गई उपर्युक्त शंका का समाधान किया है। उनके अनुसार पदार्थों को क्षणिक मानने पर भी हेतु और फल का प्रतिसंधान बन जाता है। यथार्थवादी के अनुसार हेतु और फल की कम से कम कुछ क्षण के लिए सहकालिक स्थिति आवश्यक है। परन्तु क्षणभंगवादी बौद्ध के अनुसार फल, हेतु का अनुगमन करता है, दोनों की सहकालिक सत्ता नहीं है। हेतु फल को किसी भी देश से नहीं पकड़ता न उसे खींचकर बाहर अस्तित्व में ले आता है, न तो फल अपने हेतु द्वारा गहन आलिंगन से उत्पन्न होता है।[2] जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु किसी वस्तु को उत्पन्न करती है तो यह एक सांकेतिक अभिव्यक्ति मात्र है। वस्तुओं को क्षणिक मानने पर कारक-व्यापार भी संभव है क्योंकि कारण और कारक-व्यापार दोनों एक ही हैं,

---

१. निःशेषाणि च कार्याणिसकृत्कृत्वा निवर्तते।
सामर्थ्यात्मा स चेदार्थः सिद्धास्य क्षणभङ्गिता॥
तद्रूपस्यानुवृत्तौ तु कार्यमुत्वादयेत् पुनः।
अकिञ्चित्कररूपस्य सामथ जेष्यतेथं कथम्॥

(तत्त्व संग्रह भाग १ श्लो ४१४-१५)

२. (क) न हि तत्कार्यमात्भीयं सन्देशेनैव कारणम्।
गृहीत्वा जनयत्येतद् यौगपद्यं यतो भवेत्॥
(ख) नापि गाढं समालिङ्ग्य प्रकृति जायते फलम्।
कामीव दयिता येन सकृद् भावस्तयोर्मवेत्॥

(तत्व सं० भाग १ श्लो० ५१६, २७)

पृथक्-पृथक् नहीं ।[१] वस्तु स्वयं हेतु है अतः, अलग से किसी विलक्षण व्यापार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती ।[२]

इस प्रकार, इन क्षणों के नियतक्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । घड़ी के पेण्डुलम की तरह एक क्षण के बाद दूसरा क्षण नियत क्रम में आता रहता है । इन क्षणों में किसी प्रकार के शक्ति का आदान-प्रदान नहीं होता, प्रत्येक वस्तु में गति सतत् होती रहती है, कहीं कोई अवकाश या विराम नहीं है ।[3] प्रत्येक क्षण अपने पीछे एक वासना छोड़ जाता है और वह वासना दूसरे क्षण में हस्तान्तरित हो जाती है इसप्रकार, यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि वाञ्छनीय वस्तु की उत्पत्ति न हो जाय ।

न्याय द्वारा क्षणभंगवाद का खण्डन

न्याय-वैशेषिक ने बड़े ही तर्क पूर्ण ढंग से क्षणभंगवाद का खण्डन किया है । वार्सिककार ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि क्षणिक पदार्थों में कारण-कार्य भाव संभव नहीं है, स्थिर पदार्थों में ही कारण–कार्य भाव संभव है । श्रीवर ने पूर्वपक्षी बौद्धों द्वारा उठाई गई शंकाओं को समाधान करते हुए स्थायी पदार्थों में कारणता का प्रतिपादन किया है ।

'न्याय सूत्र', 'भाष्य' तथा 'वार्तिक' तीनों ग्रन्थों में यह युक्ति दी गई है कि क्षणिक पदार्थों में कारण–कार्य भाव संभव नहीं है क्योकि वस्तुओं को उत्पत्ति और विनाश का कारण उपलब्ध होता है । उत्पन्न वस्तुओं में उपचय तथा विनष्ट वस्तुओ में अपचय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । इस प्रकार का उपचय और अपचय स्थायो पदार्थों में ही संभव है, क्षणिक पदार्थों में नहीं ।[४]

वार्तिककार दूसरा तर्क देते हैं कि कारण–कार्य भाव के लिए आधाराधेय भाव आवश्यक है । जिसमें आधाराधेय भाव नहीं होता उसमें कारण-कार्य भाव नहीं होता । स्थिर पदार्थों में ही आधाराधेयभाव संभव है, क्षणिक पदार्थों में आधाराधेय भाव संभव

---

१. तद्भावभावितामात्राद् व्यापारोऽप्यवकल्पितः ।
हेतुत्वमेति तद्वान् वा तदेवास्तु ततो वरम् ॥ (तत्व सं० भाग १ श्लो० ५२२)

२. विलक्षणव्यापाररहितं वस्तुमात्रं हेतुः । (तत्व संग्रह पंजिका)

३. There is nothing except a succession of moments one moment following closely upon another moment with a clock lika regularity without the slightest exchange of services.
S. Mookherji : Buddhist Philosophy of Universal Flux. p. 1

४. (क) नोत्वत्तिविनाशकारणोपलब्धेः । न्याय सूत्र ३।२।१२
(ख) (न्याय भाष्य)
(ग) न्याय वार्तिक

नहीं है। अतः, स्थिर पदार्थों में ही कारण-कार्य भाव होता हैं, क्षणिक पदार्थों में कारण-कार्य भाव नहीं होता है।[1]

बौद्ध दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि क्षणिक पदार्थों की क्रमबद्ध घटनाओं में भी तुला के नमन और उन्नमन की तरह कारण-कार्य भाव संभव है तो यह युक्ति ठीक नहीं है। तुला के नमन और उन्नमन में कारण-कार्य भाव नहीं है अतः, उसका दृष्टान्त देकर हम क्रमबद्ध घटनाओं में कारण-कार्य भाव नहीं सिद्ध कर सकते। साथ ही तुला के नमन और उन्नमन को तुला का दण्ड संयुक्त कर देता है, परन्तु क्रमबद्ध घटनाओं को सम्बद्ध करने वाला ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। अतः, क्षणिक पदार्थों में कारण-कार्य भाव की सिद्धि नहीं की जा सकती। सतत् हो रहे परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए बौद्धों ने कारण-कार्य को स्वलक्षण तथा विच्छिन्न माना है। परन्तु इस परिवर्तन की व्याख्या एक ईकाई के रूप में हीं हो सकती है।[2]

बौद्ध दार्शनिको के अनुसार वस्तु के स्वरूप में उसका विनाश निहित रहता है, परन्तु उनकी यह युक्ति ठीक नहीं हैं। यदि विनाश का कारण नहीं है तो उसे अकारण आकाशादि की तरह नित्य मानना पड़ेगा या शशशृंग की तरह असत्। विनाश नित्य है तो उसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि उत्पत्ति अपने साथ विनाश लाती है तो भी उचित नहीं। उत्पत्ति स्थिति और विनाश ये दो विरोध, एक क्षण में कैसे रह सकते हैं ? बौद्ध दार्शनिकों को कम से कम तीन क्षण मानना चाहिए।[3]

बौद्ध दार्शनिकों को प्रमुख शंका यह है कि यदि स्थायी कारण में कार्योत्पत्ति सामर्थ्य है तो वह सतत् कार्यो त्पत्ति क्यों नहीं करते ? यदि मुख्य कारण को सहकारि कारणों के सहायता को आवश्यकता होती और इस कारण वे सतत् कार्य की उत्पत्ति नहीं करते तो अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। सहकारि-कारण मुख्य कारण में अतिशय उत्पन्न करते हैं या नहीं ? यदि करते हैं तो यह अतिशय मुख्य कारण से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो अतिशय का कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेकित्व सिद्ध हो जाने से अतिशय को ही क्यों नहीं कारण मान लेते ? सहकारियों की सहायता से यदि कारण कार्य को उत्पन्न करता है तो सहकारियों में वह सामर्थ्य सतत् रहना चाहिए और इस अवस्था में उस अतिशय को अन्य अतिशय उत्पन्न करना चाहिए। बौद्ध दार्शनिकों

---

१. न च क्षणिकत्वे आधाराधेयभावः सम्भवति न चाधाराधेयभावमन्तरेण कार्यकारण-भावः, तस्मात् कार्यकारणभावोपलब्धेरक्षणिकत्वमिति। न्याय वार्तिका)

२. न्याय वार्तिका

३. भवतां पक्षे अकारणं द्विधा नित्यमसच्च, अस्माकं तु नित्यमेव। यद्यकारणत्वान्नित्यो विनाशः कार्यस्योत्पादो न प्राप्नोति उत्पन्नस्य च भावस्य विनाशेन सहवस्थानमिति च दोषः। ततश्च भावानामभावाविरोधादत्यन्तमवस्थानमिति। (न्याय वा०)

के अनुसार अतिशय और सहकारि एक है। सहकारि का मूल कारण के साथ साहित्य ही जनक क्षण है, उससे भिन्न अजनक क्षण है। अतः, बौद्ध मत में भी सबसे सबको उत्पत्ति की शंका नहीं होती।

बौद्धों की उपर्युक्त शंकाओं के समाधान में श्रीधर का प्रमुख तर्क यह है कि बौद्धों ने सत् की परिभाषा की है, 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' पदार्थ क्षणिक हैं सत् होने से। बौद्धों का यह अनुमान दूषित है। किसी प्रकार की व्याप्ति बनाने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्त्व। अन्वय-व्याप्ति के लिए सपक्षसत्त्व और व्यतिरेक-व्याप्ति के लिए विपक्षासत्त्व आवश्यक है। जैसे 'पर्वतों वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में अन्वय-व्याप्ति इस प्रकार है--जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ वह्नि अवश्य होती है जैसे, महानस में। धूम, सपक्ष महानस अग्नि में रहता है। व्यतिरेक व्याप्ति है, जहाँ जहाँ वह्नि का अभाव है, वहाँ-वहाँ धूम का अभाव है। जैसे, जल। इस व्यतिरेक-व्याप्ति में विपक्ष जल है उसमें हेतु धूम नहीं रहता है। इस प्रकार, इस अनुमान की व्याप्ति म हमने यह देखा कि धूम का महानस में रहना जितना आवश्यक है उतना ही जल में न रहना, अन्यथा व्याप्ति नहीं बन सकेगी। बौद्धों के उपर्युक्त अनुमान में अन्वय-व्याप्ति तो बन जाती है पर व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन पाती—जहाँ-जहाँ सत् है, वहाँ-वहाँ क्षणिकत्व है, जैसे, बौद्धाभिमत सभी पदार्थ है, जहाँ-जहाँ सत् नहीं है वहाँ-वहाँ क्षणिकत्व नहीं है। 'इसप्रकार, की व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन सकती क्योंकि बौद्ध मत में अक्षणिक कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार, सपक्ष सत्त्व के रहते हुए भी विपक्ष व्यावृत्ति न बनने पर व्याप्ति नहीं बन सकती।[1] विपक्ष के असिद्ध होने से अन्वय व्याप्ति में भी विपक्ष का ज्ञान आवश्यक है, असत्व यह हेतु केवल पक्ष क्षणिकत्व में ही रहता है अतः, बौद्धों के उपर्युक्त अनुमान में असाधारण नामक हेत्वाभास है।[2]

श्रीधर दूसरा तर्क देते हैं कि पदार्थों को क्षणिक मानने पर प्रत्यक्ष प्रतिसंधान संभव नहीं हो सकता। कल जिस बीज को मैंने घर पर देखा था, उसी बीज को आज मैं खेत में देख रहा हूं इसप्रकार, कालों के संबंध का ग्राहक प्रत्यक्ष बीजों के क्षणिकत्व का बाधक है। बौद्ध दार्शनिक इसका समाधान करते हैं कि अनेक बीज, क्षणों के अत्यन्त सदृश् होने के कारण उनका भेद स्पष्ट नहीं हो पाता, वस्तुतः वहाँ भेद रहता है। बीज

---

१. न सत्वात् क्षणिकत्वसिद्धिः, तस्य विपक्ष व्यावृत्यनवगमात्............अक्षणिकस्याप्रतीतौ सत्वस्य ततो व्यावृत्तिप्रतीत्यसम्भवात्, यथा प्रतीयमाने जले तत्र वह्निधूमयोरभावप्रतीतिः, एवमक्षणिके दृश्यमाने क्रमयौगपद्याभावात्सत्वाभावः प्रत्येतव्यः। (न्याय कन्दली)

२. ....न चाक्षणिकस्तथाभूतोऽस्तीति व्यतिरेकासिद्धिः। तदसिद्धावन्वयस्याप्यसिद्धिस्तस्यास्तत्पूर्वकत्वादित्यसाधारणत्वं हेतोः। (न्याय कन्दली)

में अनेक कालों के संबंध का ग्राहक प्रत्यक्ष भ्रम रूप है। परन्तु बौद्ध दार्शनिकों के इस तर्क में अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। क्षणिक होने से भ्रम होता है और भ्रम होने से क्षणिकत्व का अनुमान होता है। इस प्रकार, इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष है।[१]

बौद्ध दार्शनिकों ने यह शंका की थी कि सहकारि कारण के रहने पर कारण, कार्य उत्पन्न करता है और सहकारिकारण के न रहने पर कार्य नहीं उत्पन्न करता है। अतः, एक ही कारण में कारकत्व और अकारकत्व दो विरोधी धर्म आ जाते हैं। परन्तु दो विरोधी धर्म एक ही वस्तु में रह सकते हैं। जैसे, अग्नि दाह का कारक और स्नान का अकारक भा हैं। इस कारकत्व और अकारकत्व से वह्नि में कोई अन्तर नहीं आता[२]।

बौद्धों ने सहकारिकारण के विषय में अनेक शंकायें उत्पन्न की है और उनके अनुसार कारण स्वयं कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है। परन्तु ध्यान से देखा जाय तो बौद्ध दार्शनिक भी सहकारिकारणों को स्वीकार करते हैं। बौद्ध के अनुसार भी बीज में अंकुरोत्पादन की योग्यता रखने वाले क्षण के सामर्थ्य को उत्पन्न करने के लिए जल सिंचन आदि की आवश्यकता होती है। इसका यही अर्थ निकलता हैं कि बीज स्वयं उसकी उत्पत्ति करने में असमर्थ है, उसको सहायक सामग्री की आवश्यकता होती है।[3]

यदि बौद्ध दार्शनिक यह मानते हैं कि प्रत्येक क्षण में रहने वाले बीज अनेक हैं, सुतराम् क्षण भी अनेक हैं; इन क्षण समूहों में से जो क्षण अंकुर के उत्पादन में असमर्थ हैं, उनमें अंकुर की उत्पादक शक्ति को जल और पृथ्वी रोकते हैं। परन्तु यह तर्क युक्तियुक्त नहीं है। यदि वह क्षण विशेष कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ है तो वह सदैव असमर्थ रहेगा चाहे उसकी शक्ति को जल और पृथ्वी रोके या नहीं।[४]

बौद्ध दार्शनिक न्याय-वैशेषिक के प्रति जैसी शंका करते हैं ठीक वैसी ही शंका बौद्ध मत में भी की जा सकती है। यदि कारण में स्वयं कार्योत्पादकत्व है तो उस बीज को प्रतिक्षण अंकुर की उत्पत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार, उत्पत्ति की पुनरूत्पत्ति का प्रश्न बौद्ध दर्शन में भी उठता है। हर क्षण उत्पत्तिशील होकर भी उत्पत्ति नहीं करता

---

१. स्थिते क्षणिकत्वे प्रत्यक्षस्य भ्रान्तता, तद्भ्रान्तत्वे च क्षणिकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यापेक्षता। (न्याय कन्दली)

२. यथा वह्नेर्दाहं प्रति कारकत्वमकारकत्वञ्च स्नानं प्रति, न च ताभ्यामस्य स्वरूपभेदः, तथैकस्यैव भावस्य सहकारिभावात्कारकत्वमकारकत्वञ्च तदभावात्। (न्याय कन्दली)

३. यद्यङ्कुरजननयोग्यक्षणोपजननाय बीजं स्वहेतुभ्यः समर्थमुपजातंकिमवनिसलिलाभ्याम् ? अथासमर्थम् ? तथापि तयोरकिञ्चित्करः सन्निधिः, स्वभावस्यापरित्यागात्। (न्याय कंदली)

४. न्याय कंदली।

दो वह कभी भी कार्य को नहीं उत्पन्न कर सकता है। बौद्ध मत में सहायक सामग्री से कारण में कार्योत्पादकत्व माना नहीं जाता। अतः जो कार्य की प्रत्येक क्षण उत्पत्ति नहीं करता उसमें वह सामर्थ्य कभी नहीं आ सकता। इस प्रकार, बौद्धों द्वारा अभिमत क्षणिक में ही अर्थक्रियाकारित्व है, यह हेतु अनेकान्तिक है। इसके विपरीत व्याप्ति भी बनती है, अक्षणिक में ही अर्थक्रियाकारित्व है।[१]

बौद्ध दार्शनिकों की विनाश के ध्रुवभावित्व की मान्यता का भी श्रीधर ने खण्डन किया है। 'विनाश ध्रुव भावी है अकृतक होने से' इसके ठीक विपरीत अनुमान किया जा सकता है 'विनाश ध्रुवभावी नहीं है कृतक होने से।' विनाश कारणों से उत्पन्न होता है इसलिए विनाश कभी होता है और कभी नहीं होता, उसे हम ध्रुव भावी नहीं कह सकते। बौद्धों का यह कथन है कि 'जिस हेतु से कार्य उत्पन्न होता है उसी में उसके विनाश का स्वभाव भी नियत रहता है अतः, उत्पन्न होते ही उसका विनाश हो जाता है, वस्तु विनाश स्वभाव वाली न होती तो उसका नाश कभी भी नहीं हो सकता। परन्तु यह तर्क असंगत है, इसके विपरीत उदाहरण मिलता है। सूर्योदय तथा सूर्यास्त ध्रुवभावी होते हुए भी कारण की अपेक्षा करते हैं। यदि वे हेतुओं की अपेक्षा न रखते तो वे भिन्न-कालिक नहीं होते। उदय और अस्त दोनों की एक क्षण में आपत्ति होती।[२]

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार वस्तु का विनाश ध्रुवभावी होता हैं। जिस हेतु से कार्य उत्पन्न होता है उसी में उसके विनाश का स्वभाव भी नियत रहता है, उसके लिए हेत्वन्तर की अपेक्षा नहीं होती। यदि विनाश को हेत्वन्तर की अपेक्षा होती तो उस हेतु के अभाव में विनाश का अभाव भी मानना पड़ेगा अर्थात् कृतक वस्तु का विनाश नहीं मानना पड़ेगा। विनाश वस्तु के स्वभाव में नियत रूप से रहता है और ध्रुव भावी है, यही कारण है कि उत्पत्ति के दूसरे क्षण में वस्तु का नाश हो जाता है।

श्रीधर के अनुसार विनाश के हेतु के अभाव में कृतक वस्तु को अविनाशी मानने का प्रश्न नहीं उठता है क्योंकि वस्तु विशेष के विनाश के अनेक हेतु हो सकते हैं, उन प्रत्येक वस्तु को हटाना सर्वथा असंभव है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के अनेक कारण हो सकते हैं—गोली लगना, जहर खाना, रोग आदि उन सभी कारणों को दूर करना सर्वथा असंभव है। कोई न कोई अज्ञात कारण उसकी मृत्यु कर ही देगा। विनाश के कृतिजन्य

१. न्याय कन्दली
२. यच्च ध्रुवभावित्वादभावस्य हेत्वन्तरानपेक्षेत्युक्तम्, तदपि सवितुरुदयास्तमयाभ्यामनैकान्तिकम्, तयोरनपेक्षत्वे हि कालभेदो न स्यात्। (न्याय कन्दली)

होने पर भी उसके ध्रुवभावित्व में कोई बाधा नहीं आती अतः, विनाश के ध्रुवभावित्व से वस्तु के क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं होती।[1]

तार्किक दृष्टि से देखा जाय तो अपरिवर्तनशील आधार के बिना परिवर्तन शील की व्याख्या नहीं की जा सकती। एक स्थान पर खड़े होकर ही तो हम सतत् हो रहे परिवर्तनों को देख सकते हैं। जब हम स्वयं भाग रहे हैं, स्वयं गतिशील है तो इस गतिशीलता का भान हमें कैसे हो सकता है। 'यदि बौद्ध दार्शनिकों से सहमत होकर हम ये मान लेते हैं कि संसार एक श्रृंखला है व सिलसिला है तो यह प्रश्न किए बिना नहीं रह सकते कि यदि प्रत्येक वस्तु नियन्त्रित है तो क्या अनियन्त्रित भी कुछ है ? बिना इसके कारण-कार्य सम्बन्ध का नियम स्वयं अपना विरोधी हो जाएगा। यदि प्रत्येक घटना दूसरी घटना के साथ उसके पर्याप्त कारण के रूप में सम्बद्ध है और वह फिर अन्य घटना के साथ सम्बद्ध हैं तो इस प्रकार से हमें किसी के लिए भी पर्याप्त स्वतंत्र कारण न मिलेगा। हमे किसी न किसी प्रकार कारण श्रृंखला से परे जाकर किसी ऐसे सत् पदार्थ का आश्रय ढूंढना होगा जो अपना कारण आप हो अर्थात् किसी नित्य सत्ता के विरोध में ही सत् का कथन करते हैं। इस प्रकार उस नित्य सत्ता के विषय में जिसके विरुद्ध क्षणिकत्व का कथन किया जाता है, स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है। अतः, हमें अवश्य स्वीकार करना होगा कि कोई एक नित्य तत्व है जो अपने को अभिव्यक्त करता है और अपने समस्त प्रक्रिया के अन्दर अपने अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को भी स्थिर रखता है। हर हालत में सत् तथा एकरूपता का सिद्धान्त मानना पड़ता है।

अरस्तु के मत में परिवर्तन के लिए एकरूपता को स्वीकार करना आवश्यक है। समस्त परिवर्तन के अन्दर कुछ स्थायी अवश्य रहना चाहिए जिसके अन्दर परिवर्तन संभव हो सके। बिना स्थायी तत्व को स्वीकार किए परिवर्तन हो सके यह हमें संभव प्रतीत नहीं होता। यही सत्य सिद्धान्त काण्ट भी प्रतिपादित करता है बिना स्थिर सत्ता के, काल के सम्बन्ध संभव नहीं है।

यदि हम क्षणिकता के विचार को स्वीकार करें तो हमें कारण-कार्य सम्बन्ध एवं नैरन्तर्य और उसके साथ स्थायित्व और एकरूपता को भी स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा संसार उच्छृङ्खल शक्तियों का नग्न नृत्य मात्र रह जाएगा और फिर उसको समझने के लिए सब प्रयत्न छोड़ देने पड़ेगें।

बुद्ध ने उपनिषदों के विचारकों के समान इस सापेक्ष क्रियमाण जगत् तक ही अपने ध्यान को सीमित रखने के कारण एक ऐसे सार्वभौम और विश्वव्यापी सर्वात्मरूप

---

१. अनन्तास्तु विनाशहेतवो नियतकालाश्च तेषां सर्वदा सर्वेषां प्रतिबन्धस्याशक्यत्वात् कश्चिदेको निपतत्येव। कालान्तरे च निपतितः क्षणेनैव भावं विनाशयतीत्युपपद्यते कृतकत्वेऽपि ध्रुवो विनाशः। (न्याय कंदली)

सत्ता की जो प्रत्येक मानव हृदय में धड़कन पैदा कर रही है और जो संसार का केन्द्र है, स्थापना नहीं की, केवल इसीलिए कि वह ज्ञान की पहुँच के बाहर है, हम निरपेक्ष परमसत्ता का निषेध नहीं कर सकते। यदि यह सब कुछ जो है नियन्त्रित है तो अवस्थाओं के शेष हो जाने पर सब शून्य हो जाएगा। उस निरूपाधिक सत् की खोज जिस पर यह समस्त सोपाधिक श्रृंखला आधारित है, करने के लिए हम बाध्य है। परन्तु उस निरूपाधिक सत् को हम आनुभाविक सत् से सर्वथा पृथक नहीं कर सकते नहीं तो वह असत् हो जाएगा। दो विरोधी गुणों की मध्यस्थता में ही वस्तुओं की सत्ता है। संसार को हम सत् और क्रियमाण से पृथक नहीं कर सकते। यदि दोनों में से किसी एक को पृथक् करने का हम प्रयत्न करेंगे तो सब कुछ अभावात्मक शून्य हो जाएगा।[1]

१. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन भाग १

माध्यमिक का शून्यवाद

जिस प्रकार शंकराचार्य ने परश्रुति में और अपर श्रुति में, पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट ने अनुभववाद और बुद्धिवाद में समन्वय प्रस्तुत किया, उसी प्रकार इन दोनों के पूर्व नागार्जुन ने समस्त प्रचलित पद्धतियों का द्वन्द्वात्मक पद्धति से विश्लेषण करके द्रव्यात्मक और पर्यायात्मक दृष्टियों का समन्वय शून्य में किया। चन्द्रकीर्ति के अनुसार समस्त माध्यमिक दर्शन प्रतीत्य-समुत्पाद का पुनर्विश्लेषण है। शून्यवाद कारणता का कोई सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत करता अपितु, द्वन्द्वात्मक विश्लेषण करके यह सिद्ध करता है कि कारणता परमार्थ का लक्षण नहीं है। नागार्गुन के शून्यवाद के तीव्र प्रहार से सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद, जैनों का सदसद्कार्यवाद, जड़वादियों का स्वभाववाद सभी ढहकर खण्ड-खण्ड हो जाते हैं।

माध्यमिकों के समक्ष समस्या यह है कि कारणता की धारणा क्या सत् है? उन्होंने कारणता का तार्किक विश्लेषण किया। तार्किक विश्लेषण कर प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ किया 'सापेक्षत्व' अर्थात् संसार की जितनी भी वस्तुयें हैं, वह कार्य-कारण की शृंखला में बंधी हुई है अर्थात् एक दूसरे पर निर्भर हैं। सापेक्षत्व का अर्थ है—शून्यत्व अर्थात् जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, सापेक्ष सत्ता हैं, वह असत् ही है।

माध्यमिकों ने कारणता का द्वन्द्वात्मक विश्लेषण कर उत्पत्ति को असंभाव्य बताया। उनके अनुसार उत्पत्ति चार तरह से ही संभव है; या तो उत्पत्ति स्वतः होती है या परतः या उभयतः या अनुभयतः। नागार्जुन के इसका तात्विक विश्लेषण करके यह बतलाया कि उपर्युक्त चारों ही प्रकार से उत्पत्ति संभव नहीं है।[1]

स्वतः उत्पत्ति का खण्डन

स्वतः उत्पत्ति के द्वारा नागार्जुन सांख्यों के सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं। सांख्य के अनुसार उत्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति, कार्य, कारण की ही व्यक्तावस्था है। कारण में कार्य उत्पत्ति के पूर्व रहता है। माध्यमिक यहां प्रश्न यह करते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व कारण में रहने वाला कार्य निष्पन्न है या अनिष्पन्न। यदि कार्य निष्पन्न है, तो उत्पत्ति की पुनः उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता और यदि कार्य अनिष्पन्न है तो उसका

---

१. (क) न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥ (माध्यमक शास्त्र १।३)
(ख) गौडपाद ने भी अजातिवाद की स्थापना करते समय उत्पत्ति का इसी प्रकार खण्डन किया है। (आगम शास्त्र ४।२२)

कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि कार्य निष्पन्न तथा अनिष्पन्न दोनों है तो इसका अर्थ होगा कि एक ही आधार में विरुद्ध धर्म रहते हैं ।[1]

सत्कार्यवादी कारण और कार्य में अभेद मानते हैं तथा दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं । परन्तु कारण और कार्य में तादात्म्य मान लेने पर किसी भी प्रकार की नवीनता नहीं रह जाएगी । नवीनता के न रहने पर उत्पत्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा । कारण और कार्य के अभिन्न होने पर हम यह नहीं कह सकेंगे कि यह कारण है और यह कार्य है ।[2] जब भेद समाप्त हो, जाएगा सांख्य द्वारा अभिमत सत्व, रजस् और तमस् गुण भेद भी समाप्त हो जाएगा । एक साथ उत्पत्ति और विनाश का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा तथा समस्त विश्व एक रूप हो जाएगा ।[3] नागार्जुन का यह कथन है कि कारण और कार्य में अभेद मानने पर हेतु और फल की व्यवस्था नहीं बन पाएगी । कर्त्ता और कार्य दोनों एक हो जायेंगे ।[4] गौडपाद के अनुसार स्वतः उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि घट अपने आप नहीं उत्पन्न हो सकता ।[5]

परतः उत्पत्ति का खण्डन

परतः उत्पत्ति के द्वारा माध्यमिक, नैयायिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं । उनके असुसार कारण में कार्य असत् है तो उसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।[6] गौडपाद के अनुसार असत् की उत्पत्ति माया से ही हो सकती है, तत्वतः नहीं । जिस प्रकार बन्ध्यापुत्र नहीं उत्पन्न हो सकता उसी प्रकार असत् की उत्पत्ति नहीं हो

---

१. (क) न च विद्यमानस्य पुनरूत्पत्तौ प्रयोजनं पश्यामः; अनवस्थां च पश्यामः ।
(चन्द्रकीर्ति व्याख्या म० शा० १।३)
(ख) तस्माद्धि तस्य भवने न गुणोऽस्ति कश्चिज्जातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम् ।
(मध्यमकावतार ६।८)

२. न हि यद्यस्माद्व्यतिरिक्तं तत्तस्य कारणं कार्यं वा युक्तम्; भिन्नलक्षणत्वात् कार्यकारणयोः । अन्यथा हि 'इदं कार्यमिदं कारणं वा' इत्यसङ्कीर्णव्यवस्था कथं भवेत । (तत्व संग्रह पंजिका)

३. अन्यथा भेदव्यवहारोच्छेद एव स्यात् । ततश्च सत्वरजस्तमसां चैतन्यानां च परस्परं भेदाभ्युपगमो निर्निबन्धन एव स्यात्, ततश्च सहोत्पत्तिविनाशप्रसङ्गः, एकयोगक्षेमलक्षणत्वादभेदव्यस्थानस्य । (तत्व संग्रह पंजिका)

४. माध्यमक शास्त्र २०।१९, २०।

५. (क) आगम शास्त्र ४।२२
(ख) गौड़पादकारिक ३।२८

६. नाभावस्य विकारोऽस्ति हेतुना किं प्रयोजनम् ।
तदवस्थः कथं भावः को वान्यो भवतां गतः । (प्रज्ञा पारमिता श्लो० १४७)

सकती ।[१] सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की उपर्युक्त समीक्षा से यह सिद्ध है कि दोनों ही विकल्पों का तार्किक विश्लेषण करने पर कारणता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता ।[२] आत्यन्तिक भेद और आत्मन्तिक अभेद दोनों ही कारणता की व्याख्या नहीं कर सकते । कारणता के लिए कारण और कार्य का एक काल में रहना आवश्यक है जो तार्किक दृष्टि से संभव नहीं है । अतः, कारणता मात्र एक कल्पना है, पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है ।[३] सांख्य सत्कार्यवाद स्वीकार कर तादात्म्य पर बल देते हैं तो नवीनता की संभावना नहीं रह जाती और नैयायिक असत्कार्यवाद स्वीकार कर पृथकत्व पर बल देते हैं तो दोनों में संबंध की व्याख्या नहीं हो पाती ।

इन उपर्युक्त दोनों विकल्पों का संयुक्त रूप जैनियों का सदसद्कार्यवाद भी दोषों से मुक्त नहीं है । वस्तुतः, इस सिद्धान्त में परस्पर विरोध है । भेद और अभेद सत् और असत् के योग से अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं ।

'वस्तु नःस्वतः उत्पन्न होती है न परतः' यह विकल्प भी तर्क संगत नहीं है । यदि इस मत को सिद्ध करने के लिए हम कोई तर्क नहीं देते तो इसका अर्थ होता है कि यह मत मात्र कल्पित है । यदि हम इस मत की पुष्टि के लिए तर्क देते हैं तो इसका अर्थ है कि हम कारण स्वीकार करते हैं ।[४]

इस प्रकार चार विकल्प उठाकर माध्यमिकों ने यह सिद्ध किया कि न स्वतः उत्पत्ति हो सकती है, न परतः, न उभयतः और न अनुभयतः । गौडपाद ने अजातिवाद की स्थापना के लिए उत्पत्ति के चार विकल्प बताकर उनका खण्डन किया है ।

(१) असत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे, शशशृंग से गन्धर्वनगर की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

(२) असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती । जैसे, शशशृंग से घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

१. असतो मायया जन्म तत्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्वेन न मायया वापि जायते ॥ (गौड़पाद कारिका ३।२८)

२. विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजनम् ।
अथाप्यविद्यमानोऽसौ हेतुना किं प्रयोजनम् ।

3. Pure identity or pure dlfference does not explain causation, they explain it away. Causation requires both at the same time and that is a logical impossibility. It is therefore a figment or imagination and purely subjective.

(Dr. A. K. Chatterje : Yogachara Idealism)

४. आगम शास्त्र ४।२२

(३) सत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जो वस्तु स्वयं सत् है उसकी उत्पत्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती ।

(४) सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, सत् मृत्तिका से मिथ्या असत् गन्धर्वनगर की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।[२]

सौत्रान्तिकों तथा वैभाषिकों का खण्डन

सौत्रान्तिकों तथा वैभाषिकों के बीच हुए विवाद से दोनों के दोष प्रकाश में आते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं के सुधार के रूप में माध्यमिकों के शून्यवाद का विकास हुआ ।

सर्वास्तिवादी यह मानते हैं कि कार्य किसी एक कारण से नहीं अपितु कारण सामग्री से उत्पन्न होता है तथा कारण और कार्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं । परन्तु माध्यमिकों के अनुसार सौत्रान्तिकों की यह मान्यता सर्वथा असंगत है। जब कारण और कार्य में किसी प्रकार का संबंध नहीं है, असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य को उत्पत्ति हो सकती है, पत्थर से भी अंकुर की उत्पत्ति हो सकती है ।[३] न तो एक कारण से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है न ही कारण-सामग्री से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि कारण और कार्य असम्बद्ध हैं ।[3]

नागार्जुन ने वैभाषिकों के क्षणभंगवाद का भी खण्डन किया है। वैभाषिकों के अनुसार कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य उत्पन्न होता है। बीज के नष्ट हो जाने पर अंकुर उत्पन्न होता है अर्थात् अभाव होने पर भाव की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से भी कारण और कार्य के संबंध की व्याख्या नहीं की जा सकती। कारण दूसरे क्षण में है और कार्य दूसरे क्षण में, तब दोनों में संबंध कैसे हो सकता है ? संबंध के लिए दोनों की सहकालिक स्थिति आवश्यक है ।[४]

उपर्युक्त शंका के उत्तर में वैभाषिक यह कह सकते हैं कि कारण के विनाश और कार्योत्पत्ति दोनों में किसी प्रकार का कालगत व्यवधान नहीं होता जैसे, तराजू के एक पलड़े के ऊपर जाने के साथ ही दूसरा पलड़ा नीचे आ जाता है उसी प्रकार कारण के नष्ट हो जाने के साथ ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह उदाहरण संगत नहीं है। तराजू के दो पलड़े की साथ-साथ प्रतीति होती है तथा दण्ड से जुटे हुए होते हैं। परन्तु

---

१. आगम शास्त्र ४।३८-४०

२. माध्यमक शास्त्र २०।२०

३. माध्यमक शास्त्र २०।२-४

४. अस्ति अङ्कुरश्च न हि बीजसमाकालः बीजं कुतः रत्यास्तु विना परत्वम्; जन्माङ्कुरस्य न हि सिद्ध्यति तेन बीजात्, सन्त्यज्ञातम् परत उभवतीति पक्षः ।
(माध्यमकावतार ६।१७)

वैभाषिकों के अनुसार कारण और कार्य कभी भी साथ-साथ नहीं रहते। दोनों उदाहरण में बहुत अन्तर हैं अतः, उसके आधार पर हम क्षणभंगवाद को नहीं सिद्ध कर सकते।

तथोक्त दोष को दूर करने के लिए यह कहा जा सकता है कि कारण से क्रिया उत्पन्न होती हैं और पुनः उस क्रिया से ही कार्य उत्पन्न होता है। अतः, दोनों में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता।[1] इस तर्क से समस्या का समाधान नहीं होता अपितु, अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती है। उस अवस्था में यह प्रश्न उठता है कि कारण के द्वारा क्रिया की उत्पत्ति कब होती है कार्य की उत्पत्ति के बाद क्रिया की उत्पत्ति का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व यह क्रिया रहती है तो प्रश्न उठता है कि इसका अस्तित्व कहां है और कैसे है ? कारण के साथ तो उसकी क्रिया रह नहीं सकती क्योंकि कारण उसको उत्पन्न करके पहले ही नष्ट हो चुका है। यह क्रिया कार्य के साथ भी नहीं रह सकती क्योंकि कार्य अभी उत्पन्न नहीं हुआ हैं। कार्योत्पत्ति क्षण में नहीं रह सकती क्योंकि पौर्वापर्य क्षण के अतिरिक्त अन्य कोई क्षण नहीं है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि कारण और कार्य को क्षणिक क्रम बद्ध घटना मान लेने पर उनके बीच के अन्तराल या काल व्यवधान को दूर नहीं किया जा सकता है और काल व्यवधान होने से कारण और कार्य के संबंध की व्याख्या नहीं की जा सकती।

वैभाषिकों के अनुसार अनेक सहकारि-प्रत्यय मिलकर ही किसी कार्य की उत्पत्ति कर सकते हैं। परन्तु यहाँ पर एक शंका उठती हैं कि वह कौन सी शक्ति है जो सहकारि-कारणों को सम्बद्ध होकर एक निश्चित कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। यदि सहकारियों को सम्बद्ध करने के लिए अन्य कारण की आवश्यकता होती है तो इस प्रेरक कारण के लिए भी अन्य कारण की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[3] बौद्ध दार्शनिक न्याय की तरह निमित्त कारण भूत ईश्वर की कल्पना भी नहीं करते। अतः, कारणों के परस्पर संयुक्त होकर निश्चित कार्य उत्पन्न करने की व्याख्या नहीं की जा सकती हैं।

गौडपाद ने प्रतीत्य-समुत्पाद के खण्डन के लिए निम्न युक्तियां दी हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है 'परस्पराश्रयित्व'। अर्थात् कारण कार्य पर निर्भर है, कार्य कारण पर। कारण से कार्य उत्पन्न होता हैं और कार्य से कारण अतः, प्रतीत्य समुत्पाद की

---

१. (क) माध्यमिक कारिका वृत्ति
(ख) माध्यमिक कारिका १, ४
(ग) मध्यमकावतार

२. माध्यमिक कारिका वृत्त

३. माध्यमिक कारिका १, ५
माध्यमिक कारिका वृत्ति

दृष्टि से कारण-कार्य भाव को हम अनादि नहीं मान सकते। कारण और कार्य परस्पराश्रित भी है और अनादि, ये दो विरोधी बातें एक साथ नहीं हो सकती।[1]

उत्पत्ति दो ही प्रकार से संभव हो सकती है। क्रम से या अक्रम से। प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के द्वारा दोनों ही दृष्टियों से कारणता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। कारण और कार्य एक साथ रहते हैं अतः, हम दोनों में कारण-कार्य भाव मानते हैं तो साथ-साथ स्थित गाय के दोनों सींग में भी कारण-कार्य भाव मानना पड़ेगा। कारण और कार्य में किसी प्रकार का क्रम भी निर्धारित नहीं किया जा सकता है। कारण का कार्य की उत्पत्ति के बाद रहना निरर्थक है। कारण का कार्य की उत्पत्ति के पूर्व रहना भी निरर्थक है क्योंकि कारण की कारणता कार्य को उत्पन्न करने में हैं।

इन सभी तार्किक विश्लेषण के बाद नागार्जुन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्पत्ति स्थिति और विनाश माया हैं, स्वप्न है, गन्धर्व नगर की भाँति है।[२] हम बार-बार बीज से अंकुर को उत्पन्न होते हुए देखते हैं तो हमारे मस्तिष्क में एक अभ्यास सा बन जाता हैं। अतः, हम इसके विपरीत नहीं सोच सकते। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मस्तिष्क के इस अभ्यास या आदत को कारण-कार्य भाव मान लेना तार्किक नहीं है। डा० मूर्ति के अनुसार यह अभ्यास जन्य विश्वास हमारी ज्ञानेन्द्रियों को शिथिल तथा निश्चेतन कर देता है और वस्तु के वास्तविक रहस्य को हमसे छिपा देता है।[3] कोई भी सिद्धान्त इस तथ्य की व्याख्या नहीं करते कि कार्य क्यों होता है? कैसे होता है?

गौडपाद के अनुसार श्रुति भी कारण और कार्य का निषेध करती है।[४] इस प्रकार कारण और कार्य व्यवहार में माया के द्वारा उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार स्वप्न काल में मन माया से ही द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है।

कारण और कार्य को हम बार-बार साथ-साथ देखते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं

---

२. आगम शास्त्र ४।१६

३. यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा तथोत्पादः तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः। (गौडपाद कारिका ७।३४)

1. The difficulty is almost insurmountable, as Buddhism, unlike Nyāya, dose not accept God or other conscious and universal co-ordinating agency.(Dr. T. R. V. Murti : The Central Philosophy of Bnddhism,)

२. संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते।
कोन्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते॥ गौडपाद कारिका ३।२५

कि कारण, कार्य को उत्पन्न करता है अपितु, कारण कार्य का संकेत करता है, कारण, कार्य की उपस्थित को ज्ञापित करता है।[1]

एक बात सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि यह द्वन्द्वात्मक विश्लेषण करके कारण कार्य भाव का निषेध मात्र परमार्थ दृष्टि से किया गया है व्यवहार की दृष्टि से नहीं। व्यावहारिक जगत् में कारण-कार्य भाव स्वीकार करते हैं। गौडपाद के अनुसार अजाति का तभी अर्थ हो सकता है जब जाति हो। कारण-कार्य भाव रहेगा ही नहीं तो माध्यमिक उसका द्वन्द्वात्मक विश्लेषण कैसे करेंगे ? वे मात्र परमार्थ की दृष्टि से कारण-कार्य भाव को आभास मात्र मानते हैं। परमार्थ में न निरोध है न उत्पत्ति, न एक है, न अनेक, न आगम है, न निर्गम। शून्यवाद के खण्डात्मक द्वन्द्ववाद का निष्कर्ष है कि कारण और कार्य दोनों सापेक्षिक हैं। सापेक्षिक होने से स्वतः सिद्ध नहीं हैं, स्वतः सिद्ध न होने से उनकी कोई सत्ता नहीं है।[2] उनसे अनुसार परमार्थिक सत् केवल शून्य हैं जो चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है तथा जो कारणता ही नहीं समस्त बुद्धि विकल्पों से परे है। उसे जगत् कारण भी नहीं कहा जा सकता, वह प्रपंचातीत हैं। उसे सविकल्प बुद्धि की धारणा-में नहीं बाँध सकते औरक ारणता का सिद्धान्त भी वहाँ वृथा सिद्ध हो जाता है।

---

१. तथा च ज्ञापितस्यान्यद् उत्पादकम् वक्तव्यं तच्च स्थिरपक्षेऽपि सत्यपि च भोक्तृ अधिष्ठातारं चेतनाम् अन्तरेण न सम्भवति, किम् अङ्ग पुनः क्षणिकेषु भावेषु। (भामती)

Quoted from T. R. V. Murti's 'The Central Philosophy of Buddhism',

२. अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदम् शाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागमं निर्गमम्। (माध्यमक शास्त्र १।१)

जैन दर्शन

अभी तक हमने न्याय, सांख्य, बौद्ध और वेदान्त के कारणता के सिद्धान्त पर विचार किया है। ये सभी एकान्तवादी दर्शन हैं। अब इस परिच्छेद में हम जैन दर्शन के कारणता के सिद्धान्त का अध्ययन करेगें जिसने भारतीय दर्शन को एक नयी दृष्टि दी। जैन ने अपने सापेक्षवादी और अनेकान्तवादी दृष्टि से सत्-असत्, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य इत्यादि विरोधी प्रत्ययों के बीच समन्वय स्थापित किया है। जैन ने अनेकान्तवाद का समर्थन नयवाद और स्याद्वाद इन दो सिद्धान्तों के माध्यम से किया है।

अनेकान्तवाद की तात्विक दृष्टि यह है कि सभी वस्तुओं के अनेक धर्म हैं। जैसे घट में अपने भाव रूप धर्म, घटगत रूप, क्रिया आदि तथा अभाव रूप धर्म, घट के अतिरिक्त संसार में जितनी भी वस्तुएं हैं उनका घट में अभाव। इस प्रकार के अनेक धर्मो का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता, सापेक्ष का ही ज्ञान होता है। इन सब सापेक्षों को सम्मिलित करने पर ही पूर्ण ज्ञान हो सकता है जो किसी भी व्यक्ति के लिए असंभव है। जैसे—अनेक अन्धे व्यक्ति एक हाथी को स्पर्श करते हैं—उनमें से एक उसके कान को पकड़ता है और कहता है 'यही हाथी है' दूसरा उसके पंछ को और तीसरा उसके सूड़ को पकड़कर हांथी समझता है। वस्तुतः, इनमें से कोई भी हाथी नहीं है, उनमें से किसी ने भी हाथी के सम्पूर्णरूप को नहीं समझा, सबने उसके आंशिक रूप को ही समझा है।

भारतीय दर्शन में सत् का स्वरूप क्या ? परिवर्तनशील धर्म सत् है या अपरिवर्तनशील धर्मी, इसको लेकर बौद्ध और वेदान्त में बहुत संघर्ष चला। बौद्ध दर्शन के अनुसार सत्ता का अर्थ परिवर्तनशीलता है, परिवर्तित होने वाले धर्म विशेष ही यथार्थ है, धर्मी अयथार्थ मानस कल्पना मात्र है। वेदान्त उसके सर्वथा विपरीत है, अपरिवर्तनशील सामान्य ही सत् है, धर्म मिथ्या। दोनों (दर्शन) दो अन्त हैं तथा साधारण अनुभव से परे है। दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, इन दोनों में से किसको मान्यता दी जाय ऐसा निर्णय करना असंभव है। अब जन साधारण के लिए व्यवहार की दृष्टि से एक विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। इसी के समाधान स्वरूप जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का जन्म हुआ। जैन ने धर्मी-धर्म, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य का समन्वय किया। उनके मत में भिन्न-भिन्न दृष्टि से अपरिवर्तनशील धर्मी सामान्य भी सत् है तथा परिवर्तनशील धर्म भी सत् है। अपने स्थायी द्रव्यों की दृष्टि से वस्तु नित्य है तथा परिवर्तनशील पर्यायों की दृष्टि से अनित्य हैं। द्रव्य में स्थिर जो धर्म है, उसे गुण कहते है तथा जो परिवर्तनशील धर्म है उन्हें पर्याय कहते हैं। गुण और पर्याय से युक्त होना ही द्रव्य का लक्षण है।

अतः, जैन दर्शन के अनुसार सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।[1] प्रत्येक द्रव्य की

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। (तत्वार्थ सूत्र ५।३०)

तीन अवस्थायें होती हैं। पूर्व पर्याय का नाश और उत्तरपर्याय का उत्पाद होता है। उत्पाद और नाश ये परिवर्तन के दो पहलू हैं। अतः, एक अवस्था परिवर्तन की है। तीसरी ध्रौव्य शक्ति है जो द्रव्य की मौलिकता को सुरक्षित रखती है, उसको अपरिवर्तनशील अवस्था कहते हैं। ध्रौव्य शक्ति के द्वारा जो वस्तु में नित्यता या स्थिरता है वह कूटस्थ और अपरिणामी नित्यता नहीं है। उसकी नित्यता इस दृष्टि से है कि उसकी परिवर्तन धारा में कभी समूलोच्छेद नहीं होता।[1] जैसे, मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है उस समय पूर्व मृत्तिका का नाश होता है, उसके बाद घट उत्पन्न होता है तथा मृत्तिका अपने स्वरूप से घट में स्थिर रहती है। घट के नष्ट हो जाने पर भी मृत्तिका का नाश नहीं होता।

इस प्रकार, जैन के अनुसार वेदान्त और बौद्ध दोनों ही सत्य के दो पंख हैं, दोनों में से किसी भी पंख के अभाव में सत्य रूपी पक्षी उड़ नहीं सकता। दोनों ही अपने अपने सिद्धान्त में दृढ़ हैं, परन्तु पूर्ण नहीं हैं।

सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद

जैन ने कारणता की व्याख्या दो दृष्टि से की है—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। वह द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सत्कार्यवाद और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से असत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। अपने अनेकान्त और सापेक्ष दृष्टि से जैन सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का समर्थन करता है।

जैन सांख्य के इस विचार से सहमत है कि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है। घट की उत्पत्ति के बाद भी मृत्तिका रहती है। अतः, मृत्तिका (द्रव्य) की दृष्टि से कार्य की नवीन उत्पत्ति नहीं होती। घट के नष्ट हो जाने पर भी मृत्तिका का नाश नहीं होता। द्रव्य की दृष्टि से न असत् की उत्पत्ति होती है न ही सत् का विनाश होता है।[2]

जैन की सापेक्ष और अनेकान्त दृष्टि सत्कार्यवाद को स्वीकार करके ही तुष्ट नहीं हो जाती। सत्कार्यवाद आंशिक रूप से द्रव्य की दृष्टि से ही सत् है, पूर्ण सत् नहीं है। पर्याय की दृष्टि से सत्कार्यवाद मान्य नहीं है। पर्याय की दृष्टि से जैन ने असत्कार्यवाद स्वीकार किया है अर्थात् पर्याय की दृष्टि से सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है। उदाहरणार्थ, मृत्तिका में घट अपने आकार प्रकार से नहीं रहता, उसकी नवीन उत्पत्ति होती है तथा इस उत्पन्न घट का विनाश भी होता है।

---

१. मङ्गल देव शास्त्रीः जैन दर्शन

२. भावस्सणात्थिणासो णात्थि अभावस्सचेव उत्पादो

(पंचस्तिकायसार श्लो० १५)

एव सदो विणासो असदो जीवस्स णात्थि उत्पादो (पंचस्तिकायसार श्लो० १९)

इसप्रकार, पूर्ण कारणता की अभिव्यक्ति सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के समन्वय में ही होती है, किसी एक के अभाव में नहीं होती। भिन्न-भिन्न दृष्टि से सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों सत्य हैं, परन्तु पूर्ण सत्य दोनों के समन्वय में हैं।

जैन के अनुसार कारण और कार्य में, तन्तु और पट में न तो अत्यन्त भेद हैं न अत्यन्त अभेद, कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। मृत्तिका (द्रव्य) की दृष्टि से तन्तु और पट में कोई भेद नहीं है, परन्तु आकार-प्रकार, प्रयोजन आदि की दृष्टि से दोनों में भेद है। इसका विस्तार से विवेचन पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है।

जैन दर्शन के अनुसार कारण और कार्य के बीच न तो तादात्म्य है न दोनों के बीच समवाय संबंध हैं। कारक और कार्य का यह स्वभाव है कि दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। इसका विवेचन भी पहले किया जा चुका है।

जैन मत में कारण के भेद

जैन उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों पर समान रूप से बल देता है। सत्कार्यवादी की तरह न तो उपादान कारण पर अधिक बल देता हैं न असत्कार्यवादी की तरह निमित्त कारण पर अधिक बल देता है। वैसे तो न्याय के लिए तीनों ही कारण अत्यन्त आवश्यक है लेकिन कार्य की नवीनता की दृष्टि से निमित्त कारण को महत्वपूर्ण मान लेते हैं। सांख्य उपादान कारण पर ही अधिक बल देते हैं क्योंकि वहीं कारण और कार्य में समान रूप से उपस्थित रहते हैं। जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि उपादान कारण का संबंध द्रव्य से है और निमित्त कारण का संबंध पर्यायों से हैं। निमित्त कारण पर्यायात्मक परिवर्तन ही करता है, लेकिन कोई आन्तरिक परिवर्तन नहीं करता, द्रव्य या उपादान ही उसके परिवर्तन की आधार भूमि है। अतः, पर्याय की अपेक्षा से निमित्त कारण और द्रव्य की अपेक्षा से उपादान कारण का महत्व है। कारण की व्याख्या करने के लिए दोनों का समान रूप से महत्व हैं। द्रव्य और पर्याय दोनों का सम्मिलित रूप ही वस्तु है। इसी प्रकार, उपादान कारण और निमित्त कारण, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाव रूप ही कारणता के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं।

जैन मत की आलोचना

शंकर तथा शान्तरक्षित ने जैन के इस अनेकान्तवाद की आलोचना की है। दो विरोधी तत्व भेद और अभेद, सत् तथा असत्, नित्य और अनित्य एक ही आधार में नहीं रह सकते।[1] शिवादित्य का कथन है कि सत्य और असत्य एक दूसरे के शीत और उष्ण

१. (क) तदभावश्चातद्वाहः परस्परविरोधतः। एकवस्तुनि नैवायं कथं चिद् अवकल्पयते विधानप्रतिषेधौ हि परस्परविरोधिनौ। शक्यम् एकत्र नो कर्त्तुं केनचित् स्वस्थचेतसा।
(ततर्कसंग्रह भाग २ श्लो० १७२९, १८३०)

(ख) ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।२।२३

की तरह प्रतिरोधी है। अतः, दोनों एक ही आश्रय में नहीं रह सकते।[1]

अनेकान्तवाद स्वीकार करने पर संशय बना रहता है, कोई निश्चित धारणा नहीं बन पाती। भेद और अभेद दो तरह की विचारधारा मन में बनी रहने से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता।[2]

पूर्वपक्षी तीसरा आक्षेप यह लगाते हैं कि एक अधिकरण में दो विरोधी स्वभाव वाले वस्तुओं के रहने से व्यधिकरण दोष आ जाता है। साथ ही एक ही आधार में दो विरोधी तत्वों के रहने से व्यतिकर दोष भी आ जाता है अर्थात् भेद और अभेद दोनों के एक साथ रहने से दोनों के स्वभाव का परस्पर आदान-प्रदान हो जाता है।[3]

प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्षी द्वारा उठाई गई सभी शंकाओं का समाधान तर्क पूर्ण ढग से किया है। एक आश्रय में दो विरोधी तत्वों के रहने से जैन-दर्शन के अनुसार कोई आपत्ति नहीं उठती। जैन ऐसा कभी भी नहीं कहता कि कारण और कार्य में एक ही समय में और एक ही दृष्टि से भेद हैं और अभेद भी है। कारण और कार्य में भेद पर्याय की दृष्टि से है और अभेद द्रव्य की दृष्टि से है। इस प्रकार, एक वस्तु की दो दृष्टियाँ हो सकती है।[4] किसी वृक्ष के पत्तों को हिलते हुए देखकर हम कहते हैं कि वृक्ष हिल रहा है। परन्तु वस्तुतः, वृक्ष की दृष्टि से वह स्थिर है तथा पत्तों की दृष्टि से वह हिल रहा है। वृक्ष की अपनी सत्ता की दृष्टि से ज्ञान होता है दूसरे उसके सभी अवयवों की अपेक्षा से उसका ज्ञान होता है। वही वृक्ष दूर से एक दिखाई देता है, परन्तु समीप आने पर शाखादि की अपेक्षा से अनेक दिखाई देता है। इस प्रकार, भेद और अभेद का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है।[5]

अनेक दृष्टियां मानने पर संशय होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। संशय तब होता है जब किसी वस्तु की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है। जैसे, अंधेरे में स्थाणु के ठीक से न दिखाई देने पर यह सन्देह होता है कि यह स्थाणु है या पुरुष। परन्तु प्रकाश में स्थाणु के दृष्टिगोचर होने पर इस प्रकार का सन्देह नहीं होता। इसी प्रकार, भेद और अभेद जब दोनों स्पष्ट दिखाई देते हैं तब इनमें सन्देह नहीं होता।[6]

---

१. सत्वासत्वयोः परस्परपरिहारेण स्थितत्वात् शीतोष्ण स्पर्शवत्। (तर्क रहस्य दीपिका)
२. सर्वेषां युगपत् प्रतिपतिः सङ्करः (सप्त भङ्ग तरंगिणी)
३. परस्परविषयगमनं व्यतिकरः (सप्त भङ्ग तरंगिणी)
४. प्रमेय कमल मार्तण्ड
५. प्रमेय कमल मार्तण्ड
६. भेदाभेदाऽप्रतीतौ हि संशयोयुक्तः, क्वचित्स्थाणुपुरुषत्वाप्रतीतौ तत्संशयवत्। तत्प्रतीतौ तु कथमसौ स्थाणुपुरुषप्रतीतौ तत्संशयवदेव? (प्रमेय कमल मार्तण्ड)

सत्व और असत्व दोनों साथ-साथ रहते हैं इनमें कोई विरोध नहीं है। वही वस्तु स्वरूप से सत् तथा पर रूप से असत् हो सकती है। जैसे, घट, घटरूप से सत् है लेकिन पट या घट के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की दृष्टि से असत् है। वस्तु का स्वरूप इन सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं द्वारा निर्धारित होता है, किसी एक के अभाव में नहीं होता। 'पट है' ऐसा कहने के लिए हमे यह भी कहना चाहिए कि 'पट घट नहीं है' तभी उसके पूरे स्वरूप का निर्धारण हो पाएगा।[1]

यह तर्क युक्तियुक्त नहीं कि शीत और उष्ण की तरह भेद और अभेद में परस्पर विरोध है तो उनकी एक साथ स्थिति नहीं हो सकती। दो विरोधी वस्तुयें भी एक साथ एक ही अधिकरण में रह सकती हैं। जैसे, किसी जलते हुए धूपदानी का एक भाग (जहां धूप जल रहा है) गरम हो सकता है तथा कुछ नीचे का भाग शीतल भी हो सकता है।[2] इस विरोध के होने पर भी धूपदानी अवयवी में भेद नहीं होता। इसी प्रकार, कारण और कार्य का भेदाभेद स्वरूप एक ही आश्रय में रह सकता है।

भेद और अभेद की आधार में प्रतीति होती है व्यतिकर दोष नहीं होता। भेद और अभेद की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः, दोनों के धर्मों का परस्पर आदान-प्रदान नहीं होता।[3]

इस प्रकार, बौद्ध और वेदान्त द्वारा उठाई गई, शंकाओं के समाधान से जैन के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलती है। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि जैन ही सर्वांगीण दर्शन है तथा इसे ही पूर्ण सत्य का ज्ञान है। जैन दो विरोधी बातों का समन्वय भी ऐसे तर्क पूर्ण ढंग से करता है कि उसमें कोई दोष नहीं दिखाई देता। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अनेकान्त ही कार्य-कारण के सिद्धान्त का अन्तिम सत्य है।

जैन ने जिस प्रकार सापेक्षवाद को स्वीकार किया है उसी प्रकार शून्यवाद,

---

१. न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोस्ति। न खलु वस्तुनः सर्वथा भाव एव स्वरूपम्; स्वरूपेणेव पररूपेणापि भावप्रसङ्गात्।
(प्रमेय कमल मार्तण्ड)

२. एकाधारतया चैकस्मिन्नपि हि धूपदहनादिभाजने क्वचित्प्रदेशे शीतस्पर्शः क्वचिच्चोष्णस्पर्शः प्रतीयत एव। अथानयोः प्रदेशयोर्भेद एवेष्यते; अस्तु नामानयोर्भेदः, धूपदहनाद्यवयविनस्तु न भेदः। न चास्य शीतोष्णस्पर्शाधारता नास्तीत्यमिधातव्यम्; प्रत्यक्षविरोधात्। तन्न सर्वथा विरोधः। कथञ्चिद्विरोधस्तु सर्वत्र समानः।
(प्रमेय कमल मार्तण्ड)

३. (नापि वैयधिकरण्यम्; निर्बाधबोधे भेदाभेदयोः सत्वासत्वयोर्वा एकाधारतया प्रतीयमानत्वात्। (प्रमेय कमल मार्तण्ड)

विज्ञानवाद और अद्वैत वेदान्त ने भी व्यावहारिक ज्ञान के लिए सापेक्षत्व को आवश्यक माना है। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने व्यवहार और परमार्थ, भौतिक और तात्विक- सापेक्ष और निरपेक्ष, संवृत्ति और परमार्थ, परतंत्र और परिनिष्पन्न में भेद किया है, परन्तु जैन इनमें भेद करने से साफ इनकार कर देता है।[1] जैन व्यावहारिक सापेक्ष जगत तक ही सीमित रह जाता है। परन्तु माध्यमिक और वेदान्ती इससे आगे बढ़कर यह भी बतलाते हैं कि सापेक्षता से परे निरपेक्ष भी है यदि निरपेक्ष सत् तक पहुँचना है तो सापेक्ष सत् से ऊपर उठना होगा, व्यवहारिक जगत् से पारमार्थिक जगत् में आना होगा।

जैन का अधूरा चिन्तन उसके सप्तभंगी न्याय में ही झलकता है। वह अनेक एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है और उनके वैषम्य को उचित संश्लेषण के द्वारा दूर करने का प्रयत्न नहीं करता।[२]

सत्कार्यवाद के खण्डन के लिए जैन दार्शनिक वही तर्क देते हैं जो बौद्ध सत्कार्यवाद के खण्डन और असत्कार्यवाद की स्थापना के लिए देते हैं। इसी प्रकार वे असत्कार्यवाद के खण्डन के लिए वही तर्क देते हैं जो वेदान्ती सत्कार्यवाद के समर्थन और असत्कार्यवाद के असमर्थन के लिए देते हैं। जैन दार्शनिक अपना कोई तर्क नहीं देते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जैन दार्शनिक सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों के दोषों को दूर करने में असमर्थ हैं। दोनों का संगुफन न करके उनको एक साथ रख देते हैं।[3] परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या पूर्ण सत्य आंशिक सत्यों का संयोग मात्र है या उससे ऊपर भी कोई वस्तु है ? वस्तुतः जैन की सदसदात्मक भेदाभेदात्मक, दृष्टि अनेकान्तवाद का ही समर्थन करती है।

---

1. C. D. Sharma : Critical Survey of Philosophy,
२. एम० हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा
3. But the difficulty is that the nayās have not been wovesn together; they have been simply put togcthcr.

C. D. Sharma : A Critical Survey of Indian Philosophy,

चार्वाक दर्शन

न्याय-वैशेषिक, सांख्य योग, वेदान्त, बौद्ध, जैन सभी दार्शनिकों ने कारणता के सिद्धान्त को स्वीकार किया हैं। उनके कारणता के सिद्धान्त पृथक्-पृथक् है परन्तु कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति को सभी स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में अकेला चार्वाक ही कारणता के सिद्धान्त को स्वाभाविक मानता है। चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। प्रमाण्यवाद के आधार पर ही चार्वाक दर्शन में 'स्वभाववाद' का प्रतिपादन किया गया है। उनके अनुसार कारण और कार्य का संबंध मिथ्या कल्पना मात्र है। अग्नि से दाह उत्पन्न होता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि अग्नि और दाह में कारण-कार्य भाव है या दोनों में संबंध है क्योंकि हमें ऐसे किसी अनिवार्य संबंध का प्रत्यक्ष नहीं होता है। 'क' के बाद सदैव 'ख' आता है तो हम मात्र इतना ही कह सकते हैं कि 'क' 'ख' का पूर्ववर्ती है, हम यह नहीं कह सकते कि 'क' 'ख' का कारण है। अनेक कारण और कार्य का उदाहरण देख लेने पर भी हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि 'क' 'ख' का कारण है ;क्योंकि उस व्याप्ति में कोई न कोई व्यभिचार आ जाता है।

चार्वाक दार्शनिक स्वभाववाद और यादृच्छवाद का प्रतिपादन करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि चार्वाक कारणता का बहिष्कार करते हैं और वस्तुओं की आकस्मिक उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। तन्तु पट को उत्पन्न करता है क्योंकि वह उसका स्वभाव है। चार्वाक जड़ को ही एकमात्र परमतत्व मानते हैं। जिस प्रकार कांटों में तीक्ष्णता, पर्वत के गेरू आदि घातु द्रव्य में विचित्रता, पत्थरों में चिकनाहट, बिना निमित्त कारण के दिखाई देते हैं उसी प्रकार शरीरादिको की रचना भी बिना निमित्त के होती है। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये ही चार महाभूत हैं जिनसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है और इनसे ही चैतन्य तत्व उत्पन्न हुआ है।

---

१. न च काकतालीयत्वादिशङ्काव्युदासार्थम् द्वितीयादिदर्शनापेक्षेऽति वाच्यम्, द्वितीयादिदर्शनेऽपि शङ्कातादवस्थात्। (तत्व चिन्तामणि भाग २)
Quoted from S. Bhauri's Studies In Nyāya Vaisesika Metaphysic, p.

२. न्याय कुसुमाञ्जलि प्र० भाग १

३. न्याय मञ्जरी भाग १

आकस्मिकत्वाद के अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति केवल अकस्मात् ही नहीं होती अपितु स्वाभाविक रूप से होती है अर्थात् वस्तु अपने स्वभाव से ही किसी विशेष परिस्थिति में उत्पन्न होती है, उत्पत्ति के पूर्व उसका अभाव रहता है। इस दृष्टि से चार्वाकों के सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहा जा सकता हैं, प्रत्येक वस्तु स्वभावतः उत्पन्न होती है इसका तात्पर्य यह है कि ऐच्छिक रूप से वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। चार महाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति उनके संयोग मात्र से स्वाभाविक रूप से हो जाती है, उसके लिए किसी वाह्य कारण ईश्वरादि की अपेक्षा नहीं होती। कार्य की स्वाभाविक रूप से उत्पत्ति मानने पर किसी प्रकार के निमित्त कारण के कल्पना की आवश्यकता भी नहीं है, जड़ परमाणुओं का संघटन और विघटन स्वाभाविक रूप से होता है।

चार्वाक के अनुसार कारणता की प्रामाणिकता को प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। कुछ घटनाओं के पौर्वापर्य क्रम को देखकर उसके आधार पर कारण-कार्य के निश्चित संबंध का हम प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं क्योंकि संसार में अनेक ऐसी घटनायें है जिनका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता, हो सकता है असंख्य अप्रत्यक्ष घटनाओं में से कोई एक घटना ऐसी हो जिसमें विशिष्ट नियत पौर्वापर्य क्रम का व्यभिचार हो। भूतकाल में दो घटनायें एक क्रम में हुई हो परन्तु संभव है कि उन दो घटनाओं में भविष्य में क्रमिक संबंध न हो। अतः, चार्वाक मत में कारणता की धारणा काल्पनिक हैं, प्रामाणिक नहीं।

चार्वाक दर्शन का यह स्वभाववाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन में बड़े आलोचना का विषय रहा हैं। चार्वाक कारणता के सिद्धान्त का खण्डन प्रत्यक्ष के आधार पर करता है। परन्तु कारणता का सिद्धान्त अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं। कोई वस्तु प्रत्यक्ष गोचर नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उस वस्तु की सत्ता ही नहीं है। एक दार्शनिक की दृष्टि स्थूल जगत् तक ही नहीं सीमित रहती हैं। चार्वाक अनुमान प्रमाण का खण्डन करता है। उनके अनुसार व्याप्ति जिसके द्वारा हम अनुमान करते हैं वह व्याप्ति नहीं बन सकती है, कहीं न कहीं कोई न कोई व्यभिचार अवश्य होता है। शून्यवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्तियों ने भी अनुमान की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया है, परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि बौद्ध ओर वेदान्त ने परमार्थ में अनुमान ही नहीं प्रत्यक्ष की भी प्रामाणिकता को अस्वीकार किया है। व्यवहार में अनुमान की प्रामाणिकता को वे भी स्वीकार करते हैं। समस्त विचार, वाद-विवाद, सिद्धान्त, मान्य और अमान्य विचार सभी अनुमान के द्वारा सिद्ध किए जाते हैं। विचारादि अमूर्त विषय हैं उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अतः, सभी दार्शनिक उसको अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध करते हैं। चार्वाक यदि अनुमान को अस्वीकार करता है तो उसमें स्वात्मविरोध है। चार्वाक द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष भी कभी-कभी प्रमाणित नहीं होता है। हम पृथ्वी को चपटी देखते हैं परन्तु वह गोल है। पृथ्वी हमको स्थिर दिखाई देती है परन्तु वह सतत् सूर्य के चारो ओर घूमती रहती है। सूर्य हमको तश्तरी के आकार का दीखता है परन्तु वस्तुतः

वह बहुत बड़ा है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष का अनुमान से विरोध है। शुद्ध प्रत्यक्ष तो संभव ही नहीं है, शुद्ध प्रत्यक्ष निर्विकल्प संवेदन मात्र होता है। अतः, चार्वाक का प्रत्यक्ष के आधार पर कारणता का खण्डन करना सर्वथा असंगत है।[1]

भारतीय दर्शन में नैयायिकों ने विशेष रूप से चार्वाकों का खण्डन किया है क्योंकि नैयायिकों के अनुसार चार्वाक की तरह व्यवहार और परमार्थ एक है। नैयायिकों ने कारणता की प्रामाणिकता को व्यवहार और परमार्थ दोनों में स्वीकार किया है। वेदान्त और बौद्ध परमार्थ में कारणता की प्रामाणिकता को नहीं स्वीकार करते अतः; उन्होंने चार्वाक के खण्डन के लिए कोई तर्क नहीं दिया। नैयायिकों ने कारणता को अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया। रघुनाथ शिरोमणि ने कारणता के विषय में प्रत्यक्ष अनुमान और आगम तीनों प्रमाण स्वीकार किया है।

उदयन ने न्यायकुसुमांजलि में स्वभाववाद में उठी विसंगतियों का तार्किक विश्लेषण किया है। चार्वाक के अकस्मात् उत्पत्ति के पांच अर्थ किए जा सकते हैं—

(१) हेतु का निषेध अर्थात् यह अर्थ किया जा सकता है कि बिना कारण के कार्य होता है।

(२) उत्पत्ति का निषेध अर्थात् अकस्मात् का यह अर्थ है कि उत्पत्ति ही नहीं होती है।

(३) उत्पत्ति स्वयं नहीं हो सकती।

(४) उत्पत्ति वन्ध्यापुत्रादि मिथ्या पदार्थों से होती है।

(५) उत्पत्ति स्वभाव से होती है।

इस प्रकार अकस्मात् के पांच संभाव्य अर्थ करके उदयन ने उनका खण्डन किया है।

बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर यह शंका उठती है कि क्यों नहीं सतत् कार्य की उत्पत्ति होतो है। यदि बिना कारण के कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है तो उसे किसी भी समय में उत्पन्न हो जाना चाहिए, वह निश्चित समय पर ही क्यों उत्पन्न होता है। कार्य निश्चित समय में उत्पन्न होता है इसका अर्थ ही यह है कि कार्य का कोई पूर्ववर्ती कारण अवश्य है।

उत्पत्ति का निषेध भी हम नहीं कर सकते। अर्थात् उत्पत्ति ही नहीं होती अतः, कारण की आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु उत्पत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है उसका निषेध नहीं किया जा सकता। हम दैनिक जीवन में यह देखते हैं कि एक निश्चित् समय में ही कार्य की उत्पत्ति होती है, उसके पूर्व नहीं। कार्य पहले असत् अस था तो वह कैसे सत् हो

1. C' D. Sharma : A Critical Survey of Indian Philosophy,

जाता है ? क्यों एक निश्चित समय में ही कारण असत् से सत् होता है ? इसका उत्तर कारणता के आधार पर ही दिया जा सकता है ।

कार्य स्वयं उत्पन्न होता है इसलिए उसे किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं होती, ऐसा भी हम नहीं कह सकते । यदि कार्य स्वयं उत्पन्न होता है तो उसे सदैव उत्पन्न होना चाहिए । कार्य स्वयं अपना कारण नहीं हो सकता क्योंकि कारण अपने कार्य का पूर्ववर्ती होता है, परन्तु एक ही कार्य अपना पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती दोनों नहीं हो सकता । कार्य को स्वयं अपनी उत्पत्ति का कारण अनुभव या व्यवहार में नहीं देखा जाता । व्यवहार में हम कहते हैं कि तन्तु से पट उत्पन्न हुआ न कि पट से पट उत्पन्न हुआ ।

मिथ्या से पदार्थों की उत्पत्ति मानना सर्वथा निरर्थक है । यदि असत् से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, असत् के सर्वत्र सब काल में समान रूप से वर्तमान होने से असत् कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती क्यों निश्चित समय में ही कार्य की उत्पत्ति होती है ? इस प्रश्न का उत्तर भी एकमात्र कारणता के आधार पर दिया जा सकता है ।

स्वभाव से भी वस्तु की उत्पत्ति हम नहीं मान सकते । उत्पन्न होना वस्तु का स्वभाव है तो यह स्वभाव उसमें सदैव होना चाहिए क्यों एक निश्चित समय में ही कार्य की उत्पत्ति होती है ? इस प्रकार, उदयन ने अनिमित्तक उत्पत्ति का पाँच अर्थ करके 'अवधेः' एक हेतु से उन सबका खण्डन किया है । सभी कार्य नियतावधिक देखे जाते हैं अर्थात् एक निश्चित समय में होते है, सतत् नहीं होते अतः, कार्यों को सहेतुक मानना चाहिए । इस प्रकार उदयन ने 'आकस्मिकत्ववाद' का पांच अर्थ करके अवधेर्नियतत्वतः एक हेतु से उनका खण्डन किया है । अर्थात् सभी कार्य नियतावधिक हैं, एक निश्चित समय में होते हैं, सतत् नहीं होते अतः, प्रत्येक कार्य को सहेतुक मानना चाहिए ।

इसके उत्तर में चार्वाक का कथन है कि वस्तुएँ एक निश्चित समय में ही होती है, सतत् नहीं उत्पन्न होती, यह भी उस वस्तु का स्वभाव है । कुछ वस्तुएँ आकाश की तरह नित्य सत् होती है, कुछ वस्तुएं शशश्रृंग की तरह नित्य असत् होती हैं । परन्तु कुछ वस्तुएँ सदसत् होती है । वही वस्तुएं उत्पत्ति तथा स्थिति काल में सत् होती हैं, परन्तु उत्पत्ति के पूर्व या विनाश के बाद वे ही वस्तुएँ असत् होती हैं । जैसे, घट उत्पत्ति के पूर्व तथा टूट जाने के बाद नहीं रहता परन्तु उत्पन्न हो जाने के बाद रहता है । यह सब भी वस्तुओं के स्वभाव से निर्धारित होता है । अतः, इनके विषय में ऐसा क्यों होता है यह प्रश्न करना उचित नहीं है ।[1] चार्वाक के अनुसार नैयायिकों द्वारा अभिमत जगत्

---

१. नित्यसत्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्वाश्च केचन ।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः ॥
अग्निरूष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः ॥ (न्याय कुसुमाञ्जलि बोधिनी)

के नानात्व की व्याख्या स्वभाववाद के बिना नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशिष्ट स्वभाव है, उनका एक विशिष्ट स्वरूप है, तभी हम उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता का निर्धारण कर सकते हैं।[1]

चार्वाक के अनुसार कारणता की भी व्याख्या स्वभाव के आधार पर ही की जा सकती है। उत्पत्ति के बाद पट तन्तु में ही रहता है, तुरी, वेमादि में क्यों नहीं रहता है, इसकी व्याख्या भी स्वभाव के आधार पर ही की जा सकती है। कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति होती है, इसका निर्धारण भी वस्तु विशेष के स्वभाव से ही होता है। तन्तु पट उत्पन्न करते हैं, मृत्तिका नहीं क्योंकि तन्तु में ही पट को उत्पन्न करने का स्वभाव है, मृत्तिका में नहीं। इस प्रकार स्वभाववादी यह सिद्ध करते हैं कि बिना स्वभाववाद को स्वीकार किए कारणता का कोई भी सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया जा सकता है।

स्वभाववाद का अर्थ है कि वस्तु का कारण वस्तु के स्वभाव में निहित है, अलग से कारण को खोजने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु ध्यान से देखा जाय तो चार्वाक भी वस्तु और वस्तु का स्वभाव, दो पदार्थ मानते हैं और दोनों के सम्बन्ध की व्याख्या बिना कारणता के नहीं की जा सकती।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं है, तन्तु से ही पट उत्पन्न होता है मृत्तिका से नहीं क्योंकि तन्तु का पट उत्पन्न करने का स्वभाव है मृत्तिका का नहीं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक भी स्वभाववाद मानते हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि स्वभाववाद मान लेने पर कार्य-कारण का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। तन्तु का ही ऐसा स्वभाव है कि वह पट उत्पन्न करता है इसका यह अर्थ नहीं कि तन्तु में पट को उत्पन्न करने की कारणता नहीं। कारण-कार्य भाव प्रत्यक्ष सिद्ध है। हमारे दैनिक जीवन का यह अनुभव है कि भोजन करने से भूख मिटती है, परिश्रम से पढ़ने से हम अच्छे नम्बर लाते हैं, तिल से तेल निकलता है। इस प्रकार का कारण-कार्य भाव नियत नहीं होता तो हमारे दैनिक जीवन का व्यवहार संभव नहीं हो सकता। हम भोजन और भूख निवृत्ति के कारण-

---

१. एक नियतो धर्मः स्वभाव इत्युच्यते, तद् यदि सर्वस्य सम्भवेत् तदा स्वभावत्वम-साधारणत्वं नोपपद्यते सत्तादेरिवेति स्वभावत्वव्याघात इत्यर्थः।

(न्याय कुसुमाञ्जलि प्रकाश)

2. For, if the two facts—a thing being what it is and it is behaving as it does—the former entails the latter and is thus necessarily related to it. And what is this relation of it is not causality ?

(Sadananda Bhaduri : Nyāya Vaisesika Metaphysics,

कार्य भाव को नहीं जानते तो हम भूख लगने पर कभी भी भोजन करने के लिए नहीं हो सकते थे। हम कोई भी कार्य करते है तो किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति प्रवृत्त के लिए करते हैं। अमुक कार्य करने से अमुक फल मिलेगा या अमुक कार्य करने से हानि होगी इस प्रकार के हानोपादान का निर्णय हम कारणता के आधार पर ही करते हैं।[१]

यदि वस्तुएँ एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध होती तो हमारा वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्लेषण तथा उसके आधार पर प्रतिपादित नियम तथा सिद्धान्त सर्वथा निरर्थक हो जाते।

चार्वाक इसके उत्तर में यह कहते हैं कि सामान्य विश्वास के आधार पर दार्शनिक निर्णय का खण्डन नही किया जा सकता। चार्वाक ने कारणता का खण्डन दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर किया है अतः, उसका खण्डन नहीं किया जा सकता।

चार्वाक के सभी तर्कों में आत्माश्रय दोष है, कारणता को बिना स्वीकार किए उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। चार्वाक कारणता का खण्डन करते हैं, इसका अर्थ है कि वे कारणता को स्वीकार करते हैं। चाहे कोई भी दार्शनिक, सिद्धान्त में कारणता को स्वीकार कर ले पर व्यवहार में कारणता को नहीं अस्वीकार कर सकता है। नागार्जुन और श्रीहर्ष जैसे नास्तिक दार्शनिक भी बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति को तार्किक दृष्टि से असंभाव्य मानते हैं।[२]

गौतम तथा वात्सायन ने स्वभाववाद का खण्डन करते हुए यह बताया कि चार्वाक भी किसी न किसी रूप में कारण को मानते हैं। स्वभाववादी अकारण से, बिना निमित्त के भाव कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, यहाँ अनिमित्त ही भाव कार्यों की उत्पत्ति में निमित्त बन जाता है। अतः, चार्वाक यह नहीं कह सकते कि वे अनिमित्तक कार्योत्पत्ति मानते हैं।[3] अनिमित्त और निमित्त के परस्पर निषेध रूप होने से दोनों में परस्पर

१. एवं कार्यकारणभावाभावे प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्याताम्। तथाच निरीहं जगज्जायेत। नहीष्टसाधनताज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिरनिष्टसाधनताज्ञानमन्तरेण निवृत्तिः।
(वैशेषिक सूत्र उप०)

२. क नापि अहेतुतः मा० का० १।१
ख पूर्व सम्बन्ध नियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ (खण्डनखण्डखाद्य)
Quoted from S. N. Bhaduri's, 'Studies in Nyāya Vaisesrka Metaphysics,

३. अनिमित्तानिमित्तत्वान्नानिमित्ततः (न्याय सूत्र ४।१।२३)
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरित्युच्यते पतश्चोत्पद्यतेतन्निमित्तम्।
अनिमित्तस्य निमित्तत्वान्नान्निमित्ता भावोत्पत्तिरिति। (न्याय सूत्र ४।१।२३)

भेद है, अनिमित्त (अकारण) को हम निमित्त (कारण) नहीं मान सकते। अतः, अनिमित्त को ही निमित्त बताना सर्वथा असंगत है।[1] चार्वाक अपने मत की पुष्टि करके अन्य लोगों में यह विश्वास उत्पन्न करना चाहते हैं कि सभी वस्तुएँ अकारण हैं यह विश्वास उत्पन्न करना भी एक कार्य है जिसका कारण है 'अपने मत की पुष्टि'। अतः, निर्दिष्ट कार्य की उत्पत्ति कारण विशेष से होती है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक ह्यूम भी प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कारणता के नियम का बहिष्कार करते हैं। ह्यूम के पूर्व दार्शनिकों का यह विश्वास था कि कार्य-कारण नियम एक स्वतः सिद्ध मान्यता है परन्तु सर्वप्रथम ह्यूम ने अनुभववाद का कठोर रूप से पालन करते हुए कारणता के नियम की सत्यता पर प्रहार किया। उनके अनुसार अनुभव में कारणता जैसे किसी अनिवार्य नियम का प्रत्यक्ष नहीं होता। एक क्रम में आने वाली दो घटनाओं के पौर्वापर्य का अनुभव होता है, परन्तु अनुभव के आधार पर यद्यपि इसकी अनिवार्यता को हम नहीं प्रतिपादित कर सकते। ह्यूम का सिद्धान्त स्वभाववाद नहीं है परन्तु वह चार्वाकों के इस मत से सहमत हैं कि कारणता संबंध की अनिवार्यता का प्रतिपादन प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर नहीं किया जा सकता। कारणता सम्बन्ध एक मानसिक कल्पना मात्र है, वाह्य वस्तु जगत् में उसकी कोई सत्ता नहीं है।

स्वभाववाद के मान लेने पर भी वस्तुओं के उत्पत्ति की व्याख्या नहीं हो सकती है। स्वभाववाद के अनुसार वस्तुओ की उत्पत्ति स्वभाव से होती है तो स्वभाव को वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व होना चाहिए परन्तु कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कार्य रूप वस्तु और उसका स्वभाव दोनों ही नहीं रहता। अतः, हम स्वभाव से वस्तु की उत्पत्ति नहीं मान सकते। वस्तुतः, वस्तु की उत्पत्ति के साथ ही उसका स्वभाव भी उत्पन्न होता है अतः, कारणता का निषेध कर स्वभाववाद का समर्थन करना सर्वथा अनुचित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कारणता एक निराधार विश्वास मात्र नहीं अपितु, एक धारणा है जो हमारे विचारों में पूर्ण रूप से समाविष्ट है।

---

१. निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः (न्याय सूत्र ४।१।२४

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय में हमने न्याय के आरम्भवाद के सन्दर्भ में अन्य भारतीय दर्शन के कारणवाद के सिद्धान्त पर विचार किया है। यहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व सत् है या असत्' इस समस्या पर सभी दार्शनिक अपनी-अपनी मूलभूत मान्यता को दृष्टि में रखकर विचार करते हैं।

न्याय का भेदाभेदवादी धर्म-धर्मी सद्भाव का सिद्धान्त कारणवाद में आरम्भवाद का रूप धारण करता है। सांख्य का अभेदवादी धर्म-धर्मी सद्भाव का सिद्धान्त कारणवांद में सत्कार्यवाद का रूप धारण करता है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि जिन तर्कों से ईश्वरकृष्ण असत्कार्यवाद का खण्डन कर सत्कार्यवाद की स्थापना करते हैं उन्हीं तर्कों से नैयायिक सत्कार्यवाद का खण्डन कर असत्कार्यवाद की स्थापना कर देते हैं।

अद्वैतवेदान्त व्यवहार में सांख्य के सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं। परन्तु परमार्थ में कारण से कार्य के अभेद पर इतना अधिक बल देते हैं कि कार्य को मिथ्या सिद्ध कर देते हैं तथा कारण को ही सत् मानते हैं। वस्तुतः, ध्यात से देखा जाय तो विवर्तवाद कारणवाद का कोई सिद्धान्त नहीं है अपितु तत्वदर्शन का सिद्धान्त है। जगत् को मिथ्या और ब्रह्म को सत् सिद्ध करने का एक माध्यम है। क्षणभंगवादी बौद्धों का सिद्धान्त कारणवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का रूप धारण करता है। माध्यमिकों ने कारणवाद का कोई सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत कियां है अपितु, कारणता का द्वंद्वात्मक विश्लेषण कर स्वतः, उभयतः एवं अनुभयतः उत्पत्ति का खण्डन कर अजातिवाद की स्थापना की है।

जैन की अनेकान्तवादी दृष्टि कारणवाद में सदसद्कार्यवाद का समर्थन करती है। जड़वादी चार्वाक का सिद्धान्त स्वभाववाद का समर्थन करती है।

इस प्रकार सभी दार्शनिक अपनी-अपनी मूलभूत मान्यता का समर्थन करते हैं।

सप्तम अध्याय

कारणता का तत्वदर्शन में प्रयोग

अभी तक हमने न्याय के कारणता के सिद्धान्त पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जिससे आरम्भवाद या असत्कार्यवाद का स्वरूप स्पष्ट होता है। न्याय के आरम्भवाद के पीछे उसका मूलभूत तात्विक प्रयोजन क्या है—इस पर विचार करना आवश्यक है। वस्तुतः, सभी दार्शनिक अपने कुछ मूलभूत सिद्धान्तों से बँधे हुए हैं, जिसके आधार पर उनके अन्य सिद्धान्त बनते हैं। ये अन्य सिद्धान्त उस मूलभूत तात्विक सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए एक माध्यम का कार्य करते हैं।

वस्तुतः, सभी की यह जिज्ञासा हैं कि इस विचित्र, व्यवस्थित तथा व्यापक संसार का कारण क्या है ? यह प्रश्न जितना ही आसान है उसका उत्तर उतना ही दुरूह। इन्द्रियातीत सूक्ष्म जगत् की कारणता तक पहुँचने के लिए 'कारणता का सिद्धान्त' जिस पर अभी हमने विचार किया एक स्थूल दृष्टि हैं।

संक्षेप में न्याय के अनुसार कारण का सिद्धान्त है 'कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में नहीं रहता है उसकी नवीन उत्पत्ति होती है'। इस उत्पत्ति में समवायि, असमवायि और निमित तीनों कारण सामान्य रूप से आवश्यक हैं। प्रश्न उठता हैं कि क्या कारण है कि न्याय ने सामान्य रूप से इन तीनों कारण को कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक माना है ?

वस्तुतः, न्याय यदि इन तीनों कारणों को न मानता तो उसका ईश्वर और परमाणु, जो मात्र अनुमान के विषय हैं, दोनों की सिद्धि नहीं हो पाती।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए निमित्त कारण और असमवायिकारण उतने ही आवश्यक हैं जितना कि समवायिकारण। तीनों का कार्य को उत्पत्ति में अपना-अपना, अलग-अलग योगदान है। घट की उत्पत्ति में कुम्भकार और कपाल संयोग उतने ही आवश्यक हैं जितनी की मृत्तिका। जगत् चूंकि कार्य है अतः, उसकी उत्पत्ति के लिए भी समवायि, असमवायि, निमित्त तीनों कारणों की आवश्यकता होती है। न्याय दर्शन में जिस प्रकार भौतिक जगत् की व्याख्या करते हैं उसी प्रकार जगत् के उत्पत्ति की भी व्याख्या करते हैं। वे परमार्थ और व्यवहार को पृथक्-पृथक् न मानकर एक मानते हैं। वेदान्त के अनुसार व्यवहार में घट की उत्पत्ति में मृत्तिका को उपादान कारण तथा कुम्भकार को निमित्तकारण मानते हैं, परन्तु जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्म ही उपादान और निमित्त दोनों कारण हैं। सांख्य में भी व्यवहार में उपादान और निमित्त कारण का भेद है परन्तु परमार्थ में उपादान और निमित्त कारण का भेद नहीं रह जाता। प्रकृति ही

उपादान और निमित्त दोनों कारण है। परन्तु न्याय, सांख्य और वेदान्त की तरह अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं मान सकता। न्याय को तीनों कारणों को अलग-अलग मानना आवश्यक है अन्यथा परमाणु और ईश्वर दोनों की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

जगत् का समवायिकारण

वैदिक काल से लेकर अब तक के प्रायः सभी दार्शनिकों ने वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जो प्राणी को जीवित रखने के लिए आवश्यक तत्व हैं उनको ही किसी न किसी रूप में जगत् का आवश्यक कारण माना है। पौराणिक युग में इन पाँच महाभूतों को देवता के रूप में पूजा जाता था। सांख्य और वेदान्त ने इनको तन्मात्र कार्य के रूप में स्वीकार किया है, निरवयव सृष्टि के उपादानकारण के रूप में नहीं स्वीकार किया है। भारतीय दर्शन में केवल जैन और न्याय ने ही परमाणुओं को उपादान कारण के रूप में स्वीकार किया है।

परमाणु की सिद्धि

नैयायिक अपने सभी अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करते हैं। विनाश या विभाग की प्रक्रिया द्वारा परमाणु की सिद्धि करते हैं। न्याय के अनुसार विनाश का यह अर्थ नहीं है कि कार्य नष्ट होकर कारणावस्था में आ गया या वह तिरोभूत हो गया, जैसा कि सांख्य और वेदान्त मानते हैं। न्याय में विनाश का अर्थ है, अवयवों के संयोग का नाश। घट का नाश होता है इसका अर्थ है, घट के अवयव-कपाल द्वय संयोग का नाश। इस प्रकार विनाश का क्रम चलता है। कपालद्वय संयोग के नाश से कपालिकाओं का नाशादि।[1]

इस विभाजन की प्रक्रिया की तीन गति संभव हैं। या तो इस विभाजन का अन्त शून्य में होगा या यह प्रक्रिया ऐसे ही चलती जाएगी, इसका कही अन्त नहीं होगा अर्थात् विभाजन की प्रक्रिया अनन्त होगी या इनका अन्त अन्तिम अविभाज्य अवयवों में हागा।[2] प्रथम दोनों विकल्प दोष युक्त हैं। अतः, नैयायिकों को मान्य नहीं है। विभाजन

---

१. विनाश की प्रक्रिया के विषय में प्राचीन और नवीन नैयायिकों में मतभेद है। प्राचीन मत में समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होता है, परन्तु परमाणु के पक्ष में इसका अपवाद है, जहाँ असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होता है। इसके विपरीत नव्य नैयायिकों के अनुसार केवल असमवायिकारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है।

असमवायिकारणनाशात् द्वयणुकनाशः। समवायिकारणनाशात् त्र्यणुकनाश इति सम्प्रदायः। सर्वत्रासमवायिकारणनाशात् द्रव्यनाश इति नवीनाः। (तत्त्व दीपिका)

२, अत्र हि त्रयी गतिरस्य घटादेः कार्यस्य निरवयवत्वमेत्र वाऽवयवानन्त्यं वा परमाण्वतन्ना वा। (न्याय मंजरी भाग २)

की अन्तिम सीमा शून्य नहीं हो सकती क्योंकि अवयवी का ही विभाग होता है, अवयवों का नहीं। अवयवी अवयवों से ही बना है। अतः, अवयवो का विभाग अवयवो में ही संभव है, शून्य में नहीं। साथ ही विभाजन निरवधिक नहीं हो सकता, विभक्त हो जाने पर सभी वस्तुओं के अवयव समानरूप से अनन्त होंगे और उनके आकार-प्रकार में कोई भेद नहीं रह जाएगा। इस अवस्था में सरसो और पर्वत को एक ही आकार का मानना पड़ेगा, क्योंकि दोनों ही समानरूप से अनन्त अवयवों के बने हुए हैं।[1] तीसरे विकल्प में कोई दोष नहीं है। कुछ नित्य अविभाज्य सत् पदार्थ मान लेने पर उपर्युक्त सभी समस्यायें दूर हो जाती हैं। विभाजन की प्रक्रिया जहाँ जाकर रुक जाती है जिसके आगे और विभाजन संभव नहीं है, उसे परमाणु कहते हैं।[2] परमाणु अविभाज्य है, इनके भी अवयव की कल्पना करने पर अनवस्था दोष होगा। परमाणु अविभाज्य हैं तथा इनकी उत्पत्ति के लिए समवायि, असमवायि या निमित्त कारण की कल्पना नहीं कर सकते। अतः, इनको नित्य मानते हैं।

न्याय ने चार प्रकार के परमाणुओं को माना है। पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल। आकाश को परमाणु नही माना है क्योंकि आकाश अमूर्त द्रव्य है, उसमें कार्योत्पादकत्व नहीं है, जबकि उपर्युक्त चारों परमाणु मूर्त हैं, उनमें कार्योत्पादकत्व है।

न्याय के अनुसार ये चारों परमाणु परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। जैन के परमाणुओं में परस्पर भेद नहीं है, न्याय को इस प्रकार का भेद मानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि न्याय–वैशेषिक के अनुसार कारणगुण से कार्यगुण उत्पन्न होता है। अतः, भौतिक जगत् की वस्तुओं में परस्पर गुण भेद, परमाणुओं के ही गुण भेद के कारण हो सकता है। यदि परमाणुओं में गुण भेद न होता तो न्याय–वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार भौतिक जगत् के नानात्व की व्याख्या असंभव थी। इस प्रकार, हम देखते हैं कि परमाणु की सत्ता की सिद्धि के लिए, उसके स्वरूप को समझने के लिए कारणता का सिद्धान्त माध्यम बनता है।

---

१. तत्र निरवयवत्वमनुपपन्तभवयवानां पटे तन्तूनां घटे च कपालानां प्रत्यक्षमुपलम्भात् अनन्तावयवयौगित्वमपि न युक्तं मेरूसर्षपयोरन्तावयवयोगित्वाविशेषेण तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गात्, तस्मात् परमाण्वन्ततैव युक्तमती।

(न्याय मंजरी भाग०)

२. (क) लोष्टस्य खलु प्रविज्यमात्रावयवस्याल्पतरमल्पतममुत्तरमुत्तरं भवति। स चापमल्पतरप्रसङ्गः यस्मानाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्त्तते यतश्य नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे इति। (न्याय भाष्य)

(ख) न्याय मंजरी

(ग) न्याय सिद्धान्त मुक्तावली

(घ) न्याय कन्दली

परमाणु-गति

कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित अनुमान प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि, विभाजन की अन्तिम सीमा परमाणु है। प्रलय भी न्याय के अनुसार विभाजन है अतः, आत्यन्तिक विभाजन की सीमा भी परमाणु ही होगा, शून्य या अनन्त नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि गतिविहिन जड़ तथा विच्छिन्न परमाणु सृष्टि में समवायिकारण कैसे बनते हैं? गतिविहीन परमाणुओं में संयोग नहीं हो सकता और बिना संयोग के सृष्टि न हो सकती। कार्य की उत्पत्ति के लिए असमवायिकारण उतना ही आवश्यक है जितना कि समवायिकारण। परन्तु, यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि अचानक ये परमाणु कैसे गतियुक्त हो जाते हैं और इनका संयोग हो जाता है तथा ये सृष्टि भी करने लगते हैं। परमाणुओं के इस गति और संयोग के लिए न्याय ईश्वर की कल्पना करता है। प्रलय के पश्चात् प्राणियों को सुख-दुःख का उपभोग कराने के लिए ईश्वर सृष्टि रचना की इच्छा करता है। आत्माओं के अपने-अपने अदृष्ट के अनुसार ईश्वर वायु परमाणुओं में संयोग कराकर उनमें गति उत्पन्न करता है। तत्पश्चात्, द्वयणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से स्थूल वायु उत्पन्न होता है। उसके बाद इसी क्रम से महान जल, महान पृथिवी और महान् अग्नि उत्पन्न होते हैं।[1]

द्वयणुक और त्र्यणुक

उपर्युक्त सृष्टि की प्रक्रिया को देखकर एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुर्णुक आदि के क्रम से क्यों सृष्टि होती है? जब परमाणुओं से सृष्टि संभव है तब व्यर्थ में कल्पना गौरव करने की क्या आवश्यकता? न्याय-वैशेषिक के अनुसार परमाणुओं से साक्षात् जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतीन्द्रिय परमाणुओं से जगत् की सृष्टि मानने पर सम्पूर्ण संसार अतीन्द्रिय हो जाएगा क्योंकि कारण गुण से कार्य गुण उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय परमाणु सामूहिक रूप से जगत् की सृष्टि करें तो भी जगत् अतीन्द्रिय होगा। इस पर अवयवी के प्रकरण में विचार किया जा चुका है। अतीन्द्रिय परमाणुओं से सृजित जगत् को किसी प्रकार दृश्य मान लें तो भी उन नित्य परमाणुओं से उत्पन्न जगत् को नित्य मानना पड़ेगा। जगत् की सतत् उत्पत्ति माननी पड़ेगी, प्रलयावस्था कभी नहीं आएगी।[2]

---

१. ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्म्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्वयणुकादिक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो....................

(प्रशस्तपाद भाष्य)

२. एकस्य नित्यस्य चारम्भकत्वे कार्य्यस्य सततोत्पत्तिः स्यादपेक्षणीयाभावात् अविनाशित्वञ्च प्रसज्यते। (न्याय कन्दली)

परमाणुओं से साक्षात् उत्पत्ति मानने पर प्रलय की प्रक्रिया की भी व्याख्या नहीं की जा सकती। यदि घट परमाणुओं से साक्षात् निर्मित है तो निश्चित ही घट टूटने के बाद अपने कारण में लीन हो जाएगा, परमाणुरूप हो जाएगा, अर्थात् टूटते ही घट अदृश्य हो जाएगा। परन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार घट नष्ट होकर कपालों में, कपाल नष्ट होकर कपालिकाओं में विभक्त होता है और उसके छोटे-छोटे अवयव दिखाई पड़ते हैं। स्थूल कार्य का विनाश क्रमशः छोटे-छोटे अवयवों में होता है। जब हम विभाजन क्रम में सबसे छोटे प्रत्यक्षगोचर पदार्थ पर पहुँचते हैं तो उसको त्र्यणुक कहते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि जगत् की उत्पत्ति के लिए परमाणु और त्र्यणुकादि क्रम आवश्यक हैं। परन्तु, अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्यों नहीं परमाणु ही परस्पर संयुक्त होकर त्र्यणुक की सृष्टि कर देते हैं, बीच में द्वयणुक को मानने की क्या आवश्यकता है ? क्या द्वयणुक के अभाव में सृष्टि की व्याख्या नहीं हो सकती ? वस्तुतः, अतीन्द्रिय परमाणुओं से स्थूल इन्द्रियगोचर त्र्यणुक की उत्पत्ति असंभव है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार कारण गुण से कार्य गुण उत्पन्न होता है। यही कारण है कि इन्द्रियातीत औ इन्द्रियगोचर के बीच में न्याय-वैशेषिक ने द्वयणुक की कल्पना की है। उसके लिए नैयायिक तर्क देते हैं कि 'परमाणु अणु परिमाण वाले हैं, उनसे जो उत्पन्न पदार्थ है, वह अणुतर होगा क्योंकि कारण अपने से उत्कृष्टरूप का कार्य उत्पन्न करता है। परमाणु अपने से उत्कृष्ट कोटि का जो कार्य उत्पन्न करेगा उसका परिमाण अणुतर नहीं हो सकता क्योंकि परमाणु स्वयं अणुतम है। अतः, परमाणु के परिमाण किसी भी परिमाण की उत्पत्ति नहीं कर सकते।

अब समस्या यह उठती है कि परमाणु परिमाण-अनारम्भक है, उससे कोई परिमाण उत्पन्न नहीं हो सकता तो उससे जो उत्पन्न द्वयणुक है वे भी अणु परिमाण वाला ही है और समस्या वैसे को वैसे ही बनी रह जाती है। द्वयणुक के अणु-परिणाम भी अनारम्भक होते है और उनसे स्थूल त्र्यणुक की सृष्टि नहीं हो सकती। इस समस्या का समाधान प्रशस्तपाद ने किया है। उनके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि कारण परिमाण से कार्य की उत्पत्ति हो परिमाण की उत्पत्ति तीन कारणों से हो सकती है।

(१) कारण के परिमाण से,

(२) अवयवों के प्रशिथिल संयोग से

---

१. ....सकृदारम्भे हि कुम्भे भज्यमाने कपालशर्कराकणचूर्णादिक्रममपहाय प्रथममेव परमाण्वन्तता भवेत्सर्वसंयोगस्य सर्वविभागेन सहसैव विनाशादतश्च कर्परादिक्रमदर्शनं विरूध्येत अविनष्टेऽपि घटादौ तन्त्वापवयवाश्रित्वस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, परमाणूनां घटस्य च मध्ये कार्यान्तरानारम्भादिति, तस्माद् द्वयणुकादिप्रक्रमेण परमाणवः कार्यभारभन्ते। (न्याय मंजरी व्याख्या भाग० २)

(३) अवयवों की संख्या से

द्वयणुक में महत् परिमाण नहीं है, न ही इनके अवयवों का शिथिल संयोग हो सकता है। इस शिथिल अवयव संयोग के लिए भी अवयवों को महत् परिमाण वाला होना चाहिए, जबकि द्वयणुक के अवयव महत् परिमाण वाले नहीं है।[1] द्वयणुक अपने बहुत्व संख्या से त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति करते हैं। तीन द्वयणुक से त्र्यणुक में महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि जब महत्परिमाण के लिए बहुत्व संख्या ही आवश्यक है तब परमाणु ही क्यों नहीं बहुत्व संख्या में एकत्रित होकर त्र्यणुक की उत्पत्ति कर देते हैं, बीच में द्वयणुक को लाने की क्या आवश्यकता है जिसका कोई स्वतंत्र योगदान नहीं हैं। इससे कल्पना-गौरव ही होगा। न्याय-वैशेषिक ने इसका समाधान किया है कि स्थूल या महत् परिमाण की उत्पत्ति के लिए उसके कारण को भी कार्य होना चाहिए। परमाणु कार्य नहीं है, मात्र कारण है अतः, इनसे त्र्यणुक में महत् परिमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। द्वयणुक परमाणु का कार्य है अतः, वह त्र्यणुक में महत् परिमाण की उत्पत्ति कर सकता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार ऐसा भी नहीं हो सकता कि जो परमाणु द्वयणुक की उत्पत्ति करते है वे ही त्र्यणुक की भी उत्पन्न करें। यदि ऐसा होता तो जो अंशु, तन्तु की उत्पत्ति करते है, वे ही पट की भी उत्पत्ति करते, तन्तु को पट का कारण न कहकर अंशु को हम पट का कारण कहते।[2]

आलोचना

नित्य, गतिहीन, अविभाज्य, विच्छिन्न (परस्पर असम्बद्ध) परमाणुओं से सृष्टि होती है, न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त बड़े ही आलोचना का विषय रहा है।

यदि परमाणुओं के संयोग से सृष्टि मानते हैं तो उन्हे सावयव मानना होगा। संयोग दो प्रकार से ही संभव है।

---

१. ....त्र्यणुकादिपरिमाणस्य द्वयणुकगता बहुत्वसंख्यैवासमवायिकारणमिति ? अन्यस्यासम्भवात्।..............................कारणवृत्तीनां कार्ये गुणभारभमाणानां समानजातीय गुणान्तरारम्भे एव सामर्थ्यदर्शनात्।

(न्याय कंदली)

२. नहि परमाणवः प्रथमं कार्यमारम्य तदनु त एवोत्तरोत्तरकालं कार्याण्यारभन्ते किन्तु यत्परमाणुनिर्वृत्तं कार्यं द्वयणुकं तत्कार्यान्तरस्यारम्भकं तदन्यस्य कार्यस्येत्येवं तावद्यावत्परिपूर्णावयविनिष्पत्तिः, इत्थं च तन्तुभिः पटः क्रियते न तन्त्ववयवैरंशुभिरिति अथ ह्युत्तरोत्तरकार्यारम्भेऽपि पूर्वपर्वकारणानपायान्मूर्तानामेकदेशत्वं स्याद् न च तद् दृश्यत इति यथोक्त एव क्रमः श्रेयान्। (न्याय मंजरी व्याख्या)

(१) दोनों पदार्थ सर्वात्मना संयुक्त हो।

(२) दोनों एकदेश से सम्बद्ध हो।

यह दोनों ही विकल्प परमाणुओं के संयोग के पक्ष में संभव नहीं हो सकता। परमाणुओं का यदि सर्वात्मना संयोग होगा तो सृष्टि ही संभव नहीं होगी क्योंकि दो परमाणुओं के एक दूसरे में मिल जाने से उनके परिमाण में वृद्धि नहीं होगी। एकदेशेन परमाणुओं का संयोग मानने पर परमाणुओं का निरवयवत्व खण्डित हो जाएगा।[1]

इस समस्या का समाधान हमें 'न्याय सूत्र' तथा 'भाष्य' में मिलता है। परमाणुओं की कल्पना तो वैशेषिक ने की, परन्तु विपक्षियों द्वारा उठाई गई शंकाओं का समाधान न्याय-सूत्रों में मिलता है। उनके अनुसार परमाणुओं का संयोग होता है और उस संयोग से जो आस पास वाले परमाणुओं का व्यवधान होता है, वह उनके स्पर्शवान् होने के कारण है, उनके सावयव होने के कारण नहीं।[2] संयोग अव्याप्यवृत्ति है। दो पदार्थों का सर्वात्मना संयाग मानने पर परिमाण में वृद्धि नहीं हो सकती; न हो उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिसका संयोग हो वह सावयव हो। परमाणुओं का संयोग होता है परन्तु वे निरवय हैं। संयोग होने के कारण परमाणुओं को सावयव मानते हैं तो अनवस्था दोष होता है। निरवयव में भी दिशा भेद संभव है। जैसे, आकाश में दिशा भेद है परन्तु वह निरवयव है।[3]

दूसरी शंका जैन दार्शनिकों ने नित्य परमाणु के क्रियाशीलता के विषय में की है। यदि मरमाणु नित्य है तो उनका संयोग नित्य होगा तथा सृष्टि सतत् होगी।

न्याय–वैशेषिक के लिए ऐसी शंका करना उचित नहीं। न्याय–वैशेषिक के अनुसार केवल समवायिकारण से ही कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। असमवाय और निमित्त कारण भी अत्यावश्यक है। मात्र समवायिकारण परमाणु के नित्य होने से कार्य नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि समवायिकारण परमाणु संयोग अनित्य हैं। परमाणु नित्य है इसलिए उसका संयोग भी नित्य हो यह कोई आवश्यक नहीं। परमाणु संयोग कार्य है अतः, वह अनित्य ही होगा।

---

१. (क) यदि सर्वात्मना; पिण्डोऽणुमात्रः स्यात्
अथ एकदेशेन, तदा अणूनां सांशत्वप्रसङ्गः। (न्याय कुसुमाञ्जलि चन्द्रिका)
(ख) प्रमेय कमल मार्तण्ड
(ग) ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।५।१२

२. स्पर्शवत्वाद्व्यवधानमाश्रस्य चाव्याप्त्या भागभक्तिः। उक्तं चात्र स्पर्शवानणुः स्पर्शवतोरण्वोः प्रतिघाताद्व्यवधायको न सावयवत्वात्। (न्याय भाष्य)

३. अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः। न्याय सूत्र ४।२।२५

रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार परमाणु

रघुनाथ शिरोमणि ने परमाणुओं को मूल कारणभूत ईकाई के रूप में नहीं माना है। वह त्र्यणुक को ही मूल ईकाई मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। विभाग की अवधि त्र्यणुक मानना चाहिए या उसे निरवधिक मानना चाहिए। दो विकल्प ही संभव हैं। प्राचीन नैयायिक परमाणु तथा द्वयणुक की सिद्धि के लिए जो तर्क देते हैं उनका उन्होंने खण्डन किया है। उनके अनुसार 'त्र्यणुक सावयव है प्रत्यक्ष द्रव्य होने के कारण' यह कोई तर्क नहीं है। साथ ही 'द्वयणुक सावयव है क्योंकि वे प्रत्यक्षभूत त्र्यणुक के अवयव हैं', यह भी युक्तियुक्त नहीं है। यदि ऐसा होता तो इसी तर्क के आधार पर परमाणु भी सावयव सिद्ध किए जा सकते हैं और अनुमान इस प्रकार बन सकता है : 'परमाणु सावयव है क्योंकि वह प्रत्यक्षभूत त्र्यणुक के अवयव द्वयणक के अवयव हैं।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन नैयायिकों द्वारा मान्य परमाणु अतीन्द्रिय है, हमें दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत रघुनाथ शिरोमणि द्वारा प्रतिपादित त्र्यणुक का हमें प्रत्यक्ष होता है। त्र्यणुक का स्पष्ट ज्ञान होता है जबकि परमाणुओं का निश्चित स्वरूप हमारे मस्तिष्क में नहीं बन पाता। परन्तु मात्र इसी आधार पर हम प्राचीन नैयायिकों की मान्यता को अस्वीकार नहीं कर सकते। इन्द्रियगोचर पदार्थों तक ही सीमित रह जाना दार्शनिक दृष्टि नहीं है। एक दार्शनिक का विचार स्थूल जगत् तक ही सीमित नहीं रह जाता। वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है।

---

१. परमाणुद्वयणुकयोश्च मानाभावः त्रुटावेव विश्रामात्। त्रुटिः समवेता चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत् ते च समवायिनः समवेताः चाक्षुषद्रव्यसमवायित्वादिति चाप्रयोजकम्। अन्यथा तादृशसमवायिसमवायित्वादिभिरनवस्थिततत्समवायिपरम्परासिद्धिप्रसङ्गात्। (पदार्थ तत्त्व निरूपण)

जगत का निमित्त कारण

न्याय-वैशेषिक के अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के लिए तीन कारणों की आवश्यकता होती है, जिसका विचार पहले किया जा चुका है; समवायि, असमवायि और निमित्त। तत्व दर्शन में भी कारणता के इसी नियम का प्रयोग होता है। द्रव्य की उत्पत्ति में समवायिकारण का संयोग ही असमवायिकारण बनता है। परन्तु यहां प्रश्न यह है कि अचेतन गतिहीन परमाणुओं में संयोग कैसे होता है ? चेतन कर्ता के बिना न तो उनमें गति ही संभव है न संयोग। व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि समवायिकारण मृत्तिका, निमित्त कारण दण्ड, चक्रादि के रहते हुए भी चेतनकर्त्ता कुम्भकार के अभाव में न तो असमवायिकारणभूत कपालद्वय संयोग संभव है न हो घट की उत्पत्ति। इसी प्रकार जगत् को उत्पत्ति में निमित्तकारणभूत चेतनकर्त्ता की आवश्यकता पड़ती है और न्याय को अपने कारणता के नियम से बद्ध होकर अचेतन परमाणुओं में प्रथम गति आरम्भक ईश्वर जैसे निमित्तकारणभूत चेतनकर्त्ता की कल्पना करना अनिवार्य हो जाता है। अब यहां इस बात पर हम विचार करेगें कि इसी कार्य-कारण के आधार पर न्याय जगत् के निमित्तकारण ईश्वर की सिद्धि कैसे करता है।

श्रीधर, उद्योतकर, उदयन, विश्वनाथ आदि सभी दार्शनिकों ने जगत्कर्तृत्व के रूप में ईश्वर की सिद्धि की है। लोक में ऐसा देखा जाता है कि जितने भी कार्य हैं उनका कोई न कोई बुद्धिमान कर्त्ता अवश्य होता है। जैसे, घट कार्य का कर्त्ता कुम्भकार है। घट कार्य की तरह संसार भी कार्य है अतः, उसका भी कोई बुद्धिमान कर्त्ता अवश्य होगा।[1]

उपर्युक्त अनुमान से मात्र यही सिद्ध होता है कि जगत्-कार्य का कोई बुद्धिमान कर्ता है। परन्तु वह कर्ता ईश्वर ही हो यह कोई आवश्यक नहीं। अतः, नैयायिक परिशेषानुमान से पुनः ईश्वर को सिद्धि करते हैं। किसी भी कार्य का कर्त्ता वहीं हो सकता है जिसको कार्य का अपरोक्ष ज्ञान हो, उस कार्य को करने की इच्छा उसमें हो तथा इच्छा के साथ-साथ उसमें उस कार्य को करने की प्रयत्न शक्ति हो।[2] अतोन्द्रिय परमाणुओं का

---

१. (क) महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वाद् यत्कार्यं तदुपलब्धिमत्पूर्वकं यथा घटः कार्यञ्च महाभूतचतुष्टयं तस्मादेतदुप्युपलब्धिमत्पूर्वकम्। (न्याय कंन्दली)

(ख) यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं, तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपीति। न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सम्भवतीत्यस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः। (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली-श्लो० १)

(ग) न्याय कुसुमाञ्जलि ५।१

२. सकर्तृकत्वं च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वम्।

(न्याय कुसुमाञ्जली टीका)

ज्ञान, उसमें संयोग कराने की इच्छा तथा प्रयत्न शक्ति साधारण पुरुष में नहीं हो सकती। जीवात्मा को प्रथम गति आरम्भक नहीं मान सकते, क्योंकि जीवात्मा के कर्तृत्व के लिए शरीर की अपेक्षा होती है। प्रलयावस्था में शरीर और इन्द्रिय के अभाव में उसे किसी विषय का ज्ञान नहीं होता और विषयों के ज्ञान के अभाव में वह परमाणुओं की ही तरह अचेतन हो जाता है। अतः, जीवात्मा को हम परमाणुओं को संचालक नहीं मान सकते। परमाणुओं को स्वयं गतिशील भी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसी अवस्था में नित्य परमाणु से सतत् सृष्टि होगी। अतः जगत् की उत्पत्ति के लिए किसी असर्वज्ञ, सर्वव्यापि कारण की कल्पना करनी पड़ती है और वह ईश्वर ही हो सकता है।

न्याय-वैशेषिक ईश्वर सिद्धि का जो दूसरा प्रमाण देते हैं वह भी कार्य-कारण पर ही आधारित है। जगत्-वैचित्र्य के कारण की खोज करते करते नैयायिक ईश्वर तक पहुँचते हैं। इस जगत् के नानात्व या वैचित्र्य का मुख्य कारण है—सुख और दुःख। कोई सुखी है तो कोई दुःखी, यही संसार का वैचित्र्य है। अब प्रश्न उठता है कि इस सुख-दुःख का कारण क्या है ? ये बिना किसी के कारण के हो नहीं सकते। सुख और दुःख अकारण हैं तो इन्हे नित्य मानना पड़ेगा या शशशृंग की तरह मिथ्या मानना पड़ेगा। चार्वाक को छोड़कर जैन, बौद्ध आदि सभी दार्शनिको ने यह स्वीकार किया है कि सुख और दुःख हमारे ही किए हुए कर्मों के फल हैं। वस्तुतः, कर्मों का फल हमें तत्काल नहीं मिल जाता, क्योंकि जो कर्म हम करते हैं वह तत्काल नष्ट हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि नष्ट कर्मो का फल हमें कैसे मिलता है। कार्य का कारण वही हो सकता है जो उसका अव्यवहितपूर्ववर्ती हो। नष्ट कर्म तो फल के अव्यवहितपूर्ववर्ती नहीं हैं। इसके उत्तर में नैयायिक अदृष्ट को कल्पना करते हैं। कर्म नष्ट होकर अदृष्ट के रूप में रहता है। यह अदृष्ट कार्य के अव्यवहितपूर्ववर्ती होकर समयानुकूल फल देते हैं।

परन्तु अदृष्ट की कल्पना से एक शंका यह होती है कि अदृष्ट तो अचेतन हैं उनके द्वारा कर्म और फल की व्यवस्था कैसे होती है ? अचेतन की प्रवृत्ति का कोई उदाहरण भी नहों देखा जाता। अचेतन दूध जो गाय के बछड़े के पोषण के लिए प्रवाहित होता है वह भी चेतनकर्तृत्व का हो उदाहरण है, अचेतनकर्तृत्व का नहीं। गाय जिससे दूध प्रवाहित होता है वह चेतन ही हैं अचेतन नहीं। अचेतन दूध अपने आप में क्रियाशील होता तो मरी हुई गाय से भी दूध प्रवाहित होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि अचेतन का कर्तृत्व संभव नहीं, उसके संचालन के लिए चेतन कर्तृत्व की आवश्यकता पड़ती है।[1]

१. (क) यदि क्षोरादि स्वतन्त्रप्रवर्तेत मृतेष्वपि प्रवर्तते, न तु प्रवर्तेत अतोऽवगम्यते बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितम्। (न्याय वार्तिक)

(ख) न्याय सू० ४।१।१९-२१

(ग) अयमपरो हेतुः बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिव्यक्तं सुखदुःखादिनिमित्तं भवति रूपादिमत्वात् तुर्यादिवदिति। (न्याय वार्तिक)

जैसे कुल्हाड़ो लकड़ी काटने का कारण हैं, परन्तु लकड़हारे—जैसे, चेतन नियन्ता के अभाव में कुल्हाड़ी में काटने की क्रिया नहीं हो सकती है। फलतः, लकड़ो और कुल्हाड़ी के बीच कार्य-कारण भाव नहीं बन पाता। इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक ने अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की कल्पना की है। ईश्वर में अधिष्ठातृत्व के सभी लक्षण हैं। अधिष्ठाता वही हो सकता है जिसे कार्य को उत्पत्ति में प्रयुक्त होने वाले उपादान और निमित्तकारण का पूर्णरूपेण ज्ञान हो। जिस प्रकार लकड़हारा कुल्हाड़ी के प्रत्येक भाग से परिचित है अतः, वह कुल्हाड़ी का अधिष्ठाता बनता है। उसी प्रकार ईश्वर अचेतन अदृष्ट का पूर्णरूपेण ज्ञान रखता है, इसलिए उसका नियन्ता और अधिष्ठाता बनता है।

उदयन ने ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए आठ हेतु दिए हैं। उनमें से कुछ हेतु न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तों के अनुसार है और कुछ हेतु उस समय के प्रचलित अन्य दर्शनों से लिए गए है। वे आठों हेतु निम्न प्रकार से हैं[1]:—

(१) क्षिति (पृथिवी) आदि सकर्तृक है, कार्य होने से घट के समान। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

(२) दूसरा हेतु है-आयोजनात्। सृष्टि के आदि में द्वयणुक को उत्पन्न करने वाला परमाणुद्वयसंयोगजनक कर्म चेतन प्रयत्नपूर्वक है, कर्म होने से, हमारे शरीर की क्रियाओं के समान। मनुष्य का शरीर अचेतन है, चेतन मनुष्य के प्रयत्न से ही उसमें क्रिया उत्पन्न होती है। इसी प्रकार परमाणुद्वयसंयोग जनक कर्म अचेतन है। उसका कर्त्ता चेतन ईश्वर ही हो सकता है। अतीन्द्रिय परमाणुद्वय संयोग द्वारा द्वयणुकों को उत्पन्न करने वाला मनुष्य नहीं हो सकता। इसका भी विवेचन पहले किया जा चुका हैं।

(३) तीसरा हेतु हैं-धृति (धारण)। इसका अनुमान इस प्रकार बनता है। ब्रह्माण्डादि किसी के द्वारा धारण किए हुए है क्योंकि ये गिरते नहीं है, पक्षी के द्वारा धारण की हुई लकड़ो के समान। जैसे. पक्षी अपना घोंसला बनाने के लिए तिनका ले जाता है, वह तिनका जमीन पर इसलिए नहों गिरता कि चेतन पक्षी ने उसे धारण किया है। इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड भी नहीं गिरता अतः, इसको भी धारण करने वाला कोई चेतन होना चाहिए। ईश्वर में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करने का सामथ्र्य है, मनुष्यादि में नहीं। अतः, सृष्टि ब्रह्माण्ड के धारणकर्ता के रूप में हम ईश्वर का अनुमान करते है।

धृत्यादेः हेतु में आदि का अर्थ विनाश करते हैं। इसके आधार पर अनुमान इस प्रकार बनता है। ब्रह्माण्डादि चेतन प्रयत्नपूर्वक हैं क्योंकि इनका विनाश होता है।

---

१. कार्यायोजन–धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्व्ययः॥
(न्याय कुसुमाञ्जली स्त० ५ श्लो० १)

जिसका-जिसका विनाश होता है वह चेतन प्रयत्न पूर्वक होते हैं। जैसे, पट को फाड़ने वाला कोई चेतन पुरुष ही होता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डादि का विनाश करने वाला कोई चेतन ही हो सकता है।

(४) चौथा हेतु है पदात् अर्थात् व्यवहार। घटादि सम्प्रदाय का प्रयोजक कोई स्वतंत्र पुरूष ही होगा क्योंकि ये व्यवहार है। जो जो व्यवहार है (नाना प्रकार के पदार्थों का निर्माण है) उसका प्रयोजक या शिक्षक अवश्य होता है। जैसे, आधुनिक काल में शिक्षा का प्रयोजक कोई न कोई शिक्षक अवश्य होता है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में नाना प्रकार के पदार्थों के निर्माण की शिक्षा देने वाला कोई मनुष्य नहीं था अतएव, उस व्यवहार का प्रवर्तक ईश्वर ही हो सकता है।

(५) पांचवा हेतु है, प्रत्ययः अर्थात् प्रमाण्यात्। इसका अनुमान इस प्रकार बनता है : वेद ज्ञान कारण गुण जन्य है, प्रमा होने से। जो प्रमा है वह कारण गुण जन्य है, जैसे, प्रत्यक्ष प्रमा। इसी प्रकार वेद के ज्ञान में जो प्रमाण्य है वह भी उसके वक्ता रूप कारण के गुण से जन्य है। वेद का वक्ता सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर ही हो सकता है।

(६) छठवा हेतु हैं—'श्रुतेः अर्थात् वेदात्।' इसका अनुमान इस प्रकार बनता है, वेद पौरुषेय है क्योंकि वेद है। 'जो जो वेद है वह पौरुषेय है जैसे, अथर्ववेद'। वेद पौरुषेय है कहने का अर्थ होता है कि उसका कोई न कोई निर्माता है और वह निर्माता सर्वज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर ही हो सकता है।

(७) ईश्वर की सिद्धि के लिए उदयन जो सातवाँ हेतु देते हैं वह भी वेद के निर्माता के रूप में। 'वेद पौरूषेय है वाक्य होने से महाभारतादि वाक्य के समान'। जैसे, महाभारतादि के वाक्यों के निर्माता व्यासादि है उसी प्रकार वेद का निर्माता ईश्वर है।

(८) आठवां हेतु हैं—संख्याविशेषात्। इसका अनुमान इस प्रकार बनता हैं—'द्वयणुक का परिमाण संख्या जन्य है परिमाण और प्रचय से जन्य न होने पर भी जन्य परिमाण होने से। बराबर परिमाण के दो कपालों से बने घट के परिमाण से उससे प्रकृष्ट उस प्रकार के कपालत्रय से बने घट के परिमाण के समान'। द्वयणुक में जो अणु परिमाण है उसकी उत्पत्ति दोनों परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या से होती हैं। परिमाण की उत्पत्ति तीन कारणों से हो सकती है—१. कारण के परिमाण से, २. प्रशिथिल अवयवों के संयोग से, ३. अवयवों की संख्या से। परमाणु से परिमाण की उत्पत्ति में प्रथम दोनों विकल्प तो संभव नहीं हैं अतः, परमाणु की संख्या से ही द्वयणुक में परिमाण होता है। परन्तु प्रश्न यहाँ यह है कि परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या भी तो अचेतन हैं उसकी उत्पत्ति अपेक्षा बुद्धि से होनी चाहिए। यह अपेक्षा बुद्धि किसी

चेतन में ही रह सकती है। और सृष्टि के आदि में ऐसी अपेक्षा बुद्धि ईश्वर में ही रह सकती है।

इनमें से कुछ हेतु प्रमुखतः न्याय–वैशेषिक मत के हैं परन्तु कुछ हेतु उस समय के प्रचलित सामान्य विचारधारा से लिए गए हैं। उदयन ने ईश्वर की सिद्धि के लिए न्याय–वैशेषिक के तर्क तथा उस समय के प्रचलित तर्कों को सम्मिलित रूप से प्रस्तुत किया है। उन आठों हेतुओं में से दूसरा और आठवाँ हेतु ईश्वर की सिद्धि के लिए न्याय-वैशेषिक देते हैं। न्याय–वैशेषिक ही परमाणुद्वय संयोग से जगत् की सृष्टि मानते हैं, अतः, उसके जनक के रूप में चेतन ईश्वर की कल्पना करते हैं। साथ ही द्वयणुकों में अणु परिमाण की उत्पत्ति परमाणुओं की द्वित्व संख्या से होती है यह कल्पना भी न्याय–वैशेषिक की है अतः, वे द्वित्व की उत्पत्ति के लिए चेतन की अपेक्षा बुद्धि की कल्पना करते हैं और यह अपेक्षा बुद्धि साधारण मनुष्य में नहीं हो सकती हैं अतः, ईश्वर की कल्पना करते हैं। कार्यात्, धृत्यादेः, पदात्, प्रत्यतः, श्रुतेः और वाक्यात्' ईश्वर सिद्धि के ये छः हेतु केवल न्याय–वैशेषिक को ही नहीं अन्य दर्शनों को भी मान्य है।

आलोचना

जगत्कर्त्ता, निमित्तकारणभूत न्याय-वैशेषिक का ईश्वर भारतीय दर्शन में बड़े आलोचना का विषय रहा है। जैन, बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त आदि सभी ने इसकी आलोचना की है। प्रथम शंका जैन और बौद्ध ने जगत् के कार्यत्व के विषय में की हैं। 'जगत् के कर्त्ता को बुद्धिमान होना चाहिए क्योंकि वह कार्य है' यहीं नैयायिकों ने हेतु कार्य को स्वतः सिद्ध मान लिया। जगत् के कार्यत्व की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। अतः, इस असिद्ध हेतु के आधार पर साध्य भूत ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती हैं।[1]

श्रीधर ने सावयवत्व के आधार पर कार्यत्व की सिद्धि की है। प्रभाचन्द्र ने इस सावयवत्व का अनेक अर्थ करके उनकी आलोचना की हैं। सावयवत्व का पहला अर्थ किया है—'अवयव के साथ जो हैं वह सावयव हैं' और ऐसा मानने पर सावयवत्व की गोत्वादि में अतिव्याप्ति होगी। गोत्वादि जाति भी अवयव से युक्त हैं अतः, उन्हें भी सावयव मानना होगा।

सावयव का दूसरा अर्थ किया है 'अवयव से जो उत्पन्न हो वह सावयव हैं'। इसकी आलोचना की हैं कि न्याय सम्मत मूलकारणभूत अवयव परमाणु सिद्ध नहीं है।

---

१. (क) तदत्रासिद्धता हेतोः प्रथमे साधने यतः।
सन्निवेशो न योगाख्यः सिद्धो नावयवी तथा।
(तत्त्व संग्रह भाग १ श्लोक ५६)

(ख) प्रमेय कमल मार्तण्ड

(ग) न्याय कुसुमाञ्जलि चन्द्रिका

असिद्ध परमाणुओं के आधार पर क्षिति आदि की उनके कार्य के रूप में नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

कार्य के आधार पर ईश्वर का अनुमान करने से अन्योन्याश्रय दोष भी आता है। ईश्वर से कार्य की उत्पत्ति और कार्य से ईश्वर का अनुमान इस प्रकार एक दूसरे के आश्रय से दोनों की सिद्धि होती है।

पूर्वपक्षी ने ईश्वर में सशरीरत्व का आक्षेप किया है। उनके अनुसार ईश्वर यदि कर्ता है तो उसे सशरीरी भी होना चाहिए, क्योंकि किसी भी कार्य को करने के लिए ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की आवश्यकता होती हैं। जैसे, कुम्भकार घट का निर्माण तभी कर सकता है जबकि घट बनाने की कला का उसे पूरा-पूरा ज्ञान हो, घट बनाने की उसकी इच्छा हो तथा वह घट बनाने के लिए प्रयत्न करें। इस ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता होती है तथा इन इन्द्रियों के लिए इनके आश्रयभूत शरीर की आवश्यकता होती है। ईश्वर यदि सृष्टि करता है तो उसे इस नियम के अनुसार सशरीरी होना चाहिए। यदि उसके पास ज्ञान, इच्छा प्रयत्न के सांधन भूत इन्द्रिय तथा उनका आश्रय शरीर नहीं है तो वह कर्त्ता नहीं सकता।[1] कार्यत्व इस हेतु में सत्प्रतिपक्ष दोष है। क्षित्यादि कर्त्ता से नहीं उत्पन्न होते शरीरी से न उत्पन्न होने के कारण। इसप्रकार, एक हेतु क्षित्यादि के कर्तृजन्य को सिद्ध करता है दूसरा हेतु कर्त्रंजन्यत्व सिद्ध करता है अतः, न्याय–वैशेषिक के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष है।

तीसरी शंका पूर्वपक्षी ने ईश्वर के नित्य ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के विषय में की है। नैयायिकों ने उपर्युक्त कठिनाइयों से बचने के लिए यह मान लिया है कि ईश्वर का ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं अतः, उसके लिए शरीर या इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु पूर्वपक्षा ने इसमें यह आक्षेप किया है कि ईश्वर के ज्ञान, इच्छा प्रयत्नादि नित्य हैं तो उससे सृष्ट जगत् भी नित्य होना चाहिए। ईश्वर का अनुमान करते समय जिस कर्त्ता का उदाहरण दिया गया हैं (कुम्भकार) वह अनित्यज्ञानवान है, उसके आधार पर नैयायिक नित्य ज्ञानवान का अनुमान नही कर सकते। ईश्वर को नित्य मानने पर तीसरी समस्या यह होगी कि ईश्वर नित्य है तो सृष्टि ओर प्रलय दोनों के प्रयत्न नित्य होंगे। सृष्टि का जो कारण है वह प्रलयावस्था में भी होगा और प्रलयावस्था का

---

१. (क) नेश्वरः क्षित्यादेः कर्ता अशरीरत्वात् मुक्तात्मवत्।............
शरीरसम्बन्धेनैवतत्प्रेरणोपलम्भात्''''' '''ईश्वरज्ञानादयो न नित्याः ज्ञानादित्वात्, अस्मदादि ज्ञानादिवत्। (न्याय कुसुमाञ्जलि चन्द्रिका)
(ख) प्रमेय कमल मार्तण्ड
(ग) शास्त्र दीपिका

कारण सृष्टि काल में भी होगा और दोनों के परस्पर विरुद्ध होने से सृष्टि और प्रलय दोनों संभव नहीं हो सकेगें ।[१]

चौथी शंका पूर्वपक्षी ने ईश्वर के धर्मा-धर्म अधिष्ठातृत्व के विषय में की है। 'ईश्वर नित्य होकर भी नित्य जगत् की सृष्टि नहीं करता, क्योंकि वह मनुष्यों के धर्म और अधर्म के कारण सृष्टि करता है। इस नानात्व जगत् का कारण मनुष्य के धर्माधर्म है।' नैयायिकों के इस तर्क का उन्होंने खण्डन किया है। क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक समस्यायें उपस्थित हो जाएगी। प्रथम तो यह कि ईश्वर धर्माधर्म की अपेक्षा से कार्य करता है, अतः, वह निरपेक्ष कर्ता नहीं है।[२] दूसरे, जिन धर्माधर्म की सहायता से वह सृष्टि करता हैं उनका वह कर्ता नहीं हो सकता। तीसरे, ईश्वर का कर्तृत्व धर्माधर्म सापेक्ष मान लेने पर धर्माधर्म रूप अदृष्ट और ईश्वर के बीच संबंध की व्याख्या नहीं की जा सकती है, दोनों के बीच न तो भेद की कल्पना की जा सकती है न अभेद की। दोनों में भेद मान नहीं सकते क्योंकि उस अवस्था में दोनों के बीच संबंध की कल्पना करनी पड़ेगी तथा उस संबंध के लिए फिर अन्य संबंध की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार 'अनवस्था-दोष' होगा। ईश्वर और अदृष्ट में अभेद मान लेने पर या तो ईश्वर को अदृष्ट की तरह मानना पड़ेगा या अदृष्ट को ईश्वर की तरह। ईश्वर को यदि हम अदृष्ट की तरह मान लेते हैं तो ईश्वर को अनित्य मानना पड़ेगा और यदि अदृष्ट को ईश्वर की तरह मानते है तो अदृष्ट को भी नित्य मानना पड़ेगा और पुनः सतत् सृष्टि का प्रसंग उपस्थित होगा।[3]

पाँचवीं शंका पूर्वपक्षी ने ईश्वर के स्वरूप के विषय में की है। नैयायिकों ने ईश्वर को निष्क्रिय और आप्तकाम माना है। पूर्वपक्षी का यह आक्षेप हैं कि ईश्वर निष्क्रिय है वह सृष्टि नहीं कर सकता है। यदि ईश्वर को सक्रिय या व्यापारवान मानेगें तो उसे अनित्य मानना होगा। दूसरे, ईश्वर का स्वरूप आप्तकाम है, उसमें किसी प्रकार की कोई इच्छा नहीं है, उसका कोई प्रयोजन नहीं है तो वह जगत् की सृष्टि कैसे करता ? बिना किसी प्रयोजन के बुद्धिमान व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत नहीं होता।[४] नैयायिकों का यह

---

१. संयोजकस्य च सर्गहेतोः प्रलयकालेऽप्यवस्थानात् उभयोः परस्परविघातान्न सृष्टिः स्यात् न प्रलयः। (शास्त्र दीपिका)

२. (क) अदृष्टापेक्षस्य च कर्तृत्वे किं तत्कल्पनाया ? कल्पितोऽपि असावधीनश्चेत् जगदेव तदाधीनमस्तु किमनेनान्तर्गडुना ? (न्याय कुसुमाञ्जलि चन्द्रिका)
(ख) प्रमेय कमल मार्तण्ड

३. तस्य चातो (ईश्वरात्) भेदे सम्बन्धोसंभवः। संबंधकल्पनायां चानवस्था। अभेदे-तत्करणे महेश्वर एव कृत इत्यदृष्टकार्यतास्य। (प्रमेय कमल मार्तण्ड)

४. निर्व्यापारः ईश्वरः सर्वगतत्वात् आकाशवत्, सक्रियत्वे चास्य अतादवस्थ्यानुषङ्गद-नित्यत्वं स्यात्। (न्याय कुसुमाञ्जलि चन्द्रिका)

कथन कि ईश्वर का अपना कोई प्रयोजन नहीं हैं, वह प्राणियों द्वारा किए गए कर्मो पर अनुग्रह मात्र करता है, ऐसा हम नहीं मान सकते, क्योकि ईश्वर यदि अनुग्रह करता तो संभवतः संसार इतना दुःखमय न होता।[1]

इस प्रकार बौद्ध, जैन, वेदान्त, मीमांसा आदि दार्शनिकों ने जगत्कर्ता के रूप में, अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में, परमाणुओं में प्रथम गति आरम्भक के रूप में प्रत्येक दृष्टि से, आप्तकाम, नित्य और निष्क्रिय के कर्तृत्व का खण्डन किया है।

शंकाओं का समाधान

वस्तुतः ध्यान से देखा जाय तो यह सभी शंका दार्शनिकों के सैद्धान्तिक भेद के कारण है। बौद्धों ने 'जगत् कार्य है' इसका खण्डन सैद्धान्तिक भेद के कारण किया है। बौद्धों के अनुसार जगत् कार्य या अवयवी की सत्ता नहीं है। इस पर पहले विस्तार से विचार किया हैं।

जैन ने जगत् के कार्यत्व का खण्डन किया है। उसके सिद्धान्त के अनुसार जगत् को कार्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि जैन मत में जगत् की सत्ता अनादि-काल से है वह न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है। 'उत्पत्ति, स्थिति और विनाश वस्तु का अपना स्वरूप है उसका अन्य कोई कारण नहीं है। इस प्रकार, जैन सृष्टि और प्रलय दोनों ही नहीं मानता। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक जो श्रुति-सम्मत सृष्टि और प्रलय दोनों मानते है, उनके लिए जगत् को कार्य मानना तथा उसके कर्त्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना करना दोनों ही आवश्यक हो जाते हैं। प्रभाचन्द्र ने कार्य का अर्थ सावयव किया है और पुनः सावयव का अनेक अर्थ करके उनका खण्डन किया है। 'अवयव के साथ जो है वह सावयव हैं, ऐसा अर्थ करने से प्रभाचन्द्र के अनुसार गोत्वादि में अतिव्याप्ति होती है। परन्तु ऐसी शंका न्याय-वैशेषिक के लिए नहीं करनी चाहिए। न्याय-वैशेषिक मत में पदार्थ, जैन सम्मत पदार्थ की तरह सामान्य विशेषात्मक नहीं होते। न्याय-वैशेषिक में जाति या सामान्य की कल्पना व्यक्ति या विशेष से अलग की गई है।

'अवयवों से उत्पन्न सावयव है' और परमाणु जो सृष्टि के मूल अवयव है वे असिद्ध है अतः, उनके आधार पर क्षिति आदि के कार्यत्व को सिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु ऐसी शंका भी नहीं उठनी चाहिए। जैनियों को न्याय-वैशेषिक या परमाणु मान्य न हो परन्तु न्याय-वैशेषिक को वह परमाणु मान्य है अतः, उन परमाणुओं से जन्य क्षित्यादि कार्य को मानना ही पड़ेगा।

---

१. कर्त्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा दृष्टोऽन्यथा कृदकृतावपि तत्प्रसङ्गः। कार्यं किमत्रभवतापि च तक्षकाद्यैराहत्य च त्रिभुवने पुरुषः करोति। इति।

(सर्वदर्शन संग्रह)

उपर्युक्त तर्क हमने इसलिए दिया है कि जैन दार्शनिक की शंकाओं का न्याय-वैशेषिक के अनुसार समाधान किया जा सकता है। वस्तुतः न्याय वैशेषिक ने कार्य का अर्थ सावयव किया है लेकिन सावयव का अर्थ प्रभाचन्द्र के अर्थ से भिन्न है। सावयव वह है जिसकी अनेक के संयोग से उत्पत्ति हो। इसे जैन भी मानते हैं। ऐसा कोई उदाहरण भी नहीं दिया जा सकता जो सावयव होकर भी कार्य न हो। यदि जैन सावयव को कार्य नहीं मानता तो उसके मत में कार्य का क्या स्वरूप है ? पुनः कार्य तो अनुभवसिद्ध है इसकी सिद्धि की क्या आवश्यकता ?

अशरीरी होने पर भी हम ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खण्डन नहीं कर सकते हैं। श्रीधर तथा विश्वनाथ दोनों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। उनके अनुसार ईश्वर के जगत् कर्तृत्व की सिद्धि के लिए जो अनुमान दिया गया है, उसकी व्याप्ति इस प्रकार बनती है, 'जो जो कार्य है वह वह सकर्तृक है' न कि 'जो जो कार्य है उसका कर्ता शरीरी है' यहाँ साध्य कर्तृजन्यत्व है न कि शरीराजन्यत्व अर्थात् यहाँ कर्ता से उत्पन्न होना सिद्ध किया है न कि शरीर से उत्पन्न होना।

पृथ्वी आदि अकर्तृक है क्योंकि शरीरी से उत्पन्न नहीं होते इस प्रकार का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि शरीराजन्यत्व हेतु और अकर्तृकत्व साध्य में कारण–कार्य भाव नहीं बनता। जो शरीरी है वह कर्ता अवश्य हो इसमें सन्देह नहीं कि कार्यत्व हेतु और कर्तृजन्यत्व में कारण-कार्य भाव बनता है। ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसका कर्ता न हो। इस प्रकार कार्यत्व और कर्तृजन्यत्व की व्याप्ति के लिए कारण-कार्य भाव-रूप अनुकूल तर्क मिल जाता हैं परन्तु शरीराजन्यत्व और कर्त्रजन्यत्व (कर्ता से न उत्पन्न होना) व्याप्ति में कारण-कार्य भाव नहीं बनता अतः:, नैयायिकों का हेतु अधिक बलवान है, प्रतिपक्षी के अनुकूल तर्कहीन हेतु से नैयायिकों के हेतु में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का दोष नहीं आता।[1]

श्रीधर ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जो शरीरी है वह अवश्य कर्ता हो 'यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो शरीरी होकर भी कर्ता नहीं है। जैसे, सोया हुआ व्यक्ति या किसी कार्य को न करके उसके प्रति उदासीन होकर बैठा हुआ व्यक्ति शरीरी होकर भी कार्य नहीं करता ! श्रीधर ने कर्ता का लक्षण किया है 'परिदृष्ट सामर्थ्य कारकप्रयोजकत्व' अर्थात् जिसमें कार्य के करने का सामर्थ्य हो तथा जो कारकों को उचित रूप से संचालित करता है, उसे हो कर्ता कहते हैं, चाहे

---

१. न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्। अप्रयोजकत्वात्। मम तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एवाऽनुकूलस्तर्कः।

(न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लोक १)

शरीरी हो या अशरीरी। ईश्वर में जगत् को उत्पत्ति का सामर्थ्य है, अतः ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[1]

उदयन ने भी इस शंका का समाधान किया है। उनके अनुसार ईश्वर में अशरीरत्व का आरोप करने से आत्माश्रय दोष होगा। पूर्वपक्षी ईश्वर नहीं मानते और ईश्वर के ज्ञान के बिना उसके शरीर के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। ईश्वर में शरीराभाव का अनुमान भी ईश्वर के आधार पर ही किया जा सकता है।[2] इस प्रकार, प्रमाणित हो तो कार्यभेद से शरीरी और अशरीरी दो प्रकार का कर्ता मान लेना चाहिए।

उदयन तथा वर्धमान ने शरीरी की अनेक परिभाषा करके यह स्पष्ट किया है कि ईश्वर के शरीरी न होने पर भी उसके कर्तृत्व में बाधा नहीं आती क्योंकि साक्षात् अधिष्ठातृत्व केवल अपने शरीर के विषय में ही हो सकता है। कुम्भकार का घट के प्रति जो कर्तृत्व है वह साक्षात् न होकर परम्परया है। कुम्भकार पहले अपने शरीर को प्रेरित करता है तब घट को। इस परिभाषा के अनुसार शरीरी का भी कर्तृत्व संभव नहीं।[3]

उदयन के अनुसार भोगाश्रय को शरीरी मान लेने पर ईश्वर में कर्तृत्व की अव्याप्ति नहीं हो सकती। ईश्वर आप्तकाम है अतः, उसके लिए भोग और भोग के आश्रयभूत शरीर की कोई आवश्यकता नहीं होती। भोग तब होता है जब हम वस्तु के विशेष रूप का दर्शन नहीं कर पाते। वस्तु के विशेष रूप का दर्शन न कर पाने से राग और द्वेष उत्पन्न होता है। इस राग और द्वेष से धर्माधर्म होता है तथा इस धर्माधर्म से भोग होता है। ईश्वर सर्वज्ञ है ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके विशेष रूप का ज्ञान उसे न होता हो। ईश्वर का ज्ञान कभी मिथ्या नहीं हो सकता अतः, उसमें न तो राग और द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है न धर्माधर्म की।[3] अतः, भोगाश्रय के रूप में उसे शरीर की आवश्यकता होती ही नहीं।

---

१. न तावच्छरीरित्वमेव कर्तृत्वम्, सुषुप्तस्योदासीनस्य च कर्तृत्वप्रसङ्गात्, किन्तु परिदृष्टसामर्थ्य कारकप्रयोजकत्वम्, तस्मिन् सति कार्योत्पत्तेः। (न्याय कंदली)

२, न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो नो नासिद्धिरनिबन्धना॥ (न्याय कुसुमाञ्जली ५।२)

३. यत्र प्रयत्नवदात्मसंयोगसमवायिकारणकक्रियोत्पादको यः, स तत्र साक्षादधिष्ठाता, यथा स्वशरीरे अस्मदादिः। शरीरक्रियया यो यत्क्रियाजनकः, स तत्र परम्पराऽधिष्ठाता यथा दण्डादौ कुलालादिः। (न्याय कुन्दली)

४. न हि नित्यज्ञानं भोगरूपमभोगरूपं वा यत्नमपेक्षते तस्य कारणविशेषत्वात्। न च नित्यसर्वज्ञस्य भोगसम्भावनाऽपि विशेषादर्शनाभावे मिथ्याज्ञानावकाशे दोषानुत्पत्तौ धर्माधर्मयोरसत्वात्। (न्याय कुसुमाञ्जलि)

यदि हम शरीर की परिभाषा इन्द्रियाश्रयत्व करते हैं तो भी ऐसे शरीर की ईश्वर को कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि जिसका ज्ञान विच्छिन्न है; बाधित है, अनित्य है उसके लिए इन्द्रिय की आवश्यकता पड़ती है, अविच्छिन्न, अबाधित और नित्यज्ञानवान ईश्वर के लिए इन्द्रिय को आवश्यकता नहीं होती ।[1]

श्रीधर ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार से किया है—शरीरी में ही ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न हो यह कोई आवश्यक नहीं । जहाँ ज्ञान, इच्छा प्रयत्नादि आगन्तुक गुण हैं वहाँ शरीर की आवश्यकता होती है, परन्तु जहाँ ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नादि आगन्तुक गुण न होकर स्वाभाविक गुण है वहाँ शरीर को कोई आवश्यकता नहीं होती ।[2] इस प्रकार बुद्धि, इच्छादि भी जीव और ईश्वर रूप आश्रय के भेद से नित्य और अनित्य दो प्रकार के हो सकते हैं ।

ईश्वर को शरीरी मान लेने पर सृष्टि ही संभव नहीं हो सकती क्योंकि शरीरी मान लेने पर इसके साधन भूत इन्द्रियों को मानना पड़ेगा । इन्द्रियों का ज्ञान सीमित है, वे अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओं का ज्ञान कर ही नहीं सकती अतः, उनसे सृष्टि संभव नहीं ।[3]

'अनित्यज्ञानवान् कुम्भकार के दृष्टान्त के आधार पर नित्यज्ञानवान् ईश्वर को नहीं सिद्ध किया जा सकता', पूर्वपक्षी की इस शंका का समाधान भी उदयन ने किया है। एक ही हेतु से सर्वज्ञ और असर्वज्ञ दोनों को सिद्धि हो सकती है । इसमें कोई दोष नहीं है । एक वस्तु में चक्षुरीन्द्रिय से हमें रूप का ज्ञान होता है और स्वादेन्द्रिय से उसके स्वाद का । साथ ही अनुमान की प्रक्रिया में दृष्टान्त तथा साध्य में कुछ विशेष का अन्तर होता ही है । धूम के द्वारा जो पर्वतीय वह्नि का अनुमान करते हैं उसमें महानस का उदाहरण देते हैं । महानसीय वह्नि और पर्वतीय वह्नि में बड़ा अन्तर है, लेकिन अनुमान के द्वारा साध्य पर्वतीय वह्नि की सिद्धि होती ही है । उसी प्रकार ईश्वररानुमान में ईश्वर साध्य सर्वज्ञ है और दृष्टान्त कुम्भकार असर्वज्ञ, तो इसमें कोई आपत्ति का प्रश्न नहीं उठता ।[4]

---

१. अथेन्द्रियाश्रयत्वम् ? तन्न । तदवच्चिन्नप्रयत्नोत्पत्तौ तदवच्छिन्न ज्ञानजननद्वारेणेन्द्रियाणामुपयोगात् । अनवच्छिन्ने प्रयत्ने नायं विधिः । नित्यन्वात् । (न्याय कु०)

२. इच्छाप्रयत्नोत्पत्तावपि शरीरमपेक्षणीयमिति चेत् ? अपेक्षतां यत्र तयोरागन्तुकत्वम्, यत्र पुनरिमौ स्वाभाविकावासाते तत्रास्यापेक्षणं व्यर्थम् । (न्याय कन्दली)

३. नात्र शरीरपूर्वकत्वं साधनीयम्, शरीरे सत्यवश्यमिन्द्रियप्राप्तावतीन्द्रियोपादानोपकरणादिकारकशक्तिपरिज्ञानासम्भवे सति कर्तृत्वासम्भवात् । (न्याय कन्दली)

४. विशेषविरोधस्तु विशेषसिद्धौ सहोपलम्मेन तदसिद्धौ मिथोधर्मिवरिहानुपलम्भेन निरस्तो नाशङ्कामप्यधिरोहतीति । (न्याय कुसुमाञ्जलि)

ईश्वर जगत् की सतत् सृष्टि नहीं करता क्योंकि वह मनुष्य के धर्माधर्म की सहायता से सृष्टि करता है। धर्माधर्म की सहायता लेकर भी ईश्वर कैसे निरपेक्ष और स्वतंत्र कर्ता हैं ? इसका स्पष्टीकरण उदयन ने किया है। ईश्वर को धर्माधर्म सापेक्ष मानने पर भी उसका स्वतंत्र कर्तृत्व खण्डित नहीं होता क्योंकि यह कोई आवश्यक नहीं कि कर्ता जिस वस्तु की सहायता लेता है उसकी वह उत्पत्ति नहीं कर सकता। व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो अनेक वस्तुओं को बनाने में समर्थ होते हैं। कोई व्यक्ति दण्डादि की सहायता से परशु बनाता है और उसी परशु की सहायता से दण्ड बनाता है तथा उस दण्ड की सहायता से घट बनाता है। जिसकी सहायता वह लेता है उसका भी निर्माण वहीं करता है अतः, उसका स्वतंत्र कर्तृत्व खण्डित नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर धर्माधर्म की सहायता से मनुष्य शरीर तथा उसके सुख दुःख की सृष्टि करता है तथा आत्ममनःसंयोग और शुद्ध-अशुद्ध साधनों से धर्म-अधर्म की सृष्टि करता है। पुनः अतीत के सुख-दुःख का स्मरण करके शुद्ध-अशुद्ध अभिसन्धि की सृष्टि करता है। एक ही समय में ईश्वर धर्मा-धर्म का कर्ता हो और धर्माधर्म की सहायता से सृष्टि भी करता हो, तब तो ईश्वर के स्वतंत्र कर्तृत्व के प्रति आक्षेप किया जा सकता था, परन्तु इस क्रमिक उत्पत्ति को देखकर उपर्युक्त शंकायें नहीं होनी चाहिए।[1]

यदि कोई यह प्रश्न करता है कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने किससे सहायता ली थी ? सृष्टि के आदि में धर्माधर्म तो थे नहीं, उस अवस्था में ईश्वर निरपेक्ष स्वतंत्र कर्ता था तब उसने क्यों नहीं युगपद अर्थात् एक साथ जगत् की सृष्टि की ? न्याय के लिए ऐसी शंका करना ठीक नहीं क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह सृष्टि अनादि हैं। सृष्टि और धर्माधर्म का क्रम सतत् चलता रहता है अतः, सृष्टि के आदि में यह प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

ईश्वर के स्वतंत्र कर्त्ता होने पर अन्य कुम्भकार या तन्तुवाय आदि का कर्तृत्व व्यर्थ नहीं होता। कोई यह शंका करे कि ईश्वर जब समस्त जगत् की स्वतंत्र रूप से सृष्टि करता है तब घट-पटादि सभी की सृष्टि हो जाती है। फिर उसके कर्ता के रूप में

---

१. नानेकान्तात् नायमेकान्तोऽस्ति यो येन करोति स तन्न करोतीति यथाऽनेकशिल्पपर्यवदातः पुरुषः कारणान्तरोपादानो वास्यादि करोति, वास्याद्युपादानो दण्डादि करोति तदुपादानो घटादि, न च पर्यायकर्तृत्वे सति अकर्तृत्वम्, तथेश्वरोऽपि धर्माधर्मोपादानः शरीरसुखादिः, आत्ममनःसंयोगशुद्धाशुद्धाभिसन्धिसाधनश्च धर्माधर्मौ, सुखदुःखस्मृत्यपेक्षः तत्साधनाद्यपक्षेश्च शुद्धमशुद्धं चाभिसन्धिमति। (न्याय वार्तिक)

२. (क) आदेरनभ्युपगमाददेश्यमेतत्—अनादिः संसार इति प्रतिपादितमेतत् धर्माधर्म साफल्यं चैवम्—यदि चानादिः संसारः सापेक्षश्च च कर्ता, एवं प्राण्यन्तरसमवायिनां धर्माधर्माणां साफल्यम्। (न्याय वार्तिक)

अलग से कुम्भकार और तन्तुवाय की कल्पना की क्यों जाय ? ऐसा सोचना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं, और सभी कारण स्वतंत्र हो सकते हैं। न्याय–वैशेषिक के अनुसार परिमाण का कारण, कारण का परिमाण, प्रशिथिल अवयव संयोग और कारण की संख्या तीनों है, कभी-कभी तीनों मिलकर कार्य में परिमाण उत्पन्न करते हैं। परन्तु जब उनमें से किसी एक से परिमाण उत्पन्न होता है तो यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य दो का कारणत्व व्यर्थ है। इसी प्रकार ईश्वर के सर्वकर्ता होते हुए भी कुविन्दादि का कर्तृत्व व्यर्थ नहीं होता।[1]

पुनः स्वतंत्र कर्ता का अर्थ होता है कि कर्त्ता अपने उपादानों के अनुरूप कार्य करें। कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखना तथा कारकों का प्रयोग करना ही स्वतंत्र कर्तृत्व है। यह दोनों लक्षण ईश्वर में है। ईश्वर में जगत् को उत्पन्न करने की क्षमता हैं तथा सृष्टि के उपादानकारणभूत परमाणुओं का उचित प्रयोग भी वह जानता है। अतः, उसके स्वतंत्र कर्तृत्व के विषय में कोई शंका नहीं होनी चाहिए।[2]

अन्य समस्या जिसका समाधान भी उदयन ने किया है, वह यह है कि ईश्वर निष्क्रिय होकर भी जगत् की सृष्टि कैसे कर सकता है ? उनके अनुसार ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि क्रियाशील ही कारण होता है और क्रिया रहित नहीं। कारण दो प्रकार के होते हैं—क्रियाशील और क्रियारहित। उदयन ने निष्क्रिय कारण के कुछ उदाहरण भी दिए हैं।

पहला उदाहरण तो यह दिया है कि दो गतिशील पदार्थों का जब संयोग होता है तब दोनों की गति रुक जाती है और उस निष्क्रिय गति से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।[3] निष्क्रिय द्रव्य से कार्योत्पत्ति का दूसरा उदाहरण उदयन यह देते हैं कि जब बहुत से द्रव्य मिलकर एक असाधारण द्रव्य की उत्पत्ति करते हैं वह निष्क्रिय कारण से ही कार्य की उत्पत्ति का उदाहरण है।[4]

जब किसी द्रव्य का एक भाग काट कर निकाल लिया जाता है तब शेष बचे

---

१. तथापि न सम्भेदेऽन्यतरवैयर्थ्यम्। परिमाणं प्रति सङ्ख्यापरिमाणप्रचयवत् प्रत्येकं सामर्थ्योपलब्धो सम्भूयकारित्वोपपत्तेः। (न्याय कु०)

२. किं पुनः स्वातन्त्र्यम् ? अन्यकारकाप्रयोज्यत्वमितकारकप्रयोजक्तृत्वं च, तदुक्तं कारकाणि वर्णयद्भिरिति। (न्याय वार्तिक)

३. तदाऽनेकान्तः क्रियावच्च कारणं दृष्टं निष्क्रियं चेति। कदाचिद् द्रव्याणि उपरत क्रियाणि द्रव्यमारभन्ते-संयोगात् निवृत्ते कर्माणि संयोगोपकरणानि द्रव्याणि द्रव्यमारभन्त इति निष्क्रियमाणमारम्भः। (न्याय वार्तिक)

४. यदा युगपद् अनेकानि द्रव्याणि संहन्यते तदाऽसाधारणकार्यंव्यावृत्तेभ्यः संयोगेभ्यः एकमेव द्रव्यमुत्पद्यते। (न्याय वार्तिक)

हुए द्रव्य एक नया रूप धारण कर लेते हैं यह भी निष्क्रिय कारण से ही कार्योत्पत्ति का उदाहरण है।[१] जैसे, यदि एक चौकोर पत्थर के कोने वाले भागों को काटकर हम निकाल देते हैं तो शेष बचे हुए भाग इस पत्थर को एक नवीन गोल आकृति देते हैं। इसी प्रकार जगत् की सृष्टि में भी हम वैसा ही उदाहरण पाते हैं। जहाँ कर्ता में कोई गति नहीं होती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि निष्क्रिय भी कार्योत्पत्ति कर सकता है।

सृष्टि में आप्तकाम ईश्वर का क्या प्रयोजन है इसका समाधान भी नैयायिकों ने किया है। ईश्वर, लीला विलास या किसी उद्देश्य से सृष्टि नहीं करता, क्योंकि वह आप्तकाम हैं। सृष्टि करना ईश्वर का स्वभाव है, जिस प्रकार धारण करना पृथ्वी का स्वभाव है, उसी प्रकार सृष्टि करना ईश्वर का स्वभाव है। ईश्वर बुद्धिमान हैं तथा उसका कर्तृत्व धर्माधर्म सापेक्ष है। अतः, वह न तो सतत् प्रवृत हो सकता है न एक साथ एक काल में सब कार्यों को उत्पत्ति कर सकता है। जिस कारण–सामग्री के साथ सान्निध्य होता है उसकी वह उत्पत्ति करता है तथा जिस कारण–सामग्री के साथ उसका सान्निध्य नहीं होता उसकी वह उत्पत्ति नहीं करता। सभी कारण–सामग्री के साथ उसका एक साथ सान्निध्य नहीं हो सकता अतः, एक साथ कार्योत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता। सतत् प्रवृत होते हुए भी ईश्वर धर्माधर्म परिपाक की अपेक्षा रखता हैं और उसी के अनुसार सृष्टि करता है।[२]

अन्य भारतीय दर्शन में जगत्कारणता पर विचार

न्याय ने ईश्वर के विपक्ष में उठी शंकाओं का समाधान बहुत तर्कपूर्ण ढंग से किया है। वस्तुतः यदि ध्यान से देखा जाय तो विपक्षियों की यह समस्त शंकायें उनके सैद्धान्तिक भेद के कारण हैं। सबकी अपनी-अपनी तत्वभूत मान्यता है। अतः, उनके अनुसार भेद होना स्वाभाविक है।

चार्वाक कार्य के कारण को ही नहीं मानता। यह स्वभाववादी है। अतः जगत् कार्य और उसके निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की कल्पना का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही चार्वाक की दृष्टि स्थूल है, प्रत्यक्ष तक ही सीमित है; अतः, उसके लिए

---

१. एकावयवविभागे तु द्रव्यनिवृत्तौ शेषाणि द्रव्यान्तराणि द्रव्यमारभन्त इति निष्क्रियमाणमारम्भः। (न्याय वार्तिक)

२. नैष दोषः बुद्धिमत्वेन विशेषणात् बुद्धिमत्तत्वमिति प्रतिपादितम् बुद्धिमत्तया च विशिष्यमाणं सापेक्षं च न सर्वदा प्रवर्तते न सर्वमेकस्मिन् काले उत्पादयति, यस्य कारणसान्निध्यं तद्भवति यदसन्निहितकारणं तन्न भवति, न च सर्वस्य युगपत्कारणसान्निध्यमस्ति, अतः सर्वस्य युगपदुत्पादो न प्रसक्तः, स खलु प्रवर्तमानो धर्माधर्मयोः परिपाककालमपेक्षते कारणान्तरोत्पादं तद्भागिनां च सत्वानां तन्न सन्निधानं तद्भागि सत्व धर्माधर्मपरिपाकं च तद्प्रतिबन्ध.......... (न्याय वार्तिक)

अतीन्द्रिय अनुमानगम्य ईश्वर को कल्पना करना दूर की वस्तु है। साथ ही चार्वाक मत में चार जड़ तत्वों से ही सृष्टि हाती है, निमित्त भूत चेतन कर्ता की कोई आवश्यकता नहीं हैं।

जैन के तत्वदर्शन में भी ईश्वर जैसे निमित्त कारण की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनके अनुसार जगत् एक अनादि शृंखला है अतः, उसके कर्ता की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। सृष्टि, स्थिति और विनाश वस्तु के स्वभाव में है, उसके लिए किसी वाह्य कर्त्ता की आवश्यकता नहीं होती। परमाणु स्वयं गतिशील है तथा उन परमाणुओं से ही सृष्टि होती है।

बौद्धों के तत्वदर्शन में नित्य सत्ता का कोई स्थान नहीं हैं। उनके यहाँ सब कुछ क्षणिक और अनित्य है। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। पूर्ववर्ती क्षण अपने परवर्ती क्षण का निमित्त मात्र है। प्रत्येक वस्तु 'उत्पत्ति-विनाश' 'कार्य-कारण' को शृङ्खला में बँधी एक क्रमबद्ध घटना मात्र है—कहीं कोई विराम नहीं है। अपने तत्व दर्शन के नियम से बंधा हुआ बौद्ध-दर्शन नित्य ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकता था। पूर्ववर्ती क्षण को परवर्ती क्षण का निमित्त तो मानते हैं, परन्तु अलग से उनके कर्ता की आवश्यकता नहीं समझते। बौद्धों के समक्ष तीन प्रश्न मुख्य थे—दुःख, उसका कारण और उसका निदान। अतः, इस प्रसंग में ईश्वर जैसे अतीन्द्रिय की कल्पना करना उनके लिए उतना ही अप्रासंगिक था जितना की कांटा चुभने पर उसे निकालने के बजाय हम इस बात पर विचार करना प्रारंम्भ कर दे कि काँटा कहाँ से आया।

सांख्य भी अपने कारणवाद के सिद्धान्त के आधार पर मूलभूत मान्य तात्विक पदार्थ प्रकृति तक पहुँचता है। सत्कार्यवाद से यह सिद्ध होता है कि व्यक्तावस्था वाला जगत् अव्यक्त रूप से अपने कारण तन्मात्राओं में पहले से था। तन्मात्रायें भी कार्य हैं अतः, वे भी अपने कारण अहंकार में अव्यक्त रूप से विद्यमान थी। अहंकार भो कार्य है अभिव्यक्त है अतः, वह भी अपने कारण महत् में अव्यक्त रूप से विद्यमान था और महत् अपने कारण प्रकृति में, जो मात्र कारण है, अव्यक्त और अनभिव्यक्त है। कार्य अभिव्यक्त है ऐसा कहने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका अन्त अनभिव्यक्त कारण में हागा। मूल कारण प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सत्कार्यवाद एक माध्यम का कार्य करता है। इसी तरह सत्कार्यवाद में जो विनाश का स्वरूप बतलाया गया हैं उससे भी मूल कारण प्रकृति की ही सत्ता सिद्ध होती हैं। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी कार्य का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता, विनाश का अर्थ हाता है 'काय अपने कारण में तिरोभूत हो गया।' घट नष्ट होता है तो उसका आत्यन्तिक विनाश नहो हाता अपितु, वह अपने कारण मृत्तिका में तिरोभूत हो जाता है। मृत्तिका तन्मात्राओं में, तन्मात्रायें अहंकार में, अहंकार महत् में और महत् अपने कारणभूत मूल प्रकृति में तिरोभूत हो जाता है। कार्य की उत्पत्ति भी प्रकृति से होती है तथा कार्य का विनाश भी अन्ततागत्वा

प्रकृति में होता है। सत्कार्यवाद के द्वारा सांख्य ने इस बात पर बल दिया कि कारण और कार्य में तादात्म्य है, कारण कार्य की सूक्ष्मावस्था है। जगत् कार्य त्रिगुणात्मक है अतः, उसके आधार पर उसके सूक्ष्म कारण भूत त्रिगुणात्मक प्रकृति की सत्ता सिद्ध करते है। तादात्म्य की प्रक्रिया में उपादान कारण ही मुख्य है। कारण और कार्य का साम्य उपादान कारण को ही दृष्टि में रखकर बताया गया। कार्य तिरोभूत होकर अपने उपादान कारण में ही लीन होता है। यहाँ निमित्त कारण गौण है। प्रकृति निमित्त और उपादान कारण दोनों है। जड़ होते हुए भी प्रकृति सतत् क्रियाशील है अतः, यहाँ निमित्त कारणभूत ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार, सांख्य अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानता है। परन्तु सांख्य की मान्यता में अनेक ऐसी समस्यायें उपस्थित हो जाती है जिनका समाधान सांख्य नहीं कर पाते। अचेतन प्रकृति अचानक कैसे अपने साम्यावस्था से विषमावस्था में आ जाती है? इसका समुचित उत्तर सांख्य दार्शनिक नहीं दे पाते। प्रकृति पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रवृत्त होती है। परन्तु पुरुष की सन्निधि प्रकृति को सतत् प्राप्त होती रहती है, वह सतत् क्यों नहीं विषमावस्था में आकर सृष्टि करती है? पुनः प्रकृति और पुरुष ये दो नित्य सत्तायें एक दूसरे में बिना हस्तक्षेप किए किस प्रकार एक साथ रहती है, इसकी व्याख्या भी सांख्य दार्शनिक नहीं करते हैं।[1]

ध्यान से देखा जाय तो सांख्य के पुरुष का भी सृष्टि में हाथ रहता है। पुरुष के संयोग और संयोग से प्राप्त चिदाभास के बिना प्रकृति की विकृति नहीं हो सकती और विकृति के अभाव में वह जगत् की सृष्टि भी नहीं कर सकती।[2] परन्तु न्याय के ईश्वर और सांख्य के पुरुष की मान्यता में बहुत अन्तर है। ईश्वर जगत् का कर्ता है जबकि पुरुष प्रकृति के द्वारा किए हुए कर्मों का साक्षी मात्र हैं।

अद्वैत वेदान्त अपने कारणवाद के सिद्धान्त विवर्तवाद के द्वारा जगत् के मूल अधिष्ठान ब्रह्म तक पहुँचता है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में सृष्टि और प्रलय लौकिक जगत् में ही संभव है, परमार्थ में न उत्पत्ति है न विनाश, सब मिथ्या है, भ्रम है। अतः, वेदान्त के लिए एक ऐसे नित्य सत् की आवश्यकता थी जो इस विवर्त का अधिष्ठान बन सके। 'जन्माद्यस्ययतः' आदि सूत्रों में जो देश, काल, कारण आदि सबकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ब्रह्म में ही माना है, उसे लौकिक दृष्टि समझना चाहिए। जन्मादि की कारणता से ईश्वर का कूटस्थ नित्य स्वभाव भी खण्डित नहीं होता क्योंकि जन्मादि कारणत्व ब्रह्म

---

१. नाप्ययस्कान्तवत्संन्निधिमात्रेण प्रवर्तयेत्, संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्ग गात्।
(ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य)

२. चितिच्छायापत्याऽचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद् भवतीति, तथा च वक्ष्यति। (तत्व कौमुदी कारिका ५)

का तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं। साथ ही यह कारणता उस अर्थ में नहीं है जिस अर्थ में मृत्तिका घट का कारण है। ब्रह्म जगत् में परिवर्तित नहीं होता (जैसा कि रामानुज ने माना है) ब्रह्म को जगत् में परिणति मानने पर अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। पूर्ण ब्रह्म जगत् में परिणत होता है या उसका एक खण्ड ? यदि पूर्ण ब्रह्म जगत में परिणत होता है तो ब्रह्म का स्वरूप जगत् को ही तरह अनित्य और प्रपंचात्मक हो जाएगा। यदि ब्रह्म का एक खण्ड जगत् में परिणत होता है तो निरंश ब्रह्म को सावयव मानना पड़ेगा। अतः यहां जो ब्रह्म की जगत्कारणता का कथन किया गया है वह अधिष्ठानमात्रेण। ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान मात्र है उसका कारण नहीं है अतः, ब्रह्म का कूटस्थ नित्यत्व खण्डित नहीं होता। रज्जु में सर्प का भ्रम होता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि रज्जु सर्प का कारण है या रज्जु सर्प में बदल जाता है, रज्जु उस सर्प भ्रम का मात्र अधिष्ठान है। उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है और ब्रह्म उस भ्रम का अधिष्ठान है इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म में कुछ परिवर्तन होता है या वह जगत् का कारण है। संक्षेप में ब्रह्म परिणामी कारण नहीं, विवर्त का अधिष्ठान है।

विवर्तवाद परिणामवाद की अगली सीढ़ी है। इसीलिए सर्वज्ञातमुनि ने विवर्तवाद को परिणामवाद की पृष्ठ-भूमि माना है।[1] विवर्तवाद को परिणामवाद नहीं समझना चाहिए। विवर्तवाद अन्ततः कारणता के परे ले जाता है परमार्थ में ब्रह्म कारण कार्य की परम्परा से परे हो जाता है।[2] परमार्थ में शंकर गौडपाद के अजातिवाद से सहमत हो जाते हैं। परन्तु यह बात ध्यान रखना चाहिए कि अजातिवाद की दृष्टि ब्रह्म ज्ञान के बाद ही मानना चाहिए उसके पूर्व नहीं, उसके पूर्व ब्रह्म की जगत्कारणता माननी चाहिए।

यदि कोई यह शंका करता है कि वेदान्तियों ने कूटस्थ नित्य ब्रह्म और अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ब्रह्म इन दो ब्रह्म की कल्पना क्यों की ? इसके उत्तर में शंकर यह कहते हैं कि जो कारण ब्रह्म है वह वस्तुतः ब्रह्म नहीं है, वह माया से आच्छादित ईश्वर है। ब्रह्म और ईश्वर में अन्तर है। ब्रह्म पर ब्रह्म है और ईश्वर अपर ब्रह्म। परश्रुति और अपर श्रुति में समन्वय करने के लिए शंकर ने सृष्टि और कारणत्व निर्गुण ब्रह्म पर आरोपित किया है। निष्क्रिय ब्रह्म माया के कारण सक्रिय होता है। रामानुज का ब्रह्म शंकराचार्य के ही विकसित ईश्वर का रूप है।[3] लौकिक दृष्टि से ब्रह्म सांख्य के प्रकृति की तरह परिणामी है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह विवर्त का अधिष्ठान है।

सगुण ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। जिस प्रकार एक

---

१. विवर्तवादस्य हि पृष्ठभूमि विवर्तवादे परिणामवादः।

२. कार्योपाधिरियं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥ ८ ॥ (अ० प्र० १०-६२, वेदान्त सार

३. C. D. Sharma; Critical Survey of Indian Philosophy,

मकड़ी जाले का निर्माण करती है, उस तन्तुरूप जाला कार्य के प्रति मकड़ी अपनी चैतन्य की प्रधानता के कारण निमित्त कारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण है उसी प्रकार अज्ञानोपहित सगुण ईश्वर चैतन्य प्रधानता के कारण जगत् का निमित्त कारण तथा अज्ञान प्रधानता के कारण उपादान कारण है।[1] 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह श्रुति वाक्य ईश्वर के उपादान कारणत्व को द्योतित करती है। ईश्वर जगत् का उपादान कारण है तो इसका यह अर्थ नहीं कि जगत् ईश्वर की ही तरह अनश्वर या नित्य हो जाना चाहिए क्योंकि जगत् ईश्वर का परिणाम नहीं है, विवर्तमात्र है। तत्वतः, जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, अविद्या के कारण ही जगत् का आभास होता है। अतः, जब अभेद ज्ञान हो जाता है तब जीव का संसारित्व और ब्रह्म का सृष्टत्व नष्ट हो जाता है।

विवर्त के लिए भी किसी न किसी सत्य आधार की आवश्यकता होती है भ्रमात्मक सर्प का आधार भी रज्जु है जो सत् है, उसी प्रकार जगत् के अध्यास का आधार ब्रह्म है। संक्षेप में शंकर कारणता के नियम की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसे प्रपंचात्मक नियम ही मानते है, परमार्थिक सत् नहीं।

---

१. शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्य प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति। (वेदान्त सार)

न्याय-वैशेषिके द्वारा अभिमत पदार्थों की कारणता के आधार पर सिद्धि

न्याय–वैशेषिक कारण-कार्य के आधार पर ईश्वर और परमाणु की सिद्धि करते हैं। साथ ही न्याय–वैशेषिक कारणता के आधार पर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि की भी सिद्धि करते हैं।

द्रव्य की सिद्धि

न्याय–वैशेषिक ने गुण से पृथक् द्रव्य की अपनी सत्ता माना है। वे द्रव्य का प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु इनके प्रतिपक्षी बौद्ध का यह मत है कि रूप, रस, गन्ध आदि गुणों के अतिरिक्त द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। गुणों से परे द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः, न्याय–वैशेषिक को द्रव्य की सिद्धि के लिए किसी ऐसे ठोस तर्क की आवश्यकता पड़ी जो प्रतिपक्षी बौद्धों को द्रव्य की सत्ता का विश्वास करा दे। इसके लिए न्याय–वैशेषिक कारण-कार्य भाव का सहारा लेते हैं। वे 'कार्य मात्र की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में द्रव्यत्व जाति को सिद्धि करते हैं। अर्थात् जिस वस्तु में कार्य की समवायिकारणता पाई जाती है वह द्रव्य होती है। इस प्रकार न्याय–वैशेषिक द्रव्य की समवायिकारणता के आधार पर द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।[1]

न्याय–वैशेषिक मत में नौ द्रव्य स्वीकार किए जाते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन। इनमें अधिकांश द्रव्य की सिद्धि कारणता के आधार पर होती हैं। इन सभी द्रव्यों की सिद्धि न्याय–वैशेषिक अनुमान प्रमाण से करते हैं और इनमें से अधिकांश की व्याप्ति का हेतु कारणता ही हैं।

पृथ्वी—विश्वनाथ गन्ध की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में पृथ्वी की सिद्धि करते हैं अर्थात् जिसमें-जिसमें गन्ध होता है वहाँ-वहाँ पृथ्वी होती है। जिसमें गन्ध समवाय संबंध से रहता है वह पृथिवी है।[2]

जल—विश्वनाथ स्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में जलत्व

---

१. (क) कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया, संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकता द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति। (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लोक ३)

(ख) क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।

(वैशेषिक सूत्र १।१।१५)

२. पृथिवित्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्न स्याकस्मिकत्वापत्तेः। (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली)

जाति की सिद्धि करते है।[१] अर्थात् जिसमें स्नेह समवेत रहता है उसे जल कहते हैं। स्नेह का समवायिकारण जल के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं होता हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक कारणता के आधार पर ही जल द्रव्य को सिद्ध करते है।

तेज—उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में तेजस्त्व जाति की सिद्धि होती है। अर्थात् जिसमें उष्ण स्पर्श समवाय संबंध से रहता है उसे तेज करते हैं।[२]

वायु—अपाकज तथा अनुष्णशीतस्पर्श की जनकता के अवच्छेदक को वायुत्व जाति कहते हैं अर्थात् जिसमें अपाकज तथा अनुष्णशीत स्पर्श गुण समवाय संबंध से रहते हैं उसे वायु कहते हैं।[३]

आकाश—न्याय-वैशेषिक आकाशत्व जाति को शब्द की समवायिकारणता का अवच्छेदक मानते हैं। शब्द का समवायिकारण आकाश ही हो सकता है।[४]

काल—कार्य मात्र या कार्य सामान्य के निमित्त कारण को काल कहते हैं।[५]

दिक्—दूर तथा समीप को दैशिक परापरत्व बुद्धि कहते हैं, इस दैशिक परापरत्व का असाधारण कारण दिक् है। दैशिक परापरत्व का असमवायिकारण दिग्देश संयोग है। इसप्रकार, कारणता के आधार पर ही दिक् का अनुमान होता है।[६]

आत्मा—न्याय-वैशेषिक, बौद्धों के अनात्मवाद के विरुद्ध आत्मवाद की स्थापना करते हैं तथा उसकी सिद्धि भी कार्य-कारण भाव के आधार पर करते हैं। सुखदुःखादि के समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में आत्मत्व जाति को सिद्धि करते हैं।[७] आत्मा में समवेत होकर ही सुखं दुःखादि की उत्पत्ति होतो है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर में सुख दुःख समवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध आत्मत्व जाति है तब ईश्वर में सुख दुःखादि की उत्पत्ति होनी चाहिए ? वस्तुतः,

---

१. स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धिः।

(न्याय सिद्धान्त मुक्तावली)

२. इत्थं च जन्योष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्व जातिविशेषः।

(न्याय सिद्धान्त मुक्तावली)

३. अपाकजोऽनुष्णशीतस्पर्शस्तु पवनेमतः। (भाषा परिच्छेद श्लोक ४२)

४. आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः। (भाषा परिच्छेद श्लो० ४४)

५. जन्यानां जनकः कालः जगतामाश्रयो मतः। (भाषा परिच्छेद श्लोक ४५)

६. दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते। (भाषा परिच्छेद श्लोक ४६)

७. आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति।

(सिद्धान्त मुक्तावली)

ईश्वर में सुख दुःखादि का कारण अदृष्ट नहीं है अतः, उसमें सुख दुःखादि की उत्पत्ति नहीं होती।

गुण—शिवादित्य के अनुसार जाति विशिष्ट अचलनात्मक तथा समवायिकारणत्व रहित पदार्थ ही गुण है।[1] कणाद ने गुण का लक्षण करते हुए उसकी तीन विशेषतायें बतायी हैं—द्रव्याश्रितत्व, निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व।[2] प्रशस्तवाद ने भी गुण का यही लक्षण किया है। गुण द्रव्य में समवायि कारण से रहता है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि गुण ही द्रव्य में रहता है। कर्म भी द्रव्य में समवायिकारण से रहता है।[3] इसप्रकार, हम देखते हैं कि कारणता का आश्रय लेकर न्याय-वैशेषिक गुण का भी लक्षण करते हैं।

कर्म—संयोग और विभाग में किसी की अपेक्षा न रखने वाले कारण को कर्म कहते हैं।[4] कर्म का लक्षण भी कारणता के आधार पर किया गया है। न्याय-वैशेषिक कर्म के पाँच भेद करते हैं। उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। इन पाँचों कर्मों का लक्षण कारणता के आधार पर ही किया गया है।

सामान्य—न्याय-वैशेषिक ने सामान्य को एक पदार्थ के रूप में माना है तथा विशेष से पृथक् सामान्य की कल्पना की है। नैयायिकों के अनुसार जिस चक्षु इन्द्रिय से वस्तु का प्रत्यक्ष होता है उसी इन्द्रिय से तद् सामान्य का भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु बौद्ध दार्शनिक विशेष की ही सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार व्यावृत प्रतीति ही हो सकती है, 'मनुष्य है' या 'वृक्ष है' इसकी अनुगत प्रतीति नहीं हो सकती। बौद्धों के इस मत के खण्डन के लिए तथा विशेष से पृथक् सामान्य की सत्ता सिद्ध करने के लिए न्याय-वैशेषिक कार्य कारणभाव के आधार पर सामान्य की सिद्धि करते हैं। विश्वनाथ ने सामान्य का लक्षण करते हुए उसको दो विशेषतायें बतलाई हैं—नित्य होना और अनेक में समवाय संबंध से रहना।[5] न्याय-वैशेषिक अनुगत प्रतीति के असाधारण कारण के रूप में भी सामान्य की सिद्धि करते हैं।

विशेष—न्याय वैशेषिक ने नित्य अनेक द्रव्यों को स्वीकार किया है। अतः,

---

१. गुणत्वजातियोगी गुणः। जातिमत्वेऽचलनात्मकत्वे सति समवायिकारणरहितश्चेति।
(सप्त पदार्थी सूत्र १२२, २३)

२. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।
(वैशेषिक सूत्र १।१।१६)

३. रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम्।
(प्रशस्त पाद भाष्य)

४. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम्।
(वैशेशिक सूत्र १।१।१७)

५. तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्। (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली श्लोक ८)

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उन नित्य जगत् के समवायिकारणभूत परमाणुओं का व्यावर्तक क्या है ? दो घटों में घटत्व जाति विद्यमान है, किन्तु व्यक्तिगत भेद का ज्ञान हमे प्रत्येक घट के अवयवों के भेद के आधार पर होता है अर्थात् दोनों घट के अवयव कपाल भिन्न-भिन्न हैं अतः, दोनों में भेद है। इस प्रकार, सूक्ष्म की ओर जाते हुए हम अन्ततः द्वयणुक तक पहुँच जाते हैं। परन्तु नित्य परमाणुओं के निरवयव है उनके व्यक्तिगत भेद का ज्ञान हमें कैसे होता है ? इसके उत्तर में न्याय-वैशेषिक विशेष की कल्पना करते हैं। विशेष समानजातीय निरवय नित्य पदार्थों का व्यावर्तक है। विशेष का भेद कराने वाला कोई नहीं है, विशेष स्वतोव्यावृत है। इस प्रकार, न्याय-वैशेषिक कारणता के आधार पर विशेष की सिद्धि करते हैं।

न्याय-वैशेषिक के कारणता सिद्धान्त का महत्व प्रमेय शास्त्र में ही नहीं प्रमाण शास्त्र में भी है। न्याय-वैशेषिक प्रमाण का लक्षण करते हैं—'प्रमाकरणं प्रमाणम्' पुनः सातिशयित कारण को करण कहते हैं। इसप्रकार, कारणता के आधार पर प्रमाण का लक्षण करते हैं। प्रमाण के प्रसंग में ही सर्वप्रथम कारणता पर विचार किया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमिति और शब्द चारों प्रमा के कारण को अर्थात् कारणों में सातिशय को प्रमाण कहते हैं।

नैयायिक जगत् को कार्य मानकर उसके कारण के रूप में ईश्वर का अनुमान करते हैं। परन्तु नैयायिकों ने जगत् के कार्यत्व की प्रामाणिकता को प्रतिपादित नहीं किया है, उसको पूर्वनिर्धारित मान्यता के रूप में स्वीकार किया है। पुनः, जगत् को कार्य मान भी लिया जाय तो यह कोई आवश्यक नहीं कि उसका कर्त्ता ईश्वर ही हो, अन्य राक्षसादि भी उसके कर्ता हो सकते हैं।

न्याय-वैशेषिक सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता सिद्ध करते हैं। जैसे, इस प्रसंग में इन्द्रियगोचर कार्य-कारण भाव के आधार पर ईश्वर, परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि करते हैं। परन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि क्या अनुभवगम्य कारणता के आधार पर अनुभवातीत की सिद्धि कर सकते हैं ? क्या इन्द्रियगोचर के आधार पर इन्द्रियातीत की सिद्धि संभव है ? न्याय-वैशेषिक के अनुसार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इन्द्रियातीत की सत्ता सिद्ध की जा सकती हैं। परन्तु अन्य भारतीय दार्शनिकों के अनुसार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इन्द्रियातीत पदार्थों की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इन्द्रियगोचर के आधार पर इन्द्रियातीत तक पहुँचने के प्रयत्न में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकलने की संभावना होती है।

उपर्युक्त अनुभव की सीमाओं से परिचित होने के कारण ही अद्वैतवेदान्ती शंकर ब्रह्म के विषय में श्रुति प्रमाण देते हैं। तर्कों के आधार पर ब्रह्म की सिद्धि नहीं करते। पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट का भी कथन है कि अनुभव के आधार पर हम निश्चयात्मक निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते, इन्द्रियगोचर सिद्धान्त को इन्द्रियातीत पर नहीं लागू करना

चाहिए। यही कारण है कि काण्ट नैतिकता के आधार पर ईश्वर की प्रामाणिकता प्रतिपादित करता है।

यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है कि जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक लौकिक जगत् में कारण के समवायि, असमवायि और निमित्त ये तीन भेद कर भेदवाद का निर्वाह करते हैं उसी प्रकार अलौकिक जगत् में भी कारण के भेद कर भेदवाद को स्पष्ट करते हैं। वे परमाणुओं को गतिहीन मानकर उसके गति आरम्भक के रूप में निमित्त कारण ईश्वर की कल्पना करते हैं। वह अद्वैत वेदान्त के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भूत ब्रह्म या सांख्य के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भूत प्रकृति की तरह परमाणुओं को अभिन्न निमित्त उपादान कारण नहीं मानते क्योंकि ऐसा मानने पर उनके भेदवाद का निर्वाह नहीं हो सकेगा। न्याय-वैशेषिक भेदवाद के निर्वाह के लिए उन परमाणुओं में भी भेद मानते हैं तथा उनके परस्पर व्यावर्तक के रूप में विशेष की कल्पना करते हैं।

नैयायिकों द्वारा स्वीकृत समवायिकारण, असमवायिकारण एवं निमित्त कारण भी उनके भेदवाद का ही समर्थन करते हैं। कारण में समवेत होकर कार्य की उत्पत्ति मानने से यह स्पष्ट होता है कि कारण आधार है और कार्य आधेय अर्थात् दोनों में नितान्त भेद है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार गुण और द्रव्य में भेद है; गुण की द्रव्य से पृथक् अपनी सत्ता है। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए ही वे असमवायिकारण की कल्पना करते हैं। तन्तु और तन्तु संयोग, द्रव्य और गुण, दोनों भिन्न-भिन्न हैं अतः, दोनों दो तरह से पट के कारण बनते हैं, एक समवयिरूप से तथा दूसरा असमवायिरूप से।

न्याय-वैशेषिक निमित्त कारण पर अधिक बल देते हैं। वे निमित्त कारण के अन्तर्गत चेतन कर्ता एवं कार्य की उत्पत्ति में आवश्यक समवायि, असमवायि कारण के अतिरिक्त सभी कारणों का एवं दिक्, कालादि आठ साधारण कारणों का समावेश करते हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि न्याय-वैशेषिक कार्य के नवीन आरम्भ एवं कारण से कार्य की पृथक् सत्ता पर अधिक बल देते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्याय-वैशेषिक भेदवाद या कारण-कार्य के पौर्वापर क्रम के निर्वाह के लिए अनेक ऐसी कल्पनायें करते हैं जिनको स्पष्ट नहीं किया जा सकता। जैसे, उपर्युक्त संदर्भ में निर्गुण घट की उत्पत्ति, निर्गुण अप्रत्यक्ष घट से व्यवहार का निर्वाह, निर्गुण घट को द्रव्य मानना, कारण गुण से कार्य गुण की उत्पत्ति, घटनाश के बाद भी उसके रूप की एक क्षण निराश्रित स्थिति आदि। परन्तु न्याय-वैशेषिक के भेदवाद के निर्वाह के लिए इनको मानना अत्यन्त आवश्यक है।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

न्याय-वैशेषिक की समवाय की कल्पना भी उनके भेदवाद को स्पष्ट करने के लिए एक माध्यम का कार्य करती है। समवाय की अपने समवायियों से पृथक् सत्ता है। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जो कारण और कार्य को सम्बद्ध करके भी उनके आत्यन्तिक भेद को सुरक्षित रखता है। यदि न्याय-वैशेषिक समवाय सम्बन्ध को न मानते तो बौद्धों के क्षण-भंगवाद की तरह कारण और कार्य को विच्छिन्न क्रमबद्ध घटना मात्र मानना पड़ता। इसके अतिरिक्त यदि वे समवाय को सम्बन्धियों से पृथक् न मानकर उनके स्वरूप का ही मानते तो उनको अद्वैतवेदान्त की तरह कारण और कार्य में तादात्म्य मानना पड़ता।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार दो नितान्त अभिन्न सत्ताओं के बीच सम्बन्ध का प्रश्न नहीं उठता परन्तु दो नितान्त भिन्न सत्ताओं के बीच सम्बन्ध का ज्ञान हमें होता है अतः, उसको वस्तु जगत् में भी मान लेना चाहिए।

पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम ने कारणता सम्बन्ध की अनिवार्यता को अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं माना है। अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों ने ह्यूम की इस मान्यता का खण्डन करने का प्रयत्न किया परन्तु सभी असमर्थ रहे। भारतीय दर्शन में कारणता सम्बन्ध के अनिवार्यता की प्रामाणिकता का प्रश्न नहीं उठाया गया है। परन्तु न्याय दर्शन में अनुमान के हेतु भूत व्याप्ति ज्ञान के प्रसंग में ऐसा प्रश्न उठाया गया है। सकल धूम और सकल वह्नि का प्रत्यक्ष असंभव होने के कारण उनके बीच कार्य-कारण भाव के अव्यभिचरितत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः, नैयायिक यह मानते हैं कि सामान्य लक्षणा प्रत्यासति भूत' अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा सकल धूम और सकल वह्नि के कार्य-कारण भाव का ज्ञान किया जा सकता है। परन्तु ऐसा मानने पर सामान्य लक्षणा प्रत्यासति की प्रामाणिकता का प्रश्न उपस्थित होता है।

हमारी दृष्टि में कार्य-कारण सम्बन्ध की अनिवार्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। हमारा अनुभव सीमित है अतः, व्यभिचार की संभावना सदैव रहेगी। परन्तु व्यवहार में इस सम्बन्ध को मानना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा हम कार्य विशेष की उत्पत्ति के लिए कारण विशेष का उपादान नहीं कर सकेंगे। अनुभव में हम बार-बार तिल से तेल को उत्पन्न होते देखते हैं अतः, इस भूयः सहचार दर्शन के आधार पर 'कारणता' सम्बन्ध को मान लेना चाहिए। व्यवहार के लिए कारणता सम्बन्ध की अनिवार्यता का प्रमाणित होना आवश्यक नहीं है।

अवयवी की अपने अवयवों से पृथक् सत्ता है या नहीं, अवयवी अवयवों से भिन्न है या अभिन्न इस समस्या पर सभी दार्शनिक अपनी-अपनी दृष्टि से विचार करते हैं।

बोद्ध स्वलक्षण पदार्थ को ही सत् मानते हैं अतः, स्वलक्षण पदार्थ के अतिरिक्त सम्पूर्ण ईकाई की सत्ता नहीं स्वीकार करते। इसके विपरीत नैयायिक अवयवी को अवयवों से पृथक् एक सम्पूर्ण ईकाई मानकर अपनी यथार्थवादी मान्यता की पुष्टि करते हैं। यदि वे ऐसा नहीं मानते तो अतीन्द्रिय परमाणुओं से सृष्ट जगत् अतीन्द्रिय हो जाता।

न्याय-वैशेषिक की भेदवादी मान्यता भारतीय दर्शन में बड़े आलोचना का विषय रही है। अभेद को प्रमुख मानने वाले सांख्य दार्शनिकों के साथ इनका मुख्य रूप से विवाद रहा है। तत्वकौमुदीकार पांच हेतु देकर अभेदवाद की स्थापना करते हैं 'तन्तु-धर्मत्वात्' 'उपादानोपादेयभावाच्च' 'संयोगप्राप्यभावात्' 'गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्'। परन्तु नैयायिक उन्हीं पांचों हेतुओं से अभेदवाद का खण्डन कर भेदवाद की स्थापना करते हैं। धर्म-धर्मी भाव दो भिन्न वस्तुओं में ही संभव है दो अभिन्न वस्तुओं में संभव नहीं है। नैयायिकों के अनुसार वाचस्पति की यह युक्ति ठीक नहीं कि दो वस्तुओं में संयोग सम्बन्ध होने पर ही भेद होता है, तन्तु और पट में संयोग सम्बन्ध नहीं है अतः, दोनों में अभेद है। संयोग सम्बन्ध न होने पर भी भेद संभव है जैसे, सांख्य मत में प्रकृति और पुरुष में संयोग सम्बन्ध न होने पर भी भेद है उसी प्रकार कार्य कारण भाव में भी भेद मान लेना चाहिए। यह कोई आवश्यक नहीं कि दो अभिन्न वस्तुओं की ही साथ-साथ प्राप्ति हो, दो भिन्न-भिन्न सत्ताओं की भी साथ-साथ प्राप्ति हो सकती है जैसे, प्रकृति और पुरुष।

भेदवाद के निर्वाह में न्याय-वैशेषिक के समक्ष सबसे प्रमुख समस्या भार भेद की है। कारण और कार्य में भेद है तो दोनों के भार में भी भेद होना चाहिए। यदि कारण का गुरूत्व कार्य के गुरूत्व में लीन हो जाएगा तो हम यह नहीं कह सकते कि कारण आधार है और कार्य आधेय या कारण गुरूत्व से कार्य गुरूत्व की उत्पत्ति होती है या कारण-गुरूत्व, रूप, क्रियादि के नाश से कार्य गुरूत्वादि का नाश होता है।

उद्योतकर ने पूर्वपक्षी को शंका में व्यधिकरण दोष दिखाकर समस्या का समाधान किया है। श्रीधर की युक्ति है कि कारण और कार्य में इतना अल्प भेद होता है कि वह दिखाई नहीं देता जैसे, किसी भारी द्रव्य को दुबारा तोलने पर उसके कुछ छड़ो के झड़ जाने पर भी उनके गुरूत्व में कोई अन्तर नहीं आता।

परन्तु हमारी दृष्टि में इस प्रकार समस्या का समाधान नहीं होता। कारण और कार्य में अल्प भेद भी है तो अन्य मशीन आदि से उसका ज्ञान किया जा सकता है। वस्तुतः, कारण और कार्य के भार में भेद का प्रश्न भी नहीं उठता। कारण और कार्य दो भिन्न-भिन्न हैं इसका यह अर्थ नहीं कि वे मेज और उस पर रखी हुई पुस्तक की तरह भिन्न हैं। मेज की पुस्तक से और पुस्तक की मेज से पृथक् सत्ता देखी जाती है परन्तु पट की तन्तु से पृथक् सत्ता नहीं देखी जाती। अतः, मेज और पुस्तक के भार को अलग-अलग तौला जाता है तथा दोनों के मिलने से दोनों का भार दूना हो जाता है। परन्तु तन्तु और पट दोनों अयुतसिद्ध है दोनों में ज्ञानगत भेद है, यह ज्ञानगत भेद उनके

वस्तु भेद का ज्ञापक होता है। अतः दोनों के भार को पृथक्-पृथक् तौला नहीं जा सकता है तथा दोनों का भार मिलकर दूना होने का प्रश्न भी नहीं उपस्थित होता। संक्षेप में, दो भिन्न वस्तुओं में संयोग संबंध होने पर भार का प्रश्न उठता है दोनों के बीच समवाय संबंध होने पर भार का प्रश्न नहीं उठता।

इसके अतिरिक्त सांख्य की शंका का न्याय-वैशेषिक के अनुसार एक अन्य समाधान भी किया जा सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि वस्तु भेद होने पर भार भेद अवश्य हो या भार भेद न होने पर दो वस्तुएँ अभिन्न हों। दो कुण्डल के तौलने पर दोनों का भार दो दो पल होता है अर्थात् दोनों का भार एक ही है परन्तु भार के एक होने से दोनों कुण्डल में हम अभेद नहीं मान सकते।

तन्तु और पट में नाम भेद है, दोनों का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है, दोनों के उत्पत्ति और विनाश का कारण भिन्न-भिन्न है अतः, दोनों में भेद मान लेना चाहिए। सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त कारण और कार्य में मात्र अवस्था का भेद मानते हैं। परन्तु ध्यान से देखा जाय तो वे भी भेद को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। न्याय-वैशेषिक उस वाह्य या अवस्था भेद को ही वास्तविक भेद मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान अर्थ की सत्ता को प्रमाणित करता है।

कार्य को उत्पत्ति के पूर्व असत् मानकर न्याय-वैशेषिक ने अपने मूलभूत मान्यता का निर्वाह किया है। कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में नहीं रहता, उसकी नवीन उत्पत्ति होती है, नया आरम्भ होता है, इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि कार्य की कारण से पृथक् अपनी सत्ता है तथा दोनों में नितान्त भेद है। कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत् है या असत्, इसका निर्धारण सभी दार्शनिक अपनी-अपनी मूलभूत मान्यता के अनुसार करते हैं। न्याय वैशेषिक की भेदवादी मान्यता असत्कार्यवाद का समर्थन करती है इसके विपरीत सांख्य की भेदवादी मान्यता सत्कार्यवाद का समर्थन करती है।

न्याय-वैशेषिक का कारणवाद का सिद्धान्त व्यावहारिक है। उसे इस जगत् का ज्ञान नानात्मक तथा विचित्र रूप में होता है अतः, इस ज्ञान के आधार पर वह जगत् को भेदयुक्त तथा नानात्मक मानता है।

न्याय-वैशेषिक इन्द्रिय-गोचर जगत् में ही भेदवाद का निर्वाह नहीं करते अपितु, इन्द्रियातीत जगत् में भी अपनी मूलभूत मान्यता का निर्वाह करते हैं। वे जिस प्रकार इन्द्रियगोचर जगत् में भिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं उसी प्रकार इन्द्रियातीत जगत् में भी भिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं। गतिहीन परमाणुओं को जगत् का समवायिकारण मानकर तथा उससे प्रथम गति आरम्भक के रूप में निमित्त कारण भूत ईश्वर की कल्पना करके न्याय-वैशेषिक ने अपने भेदभाव का ही निर्वाह किया है। इन परमाणुओं में भी परस्पर भेद स्पष्ट करने के लिए वे व्यावर्तक के रूप में विशेष की कल्पना करते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि न्याय-वैशेषिक द्वारा अभिमत निमित्त कारण भूत ईश्वर का इस सृष्टि में उतना हो स्थान है जितना कि घट की उत्पत्ति में कुम्भकार का। वह शंकर का ब्रह्म नहीं है जिसके जान लेने के बाद और कुछ जानना शेष न रह जाता हो। वह योग का पुरूष विशेष ईश्वर नहीं है जो योगी के ध्यान का केन्द्र बनता हो। वह रामानुज का ईश्वर भी नहीं है जिसकी भक्ति या उपासना से मुक्ति मिलती हो। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से मिलती है, वहाँ ईश्वर का कहीं कोई स्थान नहीं रहता।

न्याय-वैशेषिक के कारणता सिद्धान्त का महत्व उसके तत्वदर्शन में देखने को मिलता है। वे कार्य-कारण भाव के आधार पर अतीन्द्रिय परमाणु और ईश्वर तथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्यादि सबकी सिद्धि जरते हैं। वे प्रमाण की परिभाषा भो कारणता के आधार पर करते हैं।

न्याय-वैशेषिक के प्रमेय शास्त्र एवं प्रमाण शास्त्र में कारणता का सिद्धान्त इसप्रकार छाया हुआ है कि हम भारतीय दर्शन में कारणवाद की केन्द्रभूत समस्या पर तार्किक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का श्रेय न्याय-वैशेषिक को ही दे सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची (हिन्दी)

१. आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध धर्म दर्शन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् सम्मेलन भवन पटना, १९५६।

२. एम० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, अनुवादक डा० गोवर्धन भट्ट, श्रीमती मंजुगुप्त एवं सुखवीर चौधरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९६९।

३. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय दर्शन शास्त्र, मोतीलाल बनारसीदास, १९५३।

४. नारायणमिश्र, वैशेषिक दर्शन एक अध्ययन, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी।

५. पण्डित सुखलाल जो, दर्शन और चिन्तन, सम्मान समिति, गुजरात विधान सभा।

६. महेन्द्र कुमार जैन, जैन दर्शन, जैनग्रन्थमाला, काशी, १९६६।

७. विमल प्रसाद जैन कोंदिया, तर्कशास्त्र, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, १९६४।

८. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त, भारतीय दर्शन अनुवादक हरिमोहन झा पुस्तक भंडार पटना, १९६९।

९, सर्वपल्ली राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग १, २ अनुवादक श्री नन्दकिशोर गोमिल, विद्यालंकार राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली।

१०. हरिशंकर जोशी, सांख्य दर्शन का जीर्णोद्धार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५।

BIBLIOGRAPHY (ENGLISH)

1. Bhaduri, S.N. **Studies In Nyaya–Vaisesika Metaphysics**, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1947.
2. Bhattacharya, K, C. **Nyaya Vaisesika Theism**, Calcutta Sanskrit College Series, 1961.
3. Bradley, F. H., **Appearance and Reality**, Oxford Claradon Press, 1954.
4. Chatterji, A. K. **Yogachara Idealism**, Banaras Hindu University, 1961.
5. Copi, I. M., **Introduction To Logic**, Macmillan Company New York, 1961.
6. Cohen, R. and Nagel E. **An Introduction to logic and Scientific Method**, Kegan Paul London, 1955
7. Copleston, F. S. T. **A History of Philosophy**, Vols. I, II,& III, Oates, 1947–53.
8. Dasgupta, S. N. **A History of Indian Philosophy**, Camrbidge University Press, 1963.
9. Hume, D., **Inquiry Concerning Human Under–standing**, California Progressive Publisher, 1967
10. Mahadevan, T. M.P. **Philosophy of Advaita**, Private Limited Madras, 1957.
11. Mill, T. S., **System of Logic**, Longmans, Green, 1889.
12. Murti, T. R. V., **The Central Philosophy of Buddhism**, George Allen & Unwin, 1960.
13. Mukherjee, S., **The Philosophy of Universal Flux**, University of Calcutta, 1935.
14. Russell, B., **On the Notion of Cause**, P. A. S. 1912

15. Sharma. C. D., **A Critical Survey of Indian philosophy,** Motilal Banarasidas, 1964.

16. Shastri, D. N., **Critique of Indian Realism,** Agra University, Agra, 1964.

17. Smith, N. K. **Critique of Pure Reason,** Translation, Macmillan, 1950.

18. Stcher–batsky, Th. **Buddhist Logic** Vol. I, Dover Publication, Inc. New York,

19. Tripathi, R. K., **Spinoza In The Light of Vedanta,** Banaras Hindu University, 1957.

संक्षिप्त शब्द संकेत

अनु॰ चि॰ — अनुमान चिन्तामणि; गदाधरी, श्री गदाधर भट्टाचार्य विरचित, गंगेशोपाध्याय विरचित तत्वचिन्तामणि, रघुनाथ शिरोमणि विरचित दीधिति गर्भित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९२७।

अभि॰ को॰ — अभिधर्म कोष, आचार्य वसुबन्धु, अनुवादक आचार्य नरेन्द्र देव, हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, १९५८।

आ॰ शा॰ — आगम शास्त्र, गौडपाद, भट्टाचार्य विधुशेखरकृत वृत्ति सहित, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५०।

खं॰ खं॰ खा॰ — खण्डनखण्डखाद्य, श्री हर्ष अनुवादक—श्री चण्डिका प्रसाद शुक्ल अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, संवत् २०१८।

गौ॰ का॰ — गौडपाद कारिका, माण्डूक्योपनिषद्, गौडपादीय कारिका तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२४।

त॰ कौ॰ — तर्क कौमुदी, लौगाक्षि भास्कर, बाम्बे संस्कृत सिरीज, १८८६।

त॰ दी॰ — तत्वसंग्रह दीपिका, द्रष्टव्य त॰ सं॰

त॰ प्र॰ — तत्वप्रदीपिका, चित्सुखमुनि, श्रीभत्प्रत्यक्स्वरूप नयनप्रसादिनी व्याख्या एवं योगीन्द्रानन्द कृत टिप्पणी भाषानुवाद सहित, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, १९५६।

त॰ भा॰ — तर्क भाषा, केशवमिश्र, आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९६७।

त॰ मृ॰ — तर्कामृत, जगदीश भट्टाचार्य, कलकत्ता सरस्वती प्रेस, १८८०।

त॰ र॰ दी॰ — तर्क रहस्य दीपिका, गुणरत्न, हरिभद्र कृत षड्दर्शन समुच्चय सहित, एल॰ सौली, कलकत्ता, १९१४।

त॰ सं॰ — तर्क संग्रह, अन्नभट्ट, गोवर्धनमिश्र कृत न्याय बोधिनी, मेरु शास्त्रि-कृत वाक्यवृत्ति, जगन्नाथशास्त्रिकृत निरुक्ति, पट्टाभिराम शास्त्री कृत टिप्पणी एवं रामरूद्र कृत रामरूद्रीय, रामनरसिंहशास्त्रिकृत वाक्य-वृत्ति, नीलकण्ठशास्त्रि कृत नीलकण्ठप्रकाशिका, पट्टाभिरामशास्त्रि-कृत पट्टाभिराम प्रकाशिका चतुष्ट व्याख्या सहित स्वोपज्ञ तर्कसंग्रह-दीपिका समुपबृंहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९६९।

तत्व॰ सं॰ — तत्वसङ्ग्रहः, शान्तरक्षित कमलशीलकृत पञ्जिका सहित बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, १९६८।

त॰ सं॰ प॰ — तत्वसङ्ग्रह पञ्जिका, द्रष्ट॰ तत्व सं॰

त० सू० तत्वार्थसूत्र, गृद्धपिच्छ आचार्य, विवेचन कर्त्ता फूलचन्द्र शास्त्री, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ माला, बनारस, वि० नि० सं० २४७६ ।

दिन० दिनकरी; द्रष्ट० भा० प०

निरू० निरूक्ति, द्रष्ट० त० सं०

नील० नीलकण्ठी, द्रष्ट० त० सं०

न्या० कं० न्यायकन्दली, द्रष्ट० प्र० पा० भा०

न्याय० कु० न्यायकुसुमाञ्जलि, उदयनाचार्य, वरदराजकृत बोधिनि, वर्धमानोपाध्यायकृत प्रकाश, मेघठाकुर कृत प्रकाशिका रुचिदत्तोपाध्याय कृत मकरन्द सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी, संवत् १०१३ ।

न्या० कु० च० न्यायकुमुदचन्द्र, प्रभाचन्द्र, मानिकचन्द्र दिग् जैन सिरीज, बाम्बे, १९३८ ।

न्या० कु० टी० न्यायकुसुमाञ्जलि टीका, उदयनाचार्यप्रणीत न्या० कु०, हरिदास भट्टाचार्यकृत टीका तथा आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी अनुवाद सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२ ।

न्या० कु० प्र० न्यायकुसुमाञ्जलि प्रकाश, द्रष्ट० न्या० कु०

न्या० कु० बो० या

न्या० बो० न्यायकुसुमाञ्जलि बोधिनी, द्रष्ट० न्या० कु०

न्या० प्र० न्यायप्रदोप:, श्रीरघुवीरसिंह भूपति, संकलन कर्त्ता गंगासहायशर्म्मा खेमराज श्री वेंकेटेश्वर यन्त्रालय, १९०७ ।

न्या० भा० न्यायभाष्य, द्रष्ट० न्या० सू०

न्या० भू० न्यायभूषण, भासर्वज्ञ, स्वामीयोगीन्द्रानन्द कृत टिप्पणी सहित, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८ ।

न्या० मं० न्यायमञ्जरी, जयन्तभट्ट, विवरणकार श्री सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९६९ ।

न्या० मं० व्या० न्यायमञ्जरी व्याख्या, द्रष्ट० न्या० मं०

न्या० सा० न्यायसार, भासर्वज्ञ, अपरार्कदेवकृत न्याय मुक्तावली एवं आनन्दानुभवाचार्य कृत न्यायकलानिधि सहित, मद्रास गवंनमेण्ट ओरिएण्टल सिरीज, १९६१ ।

न्या० सा० व्या० न्यायसार व्याख्या, द्रष्ट० न्या० सा०

न्या० सि० न्यायसिद्धि, द्रष्ट० प्र० पं०

न्या० सि० मु० न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, द्रष्ट० भा० प०

न्या० सू० न्याय सूत्र, गौतममुनि, वात्सायनभाष्य, उद्योतकर कृत वार्तिक, वाचस्पतिमिश्रकृत तात्पर्य टीका, विश्वनाथ कृत वृत्ति सहित, कलिकाता संस्कृत ग्रन्थमाला, १९३६ ।

न्या० वा० न्याय वार्तिक, द्रष्ट० न्या० सू०

न्या० वा० ता० टी० न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका, द्रष्ट० न्या० सू०

पं० का० सा० पञ्चस्तिकायसार, कुन्दकुन्दाचार्य, अनुवादक (अंग्रेजी) चक्रवर्ति नयनर, दि सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा, १९२० ।

प० त० नि० पदार्थतत्वनिरूपण, रघुनाथशिरोमणि, श्री रघुदेवकृत टोका सहित, श्रीरामभद्र महामण्डल यन्त्रालय, १९१५ ।

प्र० क० मा० प्रमेयकमलमार्तण्ड, श्री प्रमाचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१ ।

प्र० प० प्रकरणपञ्चिका, शालिकनाथ मिश्र, जैपुरीनारायणभट्ट कृत न्यायसिद्धि सहित, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १९६१ ।

प्र० पा० प्रज्ञापारमिता, शान्तिदेवकृत बोधिचर्यावतार अनुवादक शान्ति भिक्षु, बुद्धबिहार, लखनऊ, १९५५ ।

प्र० पा० भा० प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपाद, श्रीधरप्रणीतन्यायकन्दली एवं दुर्गाचरण झा कृत हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९६३ ।

प्र० वा० प्रमाणवार्तिक, धर्मकोर्ति, मनोरथनन्दिनिटीका सहित, बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६८ ।

ब्र० सू० ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, श्री हनुमानदास जी षड्शास्त्रिकृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७ ।

ब्र० सू० शा० भा० ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, द्रष्ट० ब्र० सू०

भा० प० भाषापरिच्छेद, पञ्चाननभट्टाचार्यविरचित कारिकावलीमुक्तावली, दिनकरभट्टकृत दिनकरी एव रामरूद्रकृत रामरुद्री सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९५१ ।

भा० प० टी भाषापरिच्छेद, टीका, श्रीमत् पञ्चानन भट्टाचार्य, ९ राजकृष्ण लेन कलिकाता, १८८४ ।

म० अ० मध्यमकावतार चन्द्रकीर्ति) डा० मूर्ति कृत द सेन्ट्रल

म० का० माध्यमिक कारिका, नागार्जुन) फिलासफी आफ

म० का० वृ० माध्यमिक कारिका वृत्ति (प्रसन्नपदा) बुद्धिज्म से उद्धृत

म० शा० मध्यमक शास्त्र, नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति विरचित प्रसन्नपदाख्य व्याख्या सहित, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, १९६० ।

योग० भा०	योगभाष्य, व्यास, अनवादक श्रीब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९७० ।
लघु० सि० कौ०	लघुसिद्धान्त कौमुदी, श्रीवरदराज, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१ ।
वा० वृ०	वाक्य वृत्ति, द्रष्ट० त० सं०
वे० सा०	वेदान्तसार, श्री सदानन्द, रामशरणशास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८ ।
वै० सू०	वैशेषिक सूत्र, महर्षिकणाद, प्रशस्तपादकृत प्र० पा० भा० एवं आचार्य ढुण्ढिराजशास्त्री कृत भाष्य व्याख्या एवं श्रीनारायण मिश्र सूत्र व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, १९६६ ।
वै० सू० उप०	वैशेषिक सूत्र उपस्कार, शङ्करमिश्र, गुजराती मुद्रणालयाधिपति द्वारा प्रकाशित, वि० संवत् १९६९ ।
शा० दी०	शास्त्रदीपिका, पार्थसारथिमिश्र, सोमनाथ कृत मयूखमालिका व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९१३ ।
स० प०	सप्तपदार्थी, शिवादित्य, जिनवर्धनसूरिकृत व्याख्या सहित, भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, १९६३ ।
स० प० व्या०	सप्तपदार्थी व्याख्या, द्रष्ट० स० पं०
स० भ० त०	सप्तभङ्गी तरङ्गिणि, विमलदास, रायचन्द्र ग्रन्थमाला निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, वीर० सं० २४३१ ।
सर्व० द० सं०	सर्वदर्शनसङ्ग्रह, माधवाचार्य, अनुवादक उमाशंकर शर्मा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ।
सा० का०	सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्र कृत तत्वकौमुदी एवं डा० आद्याप्रसाद मिश्र कृत हिन्दी व्याख्या सहित, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९ ।
सा० त० कौ० या तत्व० कौ०	सांख्यतत्व कौमुदी, द्रष्ट० सां० का०
सि० च०	सिद्धान्तचन्द्रोदय, तर्कसंग्रह व्याख्या, बम्बई निर्णय सागर प्रेस ।
T. S.	**Tarka-Samgraha** of Annabhatta with authors on Dipika and Govardhan's Nyāya Bodhini with critical and explanatory notes by Y. V. Athalye and M. R. Bodas, Bombay Sanskrit Series 1963.

अद्वैत वेदान्त में नीति और धर्म

डॉ० श्रीमति तपस्या उपाध्याय

पुस्तक चार अध्यायों में विभक्त है। प्र० अध्याय में नीति एवं धर्म के विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण में पाये जाने वाले अन्तर को स्पष्ट करते हुए अद्वैत वेदान्त में नीति एवं धर्म की सम्भावना पर विचार प्रस्तुत किया गया है। द्वि० अध्याय में नीति एवं धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर विस्तृत विवेचन किया गया है। तृ० अध्याय में धर्माधर्म विषयक शास्त्रीय विधि-निषेधों के विषय में आचार्य शंकर के दृष्टि कोण स्पष्ट किया गया है। अधिकारवाद शीषक च० अध्याय में आचार्य शंकर के जो वेदान्त वाक्यों के श्रवण से उत्पन्न ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् साधन मानते हैं, इसका समीक्षात्मक विवेचन आ० शंकर के दृष्टिकोण से ही किया गया है। पं० अध्याय में धर्म को उसके एक प्रचलित अर्थ 'ईश्वरोपासना' के अर्थ में ग्रहण किया गया है, एवं अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में उपासना-भक्ति के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। पुस्तक अपने विषय में सर्वांग पूर्ण है ५०-००

वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त

आचार्य बलदेव उपाध्याय

इसमें वैष्णव धर्म की महत्ता का प्रतिपादन कर वेद, तन्त्र तथा पुराण में विष्णु के धार्मिक स्वरूप तथा दार्शनिक रूप का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत है। तदनन्तर श्री वैष्णव तथा माध्व सम्प्रदायों का, रामानन्द के द्वारा प्रतिष्ठापित रामानंद सम्प्रदाय का निरूपण किया गया है। उत्तर भारत के समस्त कृष्णाश्रयी, निम्बार्कीय, वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्गीय, राधावल्लभीय तथा चैतंन्य सम्प्रदायों के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का बड़े विस्तार से गम्भीर विवेचन प्रस्तुत है। पुरी के जगन्नाथ सम्प्रदाय और पञ्चसखा धर्म का, असम के एकशरण धर्म का, एवं महाराष्ट्र के बारकरी, महानु-भावी, रामदासी, हरिदासी मतों का विवरण ग्रन्थ के पूर्णता की विशिष्टता पञ्चधाभक्ति, गोपीभाव, राधातत्त्व, रससाधना, लीलाप्रसंग, उपासनातत्व एवं भागवती कृपा जैसे महनीय तथा गम्भीर अन्तरंग उपासना तत्वों का तलस्पर्शी तथा पाण्डित्य-पूर्ण विमर्श किया गया है। इसमें वैष्णवधर्म के मान्य सम्प्रदायों का इतिहास, साहित्य तथा सिद्धान्त की त्रिवेणी प्रवाहित होकर पाठकों की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान कर रही है। ४०-००

अन्य प्राप्तिस्थान— चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, वाराणसी